जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

पंचम पत्र

जैन आगम

---

l[ox&I	%	vkpkjkax dk ifjp;kRed v/;;u
l[ox&II	%	l=Ñrkx dk ifjp;kRed v/;;u
l[ox&III	%	Hkxorh ¼p;fur v[k½
l[ox&IV	%	mÙkjk/;;u izFke v/;;u ,oa n'ko dkfyd
l[ox&V	%	le;lkj

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूँ

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा
लाडनूं

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान,

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण प्रतियां : .....

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग –I	**आचारांग का परिचयात्मक अध्ययन**	**01–64**
	(i) आचारांग का परिचय	
	(ii) आत्मवादः पुनर्जन्मवाद	
	(iii) षडजीव निकाय की अवधारणा	
	(iv) अहिंसा का स्वरूप	
संवर्ग –II	**सूत्रकृतांग का परिचयात्मक अध्ययन**	**65–129**
	(i) आगम का अर्थ, पर्याय एवं परिभाषा	
	(ii) सूत्रकृतांग का आकार एवं प्रकार	
	(iii) प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक	
	(iv) तृतीय एवं चतुर्थ उद्देशक	
संवर्ग –III	**भगवती (चयनित अंश)**	**130–164**
	(i) भगवती का परिचयात्मक अध्ययन	
	(ii) जीव एवं शरीर का सम्बन्ध	
	(iii) आत्म कर्तृत्ववाद एवं पुरुषार्थ	
	(iv) प्रमाणः स्वरूप एवं भेद	
संवर्ग –IV	**उत्तराध्ययन प्रथम अध्ययन एवं दशवैकालिक**	**165–205**
	(i) आगम साहित्य में उत्तराध्ययन	
	(ii) उत्तराध्ययन एक परिचयात्मक अध्ययन	
	(iii) गुरु शिष्य सम्बन्ध, अनुशासन	
	(iv) दशवैकालिए : विस्तृत अध्ययन	
संवर्ग –V	**समयसार**	**206–235**
	(i) समयसार : मूलपाठ	
	(ii) शुद्ध नय एवं सम्यक्त्व का स्वरूप	
	(iii) नय स्वरूप एवं भेद	
	(iv) जीव–अजीव अधिकार	

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–1 : आचारांग का परिचयात्मक अध्ययन

संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 आचारांग का परिचय

1.2.1 मुख्य विभाग

1.2.2 अवान्तर विभाग

1.2.3 पद परिमाण और वर्तमान आकार

1.2.4 आचारांग की विषयवस्तु

1.2.5 रचनाकार और रचनाकाल

1.2.6 रचना शैली

1.2.7 व्याख्या ग्रंथ

1.2.8 आचारांग का महत्त्व

1.2.9 आचारांग की प्रासंगिकता

1.3 आत्मवाद : पुनर्जन्मवाद

1.3.1 आत्मा का लक्षण

1.3.2 आत्मा का स्वरूप

1.3.3 आत्मा ज्ञान और ज्ञाता दोनों है

1.3.4 आत्मदर्शन का परिणाम

1.3.5 पुनर्जन्म

1.3.6 पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में पुनर्जन्म

1.3.7 पुनर्जन्म मनोविज्ञान व विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

1.4 आश्रव–संवर

1.4.1 संवर

1.5 षड्जीव निकाय की अवधारणा

1.5.1 पृथ्वीकाय

1.5.2 अप्काय या जलकाय

1.5.3 तेजस्काय या अग्निकाय

1.5.4 वनस्पतिकाय

1.5.5 त्रसकाय

समीक्षा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6 अहिंसा का स्वरूप

1.6.1 अहिंसा क्या?

1.6.2 अहिंसा का मूल

1.6.3 अहिंसा के उपदेष्टा

1.6.4 अहिंसा का मर्मज्ञ व आदेश

1.6.5 अहिंसा का अधिकारी कौन

1.6.6 अहिंसा का ज्ञान सबका ज्ञान

1.6.7 अहिंसा के बाधक तत्त्व

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम है। समवायांग में आगम के दो रूप प्राप्त होते हैं- (1) द्वादशांग गणिपिटक और (2) चतुर्दश पूर्व। नन्दी में श्रुत-ज्ञान (आगम) के दो विभाग मिलते हैं- (1) अंग-प्रविष्ट और (2) अंग-बाह्य। आगम-साहित्य में साधु-साध्वियों के अध्ययन-विषयक जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे सब अंगों और पूर्वों से संबंधित हैं।

समावायांग और अनुयोगद्वार में अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य का विभाग नहीं है। सर्व-प्रथम यह विभाग नन्दी में मिलता है। नन्दी की रचना तक आगम के तीन वर्गीकरण हो जाते हैं-
(1) पूर्व, (2) अंग-प्रविष्ट और (3) अंग-बाह्य। आज 'अंग-प्रविष्ट' और 'अंग-बाह्य' उपलब्ध होते हैं, किन्तु पूर्व उपलब्ध नहीं हैं। उनकी अनुपलब्धि ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्शनीय है। अंग-बाह्य की रचना अर्वाचीन स्थविरों ने की है। नन्दी की रचना से पूर्व अनेक अंग-बाह्य ग्रन्थ रचे जा चुके थे और वे चतुर्दशपूर्वी या दशपूर्वी स्थविरों द्वारा रचे गए थे। इसलिए उन्हें आगम की कोटि में रखा गया। उसके फलस्वरूप आगम के दो विभाग किये गए-(1) अंग-प्रविष्ट और (2) अंग-बाह्य। यह विभाग अनुयोगद्वार (वीर-निर्वाण दसवीं शताब्दी) में हुआ है।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में गौतम आदि गणधरों ने पूर्वों और अंगों की रचना की, यह सर्व-विश्रुत है। उस समय अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य ऐसा वर्गीकरण हुआ, यह प्रमाणित करने के लिए कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् अर्वाचीन आचार्यों ने ग्रन्थ रचे, तब संभव है उन्हें आगम की कोटि में रखने या न रखने की चर्चा चली और उनके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न भी उठा। चर्चा के बाद चतुर्दश-पूर्वी और दस-पूर्वी स्थविरों द्वारा रचित ग्रंथों को आगम की कोटि में रखने का निर्णय हुआ किन्तु उन्हें स्वत: प्रमाण नहीं माना गया। उनका प्रामाण्य परत: था। वे द्वादशांगी से अविरुद्ध हैं, इस कसौटी से कसकर उन्हें आगम की संज्ञा दी गई। उनका परत: प्रामाण्य था, इसीलिए उन्हें अंग-प्रविष्ट की कोटि से भिन्न रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस स्थिति के संदर्भ में आगम की अंग-बाह्य कोटि का उद्भव हुआ।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के भेद-निरूपण में तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं-

1. जो गणधर-कृत होता है,
2. जो गणधर द्वारा प्रश्न किये जाने पर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है,
3. जो ध्रुव-शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित होता है,सुदीर्घकालीन होता है,वही श्रुत अंग-प्रविष्ट होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके विपरीत (1) जो स्थविर-कृत होता है, (2) जो प्रश्न पूछे बिना तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है, (3) जो चल होता है, तात्कालिक या सामयिक होता है, उस श्रुत का नाम अंग-बाह्य है।

अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य में भेद करने का मुख्य हेतु वक्ता का भेद है। जिस आगम के वक्ता भगवान् महावीर हैं और जिसके संकलयिता गणधर हैं, वह श्रुत-पुरुष के मूल अंगों के रूप में स्वीकृत होता है, इसलिए उसे अंग-प्रविष्ट कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार वक्ता तीन प्रकार के होते हैं-1. तीर्थंकर, 2. श्रुत-केवली (चतुर्दश-पूर्वी) और 3. आरातीय। आरातीय आचार्यों के द्वारा रचित आगम ही अंग-बाह्य माने गए हैं। आचार्य अकलंक के शब्दों में आरातीय आचार्य-कृत आगम अंग-प्रतिपादित अर्थ से प्रतिबिम्बित होते हैं इसीलिए वे अंग-बाह्य कहलाते हैं। अंग-बाह्य आगम श्रुत-पुरुष के प्रत्यंग या उपांग स्थानीय हैं।

द्वादशांगी में संगर्भित बारह आगमों को अंग कहा गया है-जैनागम बारह अंगों में विभक्त है- 1. आचार, 2. सूत्रकृत, 3. स्थान, 4. समवाय, 5. भगवती, 6. ज्ञाताधर्मकथा, 7. उपासकदशा, 8. अन्तकृद्दशा, 9. अनुत्तरोपपातिक, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाक और 12. दृष्टिवाद।

जैन-परम्परा में श्रुत-पुरुष की कल्पना भी प्राप्त होती है। आचार आदि बारह आगम श्रुत-पुरुष के अंगस्थानीय हैं। संभवत: इसीलिए उन्हें बारह अंग कहा गया। इस प्रकार द्वादशांग गणिपिटक और श्रुत-पुरुष दोनों का विशेषण बनता है।

1.1 उद्देश्य

जैन धर्म दर्शन के मूल स्रोत ग्रंथों में आगमों की गणना होती है। आचारांगादि ग्रंथ श्वेताम्बर परम्परा के मूल आगम हैं तथा षट्खण्डागमादि दिगम्बर परम्परा के। आचारांग नौ अध्ययनों में विभक्त है जिसका प्रथम अध्ययन है शस्त्र-परिज्ञा। प्रथम व्रत अहिंसा है जिसका जैन आगमों में विशिष्ट स्थान है। अहिंसा का सम्यक् परिपालन कैसे हो, इसके लिए शस्त्र-परिज्ञा का ज्ञान आवश्यक है। इन तथ्यों का विस्तृत अध्ययन हम प्रस्तुत पाठ में करेंगे।

1.2 आचारांग का परिचय

द्वादशांगी में आचारांग का पहला स्थान है। इस विषय में दो विचारधाराएँ प्राप्त होती हैं। एक धारा के अनुसार आचारांग पहला अंग स्थापनाक्रम की दृष्टि से है, रचना-क्रम की दृष्टि से वह बारहवां अंग है। दूसरी धारा के अनुसार रचना-क्रम और स्थापना-क्रम-दोनों दृष्टियों से आचारांग पहला अंग है। आचार्य मलयगिरि तथा अभयदेवसूरि दोनो ंने ही उक्त दोनों विचारधाराओं का उल्लेख किया है। ये धाराएँ उनसे पहले ही प्रचलित थीं। अंग पूर्वों से निर्यूढ हैं, इस अभिमत के आलोक में देखा जाए तो यही धारा संगत लगती है कि आचारांग स्थापना-क्रम की दृष्टि से पहला अंग है, किन्तु रचना-क्रम की दृष्टि से नहीं। निर्युक्तिकार ने 'आचार' को प्रथम अंग माना है। उनके अनुसार तीर्थंकर सर्वप्रथम 'आचार' का और फिर क्रमश: शेष अंगों का प्रतिपादन करते हैं।गणधर भी उसी क्रम से अंगों की रचना करते हैं। निर्युक्तिकार ने आचारांग की प्रथमता का कारण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है-आचारांग में मोक्ष के उपाय (चरण-करण या आचार) का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है। इसलिए द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है।

इससे प्रतीत होता है कि निर्युक्तिकार इस धारा के समर्थक रहे हैं कि रचना की दृष्टि से आचारांग का प्रथम स्थान है। किन्तु ग्यारह अंगों को पूर्वों से निर्यूढ माना जाए, उस स्थिति में निर्युक्ति-सम्मत धारा की संगति नहीं बैठती। संभव है, निर्युक्तिकार ने अंगों के निर्यूहण की प्रक्रिया का यह क्रम मान्य किया हो कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सर्वप्रथम आचारांग का निर्यूहण और स्थापन होता है तथा तत्पश्चात् सूत्रकृत आदि अंगों का।इस संभावना को स्वीकार कर लेने पर दोनों धाराओं की बाह्य दूरी रहने पर भी आंतरिक दूरी समाप्त होजाती है।

श्रुतस्कंध

समवायांग में आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध बतलाये गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि समवायांग में प्राप्त द्वादशांगी का विवरण भी आयार-चूला की रचना का उत्तरवर्ती है। प्रारम्भ में आचारांग के दो स्कन्ध नहीं थे। आचार्य भद्रबाहु ने आयार-चूला की रचना की, उसके पश्चात् दो स्कन्धों की व्यवस्था की गई। मूलभूत प्रथम अंग का नाम आचारांग अथवा 'ब्रह्मचर्याध्ययन' है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दो नाम हैं-आयारग्ग (आचाराग्र) और आयार-चूला (आचार-चूला)।

इनमें नाम-भेद और क्रम-भेद दोनों हैं। पांचवें अध्ययन का मूल नाम 'लोगसार' ही है। आवंती नाम आदि-पद के कारण हुआ है। अनुयोगद्वार में यह उदाहरण रूप में उल्लिखित है। निर्युक्तिकार ने भी आवंती को आदान-पद नाम और लोकसार को गौण नाम माना है।

इन परम्पराओं से इतना ही सारांश प्राप्त किया जा सकता है कि आचारांग निर्माण-काल में जितना था, उतना आज नहीं है तथा वह सर्वथा विच्छिन्न भी नहीं है। उसका कुछ विच्छेद आचारांगधर आचार्यों के अभाव में हुआ है तथा कुछ विच्छेद विस्मृतिवश व प्रतियों के प्रामाणिक संस्करणों के नष्ट होने से भी हुआ है। इतना सुनिश्चित है कि शीलांकसूरि (वि. 8वीं शती) को आचारांग का जो अंश प्राप्त था, उसका विच्छेद नहीं हुआ है।

अंग शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन की तीनों प्रमुख धाराओं में हुआ है। वैदिक और बौद्ध साहित्य में मुख्य ग्रन्थ वेद और पिटक हैं। उनके साथ अंग शब्द का योग नहीं है। जैन साहित्य में मुख्य ग्रन्थों का वर्गीकरण गणिपिटक है। उसके साथ 'अंग' शब्द का योग हुआ है। गणिपिटक के बारह अंग हैं— 'दुवालसंगे गणिपिडगे।' जैन परम्परा में श्रुत-पुरुष की कल्पना भी प्राप्त होती है। आचार आदि बारह आगम श्रुत-पुरुष अंगस्थानीय हैं संभवत: इसीलिए इन्हें बारह अंग कहा गया है।

'आचार' का अर्थ

जैन परम्परा में 'आचार' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है। आचारांग की व्याख्या के प्रसंग में आचार के पांच प्रकार बतलाये गए हैं-(1) ज्ञानाचार, (2) दर्शनाचार, (3) चरित्राचार, (4) तपाचार और (5) वीर्याचार। प्रस्तुत आगम में इन पांचों आचारों का निरूपण है।

आत्मजिज्ञासा से प्रारम्भ होने वाला यह ग्रन्थ जैनदर्शन का मूल सूत्र है। आत्मा है, वह नित्यानित्य है, वह कर्त्ता और भोक्ता है। बंध है और उसके हेतु हैं। मोक्ष है और उसके हेतु हैं। ये सब आचार-शास्त्र के आधारभूत तत्त्व हैं जिनका निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यापक दृष्टि से हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार की मौलिक परिभाषा करते हुए 'रागद्वेष रहित कर्म को आचार कहा है।'

प्राकृत में इसे 'आयारो' कहा गया है। आयार या आचार शब्द के कई अर्थ मिलते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में मर्यादापूर्वक आचरण को आचार कहा है। पाइयसद्दमहण्णवो में आचार का अर्थ अनुष्ठान-आचरण, चाल-चलन, रीति-भांत बारह ग्रन्थों में पहला ग्रन्थ और निपुण शिष्य किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचारांग को 'भगवान्' और 'वेद' कहा है। निर्युक्ति में इसे 'नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक' कहा गया है। इसके दस पर्यायवाची नाम बतलाएं हैं—

1. **आयार**—यह आचरणीय का प्रतिपादक है।
2. **आचाल**—यह निविड बंधन को आचलित करता है।
3. **आगाल**—यह चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है।
4. **आगार**—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों का उत्पादक है।
5. **आसास**—यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन देने में सक्षम है।
6. **आयरिस**—इसमें 'इति-कर्त्तव्यता' देखी जा सकती है।
7. **अंग**—यह अन्तस्तल में स्थित अहिंसा आदि को व्यक्त करता है।
8. **आईण्ण**—इसमें आचीर्ण धर्म का भी प्रतिपादन है।
9. **आजाइ**—इससे ज्ञानादि आचारों की प्रसूति होती है।
10. **आमोक्ख**—यह बन्धन मुक्ति का साधन है।

समवायांग में आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध बतलाए गए हैं। प्रारम्भ में आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध नहीं थे। आचार्य भद्रबाहु ने आयार चूला की रचना की, उसके पश्चात् दो स्कन्धों की व्यवस्था की गई। मूलभूत प्रथम अंग का नाम आचारांग अथवा 'ब्रह्मचर्याध्ययन' है। समवायांग में इसके अध्ययनों को 'नवब्रह्मचर्य' कहा गया है। भाष्यकार ने आचारांग को ब्रह्मचर्य का प्रतिपादक माना है, जिसका अर्थ है—आत्मविद्या।

1.2.1 मुख्य विभाग

आचारांग के नौ अध्ययन हैं। समवायांग और आचारांग निर्युक्ति में इन अध्ययनों के जो नाम प्राप्त होते हैं, उनमें थोड़ा भेद हैं—

समवायांग	आचारांग निर्युक्ति
1. सत्थपरिण्णा	1. सत्थ परिण्णा
2. लोक विजय	2. लोकविजय
3. सीओसणिज्ज	3. सीओसणिज्ज
4. सम्मत्त	4. सम्मत्त
5. आवंती	5. लोकसार
6. द्युत	6. धुय
7. विमोहायण	7. महापरिण्णा
8. उवहाणसुय	8. विमोक्ख
9. महपरिण्णा	9. उवहाणसुय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस विभाग में नाम भेद और क्रम भेद दोनों हैं। पांचवें अध्ययन का मूल नाम 'लोकसार' ही है। आवंती नाम आदि पद के कारण ही हुआ है। निर्युक्ति में आवंती को आदान-पद नाम और लोकसार को गौण नाम माना है।

1.2.2 अवान्तर विभाग

प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययनों के 51 उद्देशकों का उल्लेख हैं किन्तु सातवां अध्ययन लुप्त होने से उसके सात उद्देशक भी अनुपलब्ध हैं। वर्तमान में इसके आठ अध्ययन व 43 उद्देशक प्राप्त हैं। आचारांग के अध्ययन व उद्देशक इस प्रकार हैं—

अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन	उद्देशक
1	7	6	5
2	6	7	7
3	4	8	8
4	4	9	4
5	6		

1.2.3 पद परिमाण और वर्तमान आकार

आचारांग निर्युक्ति के अनुसार आचारांग की पद संख्या अट्ठारह हजार हैं। समवायांग और नंदी में आचारांग के दो श्रुत-स्कन्धों का उल्लेख कर फिर अट्ठारह हजार पदों की संख्या बतलाई गई है। किन्तु यह पद संख्या नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों की है। निर्युक्तिकार ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। 'णवबंभचेरमइओ, अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।' अभयदेवसूरि ने समवायांग वृत्ति में इसका विश्लेषण करते हुए कहा है—'दो श्रुत स्कन्ध हैं, यह आचार चूला सहित आचार का प्रतिपादन है। उसके अट्ठारह हजार पद हैं।' यह पद परिमाण केवल नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचार का है। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग में अट्ठारह हजार पद प्राप्त नहीं है। रचनाकाल में आचारांग का पद परिमाण इतना था, किन्तु कालक्रम से इसके ग्रन्थ-भाग का विच्छेद हो गया। इसलिए वर्तमान में पद परिमाण भी कम हो गया। उसका कुछ विच्छेद आचारांगधर आचार्यों के अभाव में हुआ तथा कुछ विच्छेद विस्मृतिवश व प्रतियों के प्रामाणिक संस्करणों के नष्ट होने से भी हुआ। इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचारांग निर्माण-काल में जितना था, आज उतना नहीं है तथा वह सर्वथा विच्छिन्न भी नहीं है।

1.2.4 आचारांग की विषयवस्तु

समवायांग और नन्दी में आचारांग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र आचार, गोचर, विनय, वैनयिक (विनय-फल), स्थान (उत्थितासन, निषण्णासन और शयितासन), गमन, चक्रमण, भोजन आदि की मात्रा, स्वाध्याय आदि में योग-नियुंजन, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम-उत्थान, एषणा आदि की विशुद्धि, शुद्धाशुद्ध-ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि का प्रतिपादन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार्य उमास्वाति ने आचारांग के प्रत्येक अध्ययन का विषय संक्षेप में प्रतिपादित किया है। वह क्रमशः इस प्रकार है-

1. षड्जीवकाय यतना,
2. लौकिक संतान का गौरव-त्याग,
3. शीत-ऊष्ण आदि परीषहों पर विजय,
4. अप्रकम्पनीय-सम्यक्त्व,
5. संसार के उद्वेग,
6. कर्मों को क्षीण करने का उपाय,
7. वैयावृत्य का उद्योग,
8. तपस्या की विधि,
9. स्त्री-संग-त्याग।

निर्युक्तिकार ने नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों के विषय इस प्रकार बतलाए हैं-

1. सत्थपरिण्णा-जीव संयम।
2. लोगविजय-बंध और मुक्ति का प्रबोध।
3. सीओसणिज्ज-सुख-दुःख-तितिक्षा।
4. सम्मत्त-सम्यक्-दृष्टिकोण।
5. लोगसार-असार का परित्याग और लोक में सारभूत रत्नत्रयी की आराधना।
6. धुय-अनासक्ति।
7. महापरिण्णा-मोह से उत्पन्न परीषहों और उपसर्गों का सम्यक् सहन।
8. विमोक्ख-निर्याण (अंतक्रिया) की सम्यक्-साधना।
9. उवहाणसुय-भगवान् महावीर द्वारा आचरित आचार का प्रतिपादन।

आचार्य अकलंक के अनुसार आचारांग का समग्र विषय चर्या-विधान तथा अपराजित सूरि के अनुसार रत्नत्रयी के आचरण का प्रतिपादन है। आचारांग के विमर्शनीय तत्त्व है-

1. आत्मा है।
2. पुद्गल है।
3. उन दोनों का संयोग अनादि है।
4. पुद्गल-संयुक्त आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्मधर्मा) है।
5. वह अनुसंचरण करती है।
6. अनुसंचरण का हेतु है।
7. योनि के अनेक रूप हैं।
8. दुःख है।
9. दुःख का हेतु है।
10. दुःख का निरोध है।
11. निरोध का मार्ग है।
12. आत्मा का नानात्व है।

आत्माएँ अनन्त हैं। उन सबका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है तात्पर्य की भाषा में सबका अस्तित्व स्वतंत्र है। वे किसी एक ईश्वर की अंशभूत नहीं हैं और किसी ब्रह्म की प्रपंचभूत नहीं हैं। 'सुख और दुःख व्यक्ति का अपना अपना होता है'-बार-बार यह घोष आत्मा की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता है।

'जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है'-इस सूत्र में आत्मा का एकत्व इष्ट है और 'जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है'-इस सूत्र में भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक ही तत्त्व अभिप्रेत है। यह सारा विस्तार उसी का है, तब आत्मा का नानात्व कैसे वास्तविक हो सकता है? एकता और नानात्व का विरोध कैसे मिटाया जा सकता है?

हम नय-पद्धति के द्वारा विरोध का परिहार कर सकते हैं। इस प्रसंग में संग्रह और व्यवहार-इन दो नयों का प्रयोग करना चाहिए। पदार्थों में सामान्य धर्म हैं। उनकी अपेक्षा से संग्रहनय की प्रवृत्ति होती है। पदार्थों में विशेष धर्म हैं। उनकी अपेक्षा से व्यवहारनय की प्रवृत्ति होती है।

प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य धर्मों की अपेक्षा से उसकी एकता अभिप्रेत है। यह संग्रहनय का विषय है। विशेष धर्मों की अपेक्षा से उसका नानात्व भी इष्ट है। यह व्यवहारनय का विषय है। एकत्व और नानात्व में सर्वथा विरोध नहीं है। यहां विरोध और अविरोध-दोनों सापेक्ष हैं। निरपेक्ष है पदार्थ का अस्तित्व। उसमें एकत्व या नानात्व कुछ भी नहीं होता। एकत्व और नानात्व संख्या पर आश्रित धर्म है। यह सापेक्ष ही होता है। जहां अभेदवृत्ति या अभेदोपचार होता है, वहां एकत्व धर्मप्रधान हो जाता है और नानात्व धर्म गौण। जहां भेदवृत्ति होती है, वहां नानात्व धर्म
प्रधान हो जाता है और एकत्व धर्म गौण। इन प्रधान और गौण भावों की विवक्षा से भेद को प्राप्त पदार्थ का भी कहीं-कभी एकत्व प्रतिपादित होता है और अभेद को प्राप्त पदार्थ का भी कहीं-कभी नानात्व प्रतिपादित होता है। इस प्रकार एकत्व और नानात्व में अपरिहार्य विरोध नहीं है, किन्तु यह सापेक्ष विरोध है।

संसारी आत्मा प्राण-भूत-जीव और सत्त्व-इन पदों से अभिहित होती है। समभिरूढ़ नय की दृष्टि से इनमें भिन्नता होने पर भी द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है, इसीलिए कहा गया है-'न कोई आत्मा हीन है और न कोई आत्मा अतिरिक्त।'

आत्मा का अस्तित्व स्वतंत्र है, इसीलिए उसका अपना कर्तृत्व है। वह ईश्वर से प्रेरित होकर प्रवृत्त और निवृत्त नहीं होती, किन्तु अपने संकल्प से ही प्रवृत्त और निवृत्त होती है। इसीलिए भगवान् ने कहा-'परम चक्षुष्मान् पुरुष! तू पराक्रम कर।'

पराक्रम की सार्थकता तभी होती है, जब बन्ध और मोक्ष की शक्ति अपने में निहित हो। सूत्रकार ने इस प्रश्न का समाधान किया है-बंध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही हैं। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई पदार्थ बद्ध या मुक्त होता है, जैसे सांख्य दर्शन में प्रकृति, तब आत्मा या कर्तृत्व नहीं रहता। आचारांग का हृदय यह है-संसारी आत्मा असंग नहीं है, इसीलिए वह कर्मों से निरंतर बद्ध होती है। वह कर्मों से बद्ध होती है, इसीलिए कर्म-शरीर उसका सहवर्ती होता है। वह कर्म-शरीर के साथ संयुक्त होकर नए-नए स्थूल शरीर अथवा औदारिक आदि शरीरों का निर्माण करती है। वही आत्मा समत्व की अनुभूति से कर्म-शरीर का वियोजन कर मुक्त हो जाती है। जैसे कहा है-'वह लेपयुक्त नहीं है, वह शरीरधारी नहीं है, वह जन्म-धर्मा नहीं है'-यह सब मुक्त आत्मा को लक्षित कर प्रतिपादित किया गया है। संसारी आत्मा शरीरवान् भी है, जन्म-धर्मा भी है और लेपयुक्त भी है।

आत्मा चेतन है और पुद्गल अचेतन। आत्मा अमूर्त्त है और पुद्गल रूप-रस-गन्ध और स्पर्श से युक्त होने के कारण मूर्त्त। पुद्गल का अस्तित्व व्यावहारिक नहीं है। जैसे आत्मा का अस्तित्व पारमार्थिक है, वैसे ही पुद्गल का अस्तित्व भी पारमार्थिक है। इन दोनों (आत्मा और पुद्गल) में विषय-विषयी या ज्ञातृ-ज्ञेय संबंध द्रव्यात्मक नहीं, पर्यायात्मक है। हम पुद्गल को जानते हैं तब भी उसका अस्तित्व है और नहीं जानते हैं तब भी उसका अस्तित्व है। अस्तित्व स्वभाव-सापेक्ष है, ज्ञान-सापेक्ष नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चेतन और अचेतन-दोनों विरोधी धर्म वाले हैं। इस अवस्था में उन दोनों का अस्तित्व कैसे हो सकता है? इस प्रश्न पर हमारा वक्तव्य यह है-पदार्थ परस्पर न तो सर्वथा विरोधी हैं और न सर्वथा अविरोधी। उनका विरोध और अविरोध सापेक्ष ही है। 'अस्तित्व' यह सब पदार्थों का समान धर्म है। इसकी अपेक्षा से चेतन और अचेतन में कोई विरोध नहीं है। 'चैतन्य' आत्मा में ही होता है, यह उसका विशिष्ट गुण है। रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल में ही होते हैं, इसलिए ये उसके विशिष्ट गुण हैं। जैसे विशेष धर्म की अपेक्षा से विरोध का उद्भावन किया जा सकता है, वैसे ही सामान्य गुण की अपेक्षा से अविरोध का भी उद्भावन किया जा सकता है। इस प्रकार भेदाभेद स्वभाव वाली वस्तु में अध्यास (भ्रान्त प्रतीति) की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

जीव और शरीर अथवा जीव और पुद्गल में कथंचिद् अभेद स्वीकार करना ही होगा। यह अभेद अध्यास से भिन्न है। अध्यास को स्वीकृत करने पर हमें पुद्गल का अस्तित्व सर्वथा अस्वीकार करना होगा। 'अध्यास' के स्थान पर यदि हम 'व्यवहार' को स्वीकार करें तो 'निश्चय' और 'व्यवहार' का भेद-प्रतिपादन अपेक्षित होता है। निश्चयनय के अनुसार जीव और शरीर में अभेद नहीं है। व्यवहारनय के अनुसार जीव और शरीर में अभेद है ही। हमें भेद और अभेद का स्वरूप भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए। इस प्रसंग में सांख्य दर्शन में प्रतिपादित ब्रह्म की सत्यता और जगत की सर्वथा अयथार्थता भी विवेचनीय है। निश्चय और व्यवहार में सर्वथा भेद नहीं है। दोनों सापेक्ष हैं। निश्चयनय की दृष्टि से जीव और शरीर में ऐकान्तिक अभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से जीव और शरीर में ऐकान्तिक भेद भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अध्यास और व्यवहार के भेद-निरूपण में इस अनेकान्त पद्धति का ही आश्रय लेना अपेक्षित है।

यदि एकमात्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाए तो अचेतन का अस्तित्व, जो प्रत्यक्ष-दृष्ट और हेतु-सिद्ध है, का निवारण कैसे किया जा सकता है? ये पौद्गलिक पदार्थ मानसिक-प्रत्यय से उत्पन्न हों तो आत्मा भी मानसिक-प्रत्यय से उत्पन्न नहीं हैं, यह कौन-कैसे कह सकता है? विषय के अनस्तित्व में विषयी के अस्तित्व का समर्थन कैसे किया जा सकता है? 'ये पदार्थ हैं'-यह ज्ञान यदि यथार्थ नहीं है तो 'मैं हूँ'-इस ज्ञान की सत्यता का साक्ष्य क्या है? अचेतन तत्त्व चेतन तत्त्व की सृष्टि है, इस स्वीकृति को निरस्त करने के लिए कौन-सा तर्क है? इसलिए चेतन और अचेतन-दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है। यह जगत न केवल चेतन तत्त्वमय है और न केवल अचेतन तत्त्वमय। न चेतन से अचेतन उत्पन्न हुआ है और न अचेतन से चेतन। जैसा कि स्थानांग में कहा गया है-न ऐसा कभी हुआ है, न ऐसा हो रहा है और न ऐसा कभी होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए। यह एक लोकस्थिति है।

पुद्गल का अस्तित्व स्वतंत्र है। आत्मा के साथ उसका योग है, इसीलिए आत्मा संगयुक्त-लेपयुक्त होती है। यदि पुद्गल का स्वतंत्र अस्तित्व न हो तो संग की कल्पना भी दुर्लभ हो जाती है। मकड़ी अपने द्वारा निर्मित जाल में फंस जाती है, उसका हेतु है-अज्ञान। किन्तु आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वथा असंग या निर्लेप है, फिर वह संगवान् या लेपयुक्त होती है, यह हेतुगम्य नहीं है। यदि यह प्रश्न है तो फिर 'आत्मा बद्ध है'-यह आचारांग में कैसे सम्मत हुआ? इस विषय में हमारा वक्तव्य यह है-जैन दर्शन के अनुसार कोई भी आत्मा प्रारंभ से मुक्त या असंग नहीं है। असंग संगवान् होता है, यह सम्मत नहीं है। किन्तु संगवान् ही विशेष प्रयोग के द्वारा संगमुक्त होता है। यदि संग अनादिकालीन है तो उसका वियोग कैसे संभव है? यह सत्य है। आत्मा और पुद्गल का संबंध प्रवाह की दृष्टि से अनादिकालीन है। इसलिए प्रवाह का निरोध होने पर उसका भी निरोध हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बंध के हेतु का अज्ञान अपरिज्ञा है और उसका ज्ञान परिज्ञा है। बंध के निरोध के लिए प्रयत्न करना परिज्ञा है और उसके लिए प्रयत्न न करना अपरिज्ञा है। परिज्ञा के द्वारा बंध के स्वरूप का अवधारण और उसके प्रवाह का निरोध होता है। उसके लिए ही आचारांग की प्रवृत्ति है।

आचारांग में बद्ध और मुक्त-दोनों प्रकार की आत्माओं का निरूपण है। जो आत्मा जन्म-मरण के चक्र का अतिक्रमण करती है, वह मुक्त हो जाती है। 'सब स्वर लौट आते हैं'-इस सूत्र से प्रारंभ कर 'वह न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है'-यहां तक मुक्त आत्माओं का निरूपण है। 'अपने प्रमाद के द्वारा अनेक रूपों वाली योनियों में जन्म लेना, विभिन्न स्पर्शों (कष्टों) का प्रतिसंवेदन करना और जन्म-मरण का अनुपरिवर्तन करना'-यह बद्ध आत्माओं का निरूपण है।

संसारी जीव कर्मों से बंधे हुए होते हैं, इसीलिए वे कर्म करते हैं और उनके फल का अनुभव करते हैं।

आत्मा और कर्म का अनादिकालीन योग जन्म-मरण का चक्र है। यह निश्चयनय की दृष्टि से अनात्मिक है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो-जो अनात्मिक होता है, वह अध्यात्म चक्षु से देखने वाले के लिए दु:ख होता है। प्रस्तुत आगम में दु:ख हेय और सुख उपादेय है-यह निरूपित है। यह आचारशास्त्र का प्रधान विषय है। इसमें ज्ञेय का निरूपण प्रासंगिक है। दु:ख का चक्र इस प्रकार है-

जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है।
जो मानदर्शी है, वह मायादर्शी है।
जो मायादर्शी है, वह लोभदर्शी है।
जो लोभदर्शी है, वह प्रेयदर्शी है।
जो प्रेयदर्शी है, वह द्वेषदर्शी है।
जो द्वेषदर्शी है, वह मोहदर्शी है।
जो मोहदर्शी है, वह गर्भदर्शी है।
जो गर्भदर्शी है, वह जन्मदर्शी है।
जो जन्मदर्शी है, वह मृत्युदर्शी है।
जो मृत्युदर्शी है, वह नरकदर्शी है।
जो नरकदर्शी है, वह तिर्यंचदर्शी है।
जो तिर्यंचदर्शी है, वह दु:खदर्शी है।

इसकी हेयता का प्रतिपादन इस प्रकार है-'मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यंच और दु:ख को छिन्न करे।''

दु:ख का मूल कषाय है। कषाय के बीज का उन्मूलन होने पर दु:ख स्वयं उन्मूलित हो जाता है। इसलिए क्रोध से प्रारंभ कर मोह तक के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। कषाय के कृश होने पर समता प्रादुर्भूत होती है। वह समता ही आचारांग का हृदय है। दूसरे सारे आचार के तत्त्व इसी का आश्रय लेकर प्राणवान् बनते हैं।

समता के दो प्रकार

समता दो प्रकार की है-स्वनिश्रित और परनिश्रित। राग और द्वेष के उपशमन के द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में संतुलित अनुभूति करना स्वनिश्रित समता है। सब प्राणी सुख के इच्छुक और दु:ख के विरोधी हैं, इसलिए कोई भी वध के योग्य नहीं है, यह आत्मतुला परनिश्रित समता है। स्वनिश्रित समता की सिद्धि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए भगवान् ने कषाय के उपशमन का उपदेश दिया। परनिश्रित समता की सिद्धि के लिए प्राणातिपात आदि से विरमण का निर्देश किया। समता के इन दोनों प्रकारों को भली-भांति जान लेने पर पूर्ण आचारांग भली-भांति ज्ञात हो जाता है।

कर्म-परिज्ञा

हिंसा का मूल है-कर्म। इसलिए पहले उसी का विवेचन किया जा रहा है। कर्म के दो अर्थ हैं-1. प्रवृत्ति, 2. प्रवृत्तिजनित कर्म प्रायोग्य पुद्गलों का संश्लेषण।

'पाप कर्म अकरणीय है'-इससे स्पष्ट होता है कि प्रवृत्यात्मक कर्म दो प्रकार का होता है-पुण्य और पाप। पुण्य कर्म का अर्थ है-निरवद्य प्रवृत्ति। वह आचरण के योग्य है। पाप कर्म का अर्थ है-सावद्य प्रवृत्ति। वह अनाचरणीय है। पुण्य कर्म क्या है और पाप कर्म क्या है? इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा का निरूपण किया है। सम्यक्त्व, विवेक और परिज्ञा-ये एकार्थक हैं। 'परिज्ञा' पद का अर्थ है-विवेकपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति। जीव और अजीव (चेतन और जड़) के भेदज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति परिज्ञा है। सभी प्रवृत्तियां और निवृत्तियां परिज्ञा के द्वारा नियंत्रित होती हैं। आचार के उपनिषद् में सत् की प्रवृत्ति और असत् से निवृत्ति को अधिकृत कर स्थान-स्थान पर परिज्ञा का उपदेश दिया गया है। समारम्भ या हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति के समारम्भ-परिज्ञा नहीं होती। समारम्भ या हिंसा में प्रवृत्ति न करने वाले व्यक्ति के समारम्भ-परिज्ञा परिपक्व होती है। मन, वचन या शरीर से हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति के परिज्ञा का उदय नहीं होता। त्रिविध हिंसा में प्रवृत्ति न करने वाले के पूर्ण परिज्ञा का उदय होता है, यह इसका तात्पर्य है।

अपरिज्ञा सत्-असत् के विवेक से शून्य अविद्या है। कर्म की परिज्ञा नहीं करने वाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र का अनुपरिवर्तन करता है। परिज्ञातकर्म उसका विच्छेद करता है। परिज्ञा से प्रवृत्ति करने वाला हिंसा से लिप्त नहीं होता। 'वह सब ओर से समग्र परिज्ञा (विवेक) के द्वारा चलता है।' 'वीर पुरुष हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता।' इससे स्पष्ट होता है कि जहां व्यक्ति परिज्ञा से प्रवृत्ति करता है, वह कर्म पुण्य है और जहां अपरिज्ञा से प्रवृत्ति करता है, वह कर्म पाप है।

पुद्गलों का संश्लेषणात्मक कर्म भी आचारांग में सम्मत है। कर्म से उपाधि होती है। यहां 'कर्म' पद का प्रयोग पौद्गलिक कर्म से सम्बन्ध रखता है।

इसके प्रतिपक्ष में 'कर्ममुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता-नाम और गौत्र का व्यपदेश नहीं होता'-ऐसा निर्देश किया गया है। इस जीव ने अपरिज्ञा या प्रमाद के द्वारा बहुत पाप कर्म किए हैं। हिंसा आदि पाप कर्मों से कर्मों का बन्ध होता है, यह जानकर परिज्ञा के द्वारा उनसे निवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार कर्म को पूर्ण रूप से जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता। वह इन्द्रियों का संयम करता है,उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता। असंयम से उपरत मेधावी पुरुष सब पाप कर्मों का क्षय कर देता है।

सुख-दुःख का विवेक

सब प्राणियों को जीवन और सुख प्रिय है, वध और दुःख अप्रिय है। यह स्वाभाविक मनोवृत्ति का निरूपण है। सुख-दुःख का यह मनोवैज्ञानिक पक्ष है। यह भी अहिंसा का व्यावहारिक
आधार है। इसीलिए बार-बार कहा गया-'तू जीवों के कर्म-बन्ध और कर्म-विपाक को जान और कर्म-क्षय को देख।' 'वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले दुःखों को जान।'

'पुरुष लोक के दुःख को जानकर उसके हेतुभूत कषाय का परित्याग करे।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'तुम प्रत्येक प्राणी की शान्ति को जानो और देखो।'

'सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अशान्ति अप्रिय, महाभयंकर और दु:ख है।'

इन (सुख और दु:ख) का आध्यात्मिक पक्ष इस प्रकार है-प्राणियों को सुख प्रिय है इसलिए उसका वियोग नहीं करना चाहिए और दु:ख अप्रिय है इसलिए उसका संयोग नहीं करना चाहिए। इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने पर आर्त्तध्यान होता है। उन प्राणियों को आर्त्तध्यान में निमग्न नहीं करना चाहिए।

आध्यात्मिक या नैश्चयिक दृष्टि से दु:ख क्या है, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा है। इसे लक्षित कर भगवान् ने कहा-कर्म-बन्ध दु:ख है। उसी के कारण जीव दु:खों के आवर्त्त का अनुपरिवर्तन करता है। इसीलिए कहा है-दु:ख के अग्र और मूल का विवेक करो।

'दु:खों का मूल है कषाय'-यह पहले कहा जा चुका है। सूत्रकार ने आरंभ-हिंसा को भी दु:ख की उत्पत्ति का हेतु बतलाया है; जैसे-'दु:ख हिंसा से उत्पन्न है।' 'कुशल पुरुष दु:ख की परिज्ञा का प्रतिपादन करते हैं।' दु:खक्षय के लिए कर्म शरीर का प्रकंपन आवश्यक है।

कर्म-शरीर को क्षीण करने के ये उपाय हैं-

पहला उपाय है-अप्रमाद-'प्रमाद से किये हुए कर्म-बंध का विलय अप्रमाद से होता है-सूत्रकार ने ऐसा कहा है।' 'धीर पुरुष मुहूर्त्तमात्र भी प्रमाद न करे।'

दूसरा उपाय है-आत्म-संप्रेक्षा-'एक आत्मा की ही संप्रेक्षा करे।'

तीसरा उपाय है-एकत्व-अनुप्रेक्षा-'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं, मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार वह भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे।' 'मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ।'

चौथा उपाय है-अशरण-अनुपेक्षा-'हे पुरुष! वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।'

पांचवा उपाय है-अनित्य-अनुप्रेक्षा-'शरीर आहार से उपचित होते हैं और वे कष्ट से भग्न हो जाते हैं।'

'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएँ होती हैं।'

छठा उपाय है-शरीर-संप्रेक्षा-'इस औदारिक शरीर का यह वर्तमान क्षण है, इस प्रकार जो अन्वेषण करता है, वह सदा अप्रमत्त होता है।'

सातवां उपाय है-लोक-विपश्यना-'संयतचक्षु व्यक्ति लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधो भाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।'

आठवां उपाय है-द्रष्टाशक्ति का विकास-'अध्यात्म तत्त्वदर्शी पुरुष वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करे-जैसे अध्यात्म के तत्त्व को नहीं जानने वाला करता है, वैसे न करे।' 'केवल वही अपने पथ पर आरूढ़ रहता है जो लोक को भिन्न दृष्टि से देखता है-लोक-प्रवाह की दृष्टि से नहीं देखता।'

नौवां उपाय है-प्रतिपक्षभावना का विकास-'अलोभ से लोभ को पराजित कर देना।'

दसवां उपाय है-अकर्म साधना-'वह अकर्म होकर जानता-देखता है।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्यारहवां उपाय है-अशौच-अनुप्रेक्षा-'यह शरीर जैसा भीतर है, वैसा बाहर है और जैसा बाहर है, वैसा भीतर है।' 'इस अशुचि शरीर के भीतर पहुंचकर शरीर-धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।'

बारहवां उपाय है-अनन्यदर्शन-'जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है और जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।'

तेरहवां उपाय है-आतंकदर्शन-'हिंसा में आतंक देखने वाला पुरुष परम को जानकर पाप नहीं करता।'

चौदहवां उपाय है-निष्कर्मदर्शन-'संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष निष्कामदर्शी-आत्मदर्शी हो जाता है।'

पन्द्रहवां उपाय है-परमदर्शन-'तीन विद्याओं का ज्ञाता परम को जानता है।'

'लोक में परम को देखना.....'।

सोलहवां उपाय है-आत्म-समाधि-'जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, कृश और जीर्ण कर देता है।'

सतरहवां उपाय है-निरुद्ध-आयुष्क-संप्रेक्षा-'यह आयु सीमित है, इसकी संप्रेक्षा कर।'

अठारहवां उपाय है-प्रकंपन-दर्शन-'तू देख, यह लोक चारों ओर प्रकंपित हो रहा है।'

उन्नीसवां उपाय है-परिज्ञा-'अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए जो कर्म-बंध होता है, उसका विलय परिज्ञा के द्वारा होता है।'

बीसवां उपाय है-आत्म-निग्रह अथवा इन्द्रिय-जय-'आत्मा का ही निग्रह करो।'

इकीसवां उपाय है-समत्वदर्शन-'समत्वदर्शी पुरुष पाप नहीं करता।'

'सभी आत्माएँ समान हैं'-इस सिद्धांत को केन्द्र में रखकर आचारशास्त्र के अनेक विधि-निषेध प्रवृत्त होते हैं, जैसे-अहिंसा के विषय में-'सब आत्माएँ समान हैं, यह जानकर पुरुष समूचे जीव-लोक की हिंसा से उपरत हो जाए।'

श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि

आचारांग श्रद्धा का समुद्र है। **'सड्ढी आणाए मेहावी', 'आणाए मामगं धम्मं'** आदि वाक्यों में अपने आराध्य के प्रति आत्मार्पण की भावना प्रस्फुटित होती है। आचारांग में श्रद्धा के स्वतंत्र-दृष्टिकोण का स्थान असुरक्षित नहीं है। सत्य की उपलब्धि के तीन साधन बतलाये गए हैं-सहसम्मति, परव्याकरण और श्रुतानुश्रुत।

इन तीन साधनों में पहला साधन है-स्वस्मृति-अपनी बुद्धि के द्वारा सत्य का अवबोध करना। **'मइमं पास'**-इस शब्द का प्रयोग भी दृष्टि की स्वतंत्रता को अवकाश देता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है 'न केवलं अहमेव कथयामि त्वमेव पश्य'-केवल मैं ही नहीं कहता हूँ, तू स्वयं भी देख। इस प्रकार आचारांग में श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि का सुन्दर संगम हुआ है। केवल श्रद्धा और केवल स्वतंत्र-दृष्टि-ये दोनों जातियां हैं। इनसे अच्छे परिणाम की उपलब्धि नहीं हो सकती। श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि का समन्वय ही सत्य-संधान का समुचित मार्ग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचारांग के दार्शनिक-तथ्य

तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से आचारांग एक महत्त्वपूर्ण आगम है। आचार्य सिद्धसेन ने जैन दर्शन के मूलभूत छह सत्य गिनाए हैं-

(1) आत्मा है।
(2) वह अविनाशी है।
(3) कर्त्ता है।
(4) भोक्ता है।
(5) निर्वाण है।
(6) निर्वाण के उपाय हैं।

इनका आचारांग में पूर्ण विस्तार मिलता है। 'आत्मा है'-यह पहला सत्य है। आचारांग का प्रारम्भ इसी सत्य की व्याख्या से हुआ है। इसी व्याख्या के साथ आत्मा के अविनाशित्व का उल्लेख हुआ है। 'पुरुष तू ही तेरा मित्र है', 'यह शल्य तू ने ही किया है'-ये वाक्य आत्मा के कर्तृत्व के उद्‌बोधक हैं। इसमें 'अनुसंवेदन' का प्रयोग हुआ है। यह क्रिया की प्रतिक्रिया (भोक्तृत्व) का सूचक है। आचारांग में निर्वाण को 'अनन्य-परम' कहा गया है। वहां सब उपाधियां समाप्त हो जाती हैं, इसलिए उससे अन्य कोई परम नहीं है। निर्वाण के उपायभूत सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है। इन दृष्टियों से आचारांग को जैन दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ कहा जा सकता है।

1.2.5 रचनाकार और रचनाकाल

परम्परा से यह जाना जाता है कि आचारांग की रचना गणधर सुधर्मा स्वामी ने की और तीर्थ-प्रवर्तन के समय में ही की। ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग उपलब्ध आगमों में सबसे प्राचीन है। इसकी रचना-शैली अन्य आगमों से भिन्न है। डॉ. हर्मन जेकोबी ने इसकी तुलना ब्राह्मण सूत्रों की शैली से की है। उनके अनुसार ब्राह्मण सूत्रों के वाक्य परस्पर संबंधित हैं, किन्तु आचारांग के वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। उन्होंने लिखा है-'आचारांग के वाक्य उस समय के प्रसिद्ध धार्मिक-ग्रन्थों से उद्धृत किये गए हैं, ऐसा लगता है। मेरा यह अनुमान गद्य के मध्य आने वाले पद्यों या पदों के सन्दर्भ में पूर्ण सत्य है। क्योंकि उन पद्यों या पदों की सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक के पदों से तुलना होती है।'

डॉ. जेकोबी का अभिमत निराधार नहीं है। द्वादशांगी पूर्वों से निर्यूढ है तथा दशवैकालिक का निर्यूहण भी पूर्वों से किया गया है। इसलिए बहुत संभव है कि इन सबके समान पदों का निर्यूहण-स्थल एक है।

आचारांग में वाक्य परस्पर संबंधित नहीं हैं, इस अभिमत में आंशिक सच्चाई भी है और वह इसलिए है कि वर्तमान में आचारांग का खण्डित रूप प्राप्त है। अखण्ड रूप में जो सम्बन्ध-शृंखला प्राप्त हो सकती है, वह खण्डित रूप में नहीं हो सकती।

इसका तीसरा कारण व्याख्या-पद्धति का भेद भी है। आगम-साहित्य के व्याख्यान की दो पद्धतियां हैं-छिन्नच्छेदनयिक और अच्छिन्नच्छेदनयिक।

प्रथम पद्धति के अनुसार प्रत्येक वाक्य तथा श्लोक अपने आप में परिपूर्ण होता है। पूर्व या अग्रिम वाक्य तथा श्लोक से उसकी सम्बन्ध-योजना नहीं की जाती। द्वितीय पद्धति के अनुसार प्रत्येक वाक्य तथा श्लोक की पूर्व या अग्रिम वाक्य तथा श्लोक के साथ सम्बन्ध-योजना की जाती है।

आचारांग की व्याख्या छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से करने पर वाक्यों की विसम्बद्धता प्रतीत होती है। यदि अच्छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से उसकी व्याख्या की जाए तो उसमें सर्वत्र विसम्बद्धता प्रतीत नहीं होती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचारांग की प्राचीनता

आचारांग सबसे प्राचीन सूत्र है, इसलिए यह उत्तरवर्ती सूत्रों के लिए 'कषोपल' के समान है। इसमें वर्णित आचार मूलभूत है। वह भगवान् महावीर के मौलिक आचार के सर्वाधिक निकट है। उत्तरवर्ती सूत्रों में वर्णित आचार उसका परिवर्धन या विकास है। आचारांग-चूला में भी आचार का परिवर्धन या विकास हुआ है। जो तथ्य मूल आचारांग में नहीं हैं, वे आचार-चूला में प्राप्त होते हैं, तब सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि उनका आधार क्या है? दो शताब्दी से पूर्ववर्ती साहित्य में जो तथ्य नहीं हैं, वे दो शताब्दी बाद लिखे गए साहित्य में कहां से आए? इसका समाधान देने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं, फिर भी इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वर्तमान आचार्यों ने उत्सर्ग और अपवाद के सिद्धान्त की स्थापना और उसके आधार पर विधि-विधानों का निर्माण किया था। आचार-चूला उसी श्रृंखला की प्रथम कड़ी है। जैन-आचार की समीक्षा करते समय इस तथ्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि आचारांग में वर्णित आचार मौलिक हैं और महावीर-कालीन हैं तथा जो आचार आचारांग में में वर्णित नहीं है, वह उत्तरवर्ती है तथा उसकी प्रारम्भ-तिथि अन्वेषणीय है।

1.2.6 रचनाशैली

सूत्रकृतांगचूर्णि में सूत्र रचना की चार शैलियों का निर्देश है। 1. गद्य, 2. पद्य, 3. कथ्य और 4. गेय। दशवैकालिक चूर्णि में आचारांग को चौर्णपद माना है। हरिभद्र का यही अभिमत है। निर्युक्तिकार ने चौर्णपद की व्याख्या करते हुए कहा है—जो अर्थ बहुल, महार्थ, हेतु, निपात और उपसर्ग से गंभीर बहुपाद आदि से युक्त हो वह चौर्ण पद है। चौर्णपद की परिभाषा में आया बहुपाद शब्द विमर्शनीय है। जिस रचना में कोई पाद नहीं होता वह गद्य और जिसमें गद्य भाग के साथ-साथ बहुपाद होते हैं वह चौर्ण है। संक्षेप में गद्य को अपाद और चौर्ण को बहुपाद कहा जा सकता है। आचारांग में सैकड़ों पाद हैं इसलिए वह चौण शैली की रचना है। आचारांग में गद्य भाग के साथ-साथ विपुल मात्रा में पद्य भाग हैं—इस रहस्य के उद्घाटन का श्रेय डॉ. शुब्रिंग को है। उन्होंने स्व-संपादित आचारांग में पद्य-भाग का पृथक् अंकन किया है। आचारांग के 8वें अध्ययन के 7वें उद्देशक तक की रचना चौर्णशैली में है और 8वां उद्देशक तथा 9वां अध्ययन पद्यात्मक है।

1.2.7 व्याख्या ग्रन्थ

आचारांग के उपलब्ध व्याख्या ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन निर्युक्ति है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु है। इसका रचनाकाल वि. की पांचवीं-छठी शताब्दी है। व्याख्या ग्रन्थों में दूसरा स्थान चूर्णि का है। निर्युक्ति पद्यमय है और चूर्णि गद्यमय। परम्परा से इसके कर्त्ता जिनदास महत्तर माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक शोध के आधार पर इसकी पुष्टि नहीं हुई है। अंग शब्द का निक्षेप करते हुए चूर्णिकार ने द्रव्य अंग की व्याख्या के लिए चउरंगिज्ज (उत्तराध्ययन का तृतीय अध्ययन) की भांति ऐसा उल्लेख किया है। इस वाक्यांश से उत्तराध्ययन और आचारांग चूर्णि के एक कर्त्ता होने की कल्पना की जा सकती है। यदि आचारांग और उत्तराध्ययन के चूर्णिकार एक हों तो उनका परिचय उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार 'गोपालिक महत्तर शिष्य' के रूप में मिलता है।

आचारांग का तीसरा व्याख्या ग्रन्थ टीका है। चूर्णि और वृत्ति ये दोनों निर्युक्ति के आधार पर चलते हैं। निर्युक्ति का शब्द शरीर संक्षिप्त है, किन्तु दिशा सूचन यंत्र की तरह महत्त्वपूर्ण है। चूर्णि टीका की अपेक्षा संक्षिप्त है किन्तु अर्थाभिव्यक्ति और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। टीका का शब्द शरीर उपलब्ध व्याख्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्रन्थों में सर्वाधिक समृद्ध है। इसके कर्त्ता शीलाङ्क.सूरि हैं। इन्होंने अपना दूसरा नाम 'तत्त्वादित्य' बतलाया है। इनका समय ई. 8वीं शताब्दी माना जाता है। इसके अतिरिक्त दीपिका, अवचूरि, बालावबोध, पद्यानुवाद और वार्तिक भी व्याख्या ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण हैं। आचारांग भाष्य का स्थान व्याख्या ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी महाप्रज्ञा से सरल संस्कृत भाषा में आचारांग भाष्य का प्रणयन कर इस शताब्दी को अमूल्य रत्न दिया है। आचारांग के गहन ज्ञान का मन्थन कर नवनीत प्रस्तुत किया है। जिसका सेवन कर स्वाध्याय प्रेमी अपने चित्त को आह्लादित कर सकते हैं। मानसिक तोष का अनुभव कर सकते हैं। आपने चूर्णि, टीका आदि से हटकर अनेक शब्दों, पदों और सूत्रों का नया अर्थ किया है। अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से, अन्त:प्रज्ञा से ऐसे रहस्यों का उद्घाटन किया है जो विद्वानों के लिए भी चमत्कारिक है। उनकी बुद्धि का पोषण करने वाला है। वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक टिप्पण अपने आपमें श्लाघनीय है। यह आचारशास्त्र का श्लाघनीय ग्रन्थ आचार की यथार्थता का बोध देगा और जन-जन के मन को आप्लावित करेगा।

1.2.8 आचारांग का महत्त्व

आचारांग आचार का प्रतिपादक सूत्र है, इसलिए इसे सब अंगों का सार माना है। निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति गाथा 16 में स्वयं जिज्ञासा की—'अंगाणं किं सारो?' अंगों का सार क्या है? इसका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा—'आयारो।' अर्थात् अंगों का सार आचार है।

आचारांग में मोक्ष का उपाय बतलाया गया है, इसलिए यह समूचे प्रवचन का सार है। आचारांग का अध्ययन करने से श्रमण धर्म ज्ञात होता है, इसलिए आचारधर पहला गणिस्थान (आचार्य होने का प्रथम कारण) कहलाता है। आचारांग मुनि जीवन का आधारभूत आगम है, इसलिए इसका अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। नौ ब्रह्मचर्य अध्ययनों का वाचन किए बिना ऊपर के आगमों का वाचन करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

आचारांग पढ़ने के बाद ही धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़े जाते थे। नव दीक्षित मुनि की उपस्थापना आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन द्वारा की जाती थी। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग के अध्ययन से होता था। आचारांग का अध्ययन किए बिना सूत्रकृत आदि अंगों का अध्ययन विहित नहीं था। उक्त उद्धरणों से आचारांग का महत्त्व ख्यापन होता है।

1.2.9 आचारांग की प्रासंगिकता

आचारांग वर्तमान युग में प्रासंगिक है। यह प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है। इसका उत्तर बहुत सीधा है। यदि समता, अहिंसा और अपरिग्रह हैं तो जैनधर्म भी प्रासंगिक है। यदि उनकी प्रासंगिकता नहीं है तो जैन धर्म को प्रासंगिकता की वेदी पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका प्रारम्भ-बिन्दु है आत्मा का संज्ञान और उसका चरम-बिन्दु है आत्मोपलब्धि या आत्मा का साक्षात्कार।

चेतन (आत्मा अथवा जीव) और अचेतन-दोनों के अस्तित्व की स्वीकृति ने जैनदर्शन को अनेकांतवादी दृष्टिकोण अपनाने का अवसर दिया। आत्मा का ज्ञान तब तक परिपूर्ण नहीं होता, जब तक अचेतन को नहीं जान लिया जाता और अचेतन का ज्ञान आत्मा को जाने बिना परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा (चेतन) और अनात्मा (अचेतन)-दोनों की समग्रता का ज्ञान आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन में आत्मा की कर्मकृत विभिन्न अवस्थाओं को समझने का दृष्टिकोण दिया है। पर्यावरण की दृष्टि से उसका अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। समता और आत्मतुला-ये दोनों पर्यावरण के प्रदूषण से बचाव करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस-जीवों के ये छह निकाय हैं। महावीर ने कहा-इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटाकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। इनके अस्तित्व के प्रति प्रमत्त रहकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता।

हिंसा स्वयं प्रमाद है अथवा प्रमाद की निष्पत्ति है। अहिंसा अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक होना है। साथ-साथ दूसरे जीवों के अस्तित्व के प्रति जागरूक होना भी है। यह जागरूकता आत्मतुला के सिद्धान्त से विकसित होती है। इसीलिए महावीर ने कहा-आत्मतुला का अन्वेषण करो-**एयं तुलनन्नेसिं**।

अहिंसा का सिद्धांत हिंसा के साधन को समझे बिना समग्रता से नहीं समझा जा सकता। इसीलिए प्रस्तुत आगम में परिग्रह और अपरिग्रह का विशद विवरण उपलब्ध है।

हिंसा का मुख्य साधन है-परिग्रह। आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। अर्थशास्त्रीय अभिमत है-अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। महावीर कहते हैं-पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। समाज के विकास का आधार है-रागात्मक प्रवृत्ति। इस सत्यांश को पूर्ण सत्य मान लेने के कारण ही हिंसा और आतंक को फैलने का अवसर मिला है। समाज का आधार विरागात्मक प्रवृत्ति भी है, इस सत्यांश को समाज के साथ जोड़ने पर एक नया दृष्टिकोण विकसित होता है। केवल रागात्मक प्रवृत्ति समाज को स्पर्धा और हिंसा की ओर ले जाती है। केवल विरागात्मक प्रवृत्ति से समाज की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं, इसलिए रागात्मक और विरागात्मक-दोनों के सन्तुलन से ही समाज की व्यवस्था को नया रूप दिया जा सकता है और हिंसा की बाढ़ को रोका जा सकता है।

वैज्ञानिक युग ने विकास की नई अवधारणाएँ दीं। पुराने चिंतन को नकारने की मनोवृत्ति विकसित हुई। परिस्थिति चक्र ने भी विकास की अवधारणा को बदलने में सहयोग दिया है। आज का विश्व इच्छा-नियंत्रण, संग्रह-नियंत्रण के सिद्धांत को अपनाकर विशाल आबादी की रोटी, कपड़ा और मकान नहीं दे सकता। इसलिए संयम, सीमाकरण का सिद्धांत पुराना हो चुका है। नई समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यक हो गया है नया चिन्तन और नया सिद्धांत। उसी के आधार पर बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं और आर्थिक विकास की बड़ी-बड़ी योजनाएँ पन्नों पर उतर रही हैं।

महावीर ने असंग्रह का सिद्धांत दिया। वह जनसंख्या के आधार पर नहीं दिया। उन्होंने मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रखकर असंग्रह अथवा इच्छा-संयम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। बढ़ती हुई जनसंख्या की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने का जो प्रश्न है, उससे महावीर का कोई विरोध नहीं है। उनका विरोध बढ़ती हुई आकांक्षा की मनोवृत्ति से है। वर्तमान समाज में उस मनोवृत्ति के वे परिणाम दिखाई दे रहे हैं, जिनकी घोषणा प्रस्तुत आगम कर रहा है-

'सुख का अर्थी संग्रह में प्रवृत्त होता है। जो सुख का अर्थी होता है, वह बार-बार सुख की कामना करता है। इस प्रकार वह अपने द्वारा कृत कामना की व्यथा से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है। सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।'

भूख से कोई न मरे, इस व्यवस्था में वर्तमान युग सफल हुआ है, किन्तु मुट्ठी भर लोगों का संग्रह असंख्य लोगों को गरीबी का जीवन जीने के लिए विवश कर रहा है। दूसरी समस्या यह है-अति सम्पन्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोग मानसिक तनाव, भय और आतंक का जीवन जी रहे हैं। ऐसा मार्ग खोजने में अभी सफलता नहीं मिली है, जिससे सबकी प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी हों और अतिसंग्रह से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ भी मानवीय चेतना को क्रूर न बनाएँ। व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित किये बिना वह मार्ग कभी भी खोजा नहीं जा सकेगा। पदार्थ सीमित है। उपभोक्ता की आवश्यकता असीम है, लालसा उससे भी अधिक है। इनके समीकरण का कोई भी गणित हमारे पास नहीं है। इसीलिए सच्चाई को ध्यान में रखकर महावीर ने कहा-**यही महाभय है कि मनुष्य केवल पदार्थ की परिक्रमा कर रहा है।** वह मानसिक स्वास्थ्य और उपभोक्तावादी मनोवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करता है। हिंसा की समस्या का मूल है पदार्थ के साथ-साथ 'यह मेरा है'-इस मनोवृत्ति का जुड़ाव। पदार्थ किसी का नहीं है, यह सच्चाई है। इस सच्चाई को झुठलाने के प्रयत्न में से हिंसा उपजती है।

महावीर ने कहा-**'हिंसा के पत्र-पुष्प पर ही प्रहार मत करो, उसकी जड़ पर भी प्रहार करो।'** जितना मेरापन कम, उतनी हिंसा कम। जितना मेरापन अधिक उतनी हिंसा अधिक। यह सूत्र अहिंसा का महाभाष्य है। अनेक विद्वान् आचारांग के संदेश को अहिंसा का संदेश मानते हैं। इस मान्यता का कारण इसका पहला प्रवचन है। उसमें नि:शस्त्रीकरण का विस्तृत निरूपण है। अग्रिम प्रवचनों में परिग्रह और अपरिग्रह के बारे में सिद्धांत स्थापित किये गए हैं। उन्हें हमने गौण रूप में स्वीकारा है। हमारी प्रथम दृष्टि पत्र-पुष्प और फल तक ही जाती है, मूल तक नहीं जाती। मूलस्पर्शी दृष्टि के बिना समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। हम अहिंसा का विकास कर हिंसा की समस्या को सुलझाना चाहते हैं। यह अग्रस्पर्शी दृष्टि का दर्शन है। मूलस्पर्शी दृष्टि का दर्शन इससे भिन्न है। उसका सूत्र है-**परिग्रह की समस्या को सुलझाओ, हिंसा की समस्या सुलझेगी। प्रवृत्ति की उपस्थिति में परिणाम को नहीं मिटाया जा सकता। हिंसा परिणाम है। उसका हेतु है-परिग्रह।** इस सच्चाई के प्रति सचेत करने के लिए ही महावीर ने बार-बार कहा-'पुरुष! तू सत्य को जान। परम सत्य है-आत्मा चैतन्यमय है और पदार्थ अचेतन है। आत्मा का सर्वस्व चैतन्य है, जड़ता नहीं।' आचारांग की इस स्थापना ने आचारशास्त्र को एक नया कोण दिया और शांति की दिशा में चिन्तन को आगे बढ़ाया कि **पश्यक बनो, हर घटना को देखो और पदार्थ-उपभोग का दृष्टिकोण बदलो।** जैसे सत्य को न खोजने वाला पदार्थ का उपभोग करता है, वैसे ही पदार्थ का उपभोग मत करो, किन्तु उपभोग की प्रणाली को बदलो। तात्पर्य की भाषा में जीवनशैली को बदलो। इस सच्चाई के साक्षात्कार को आत्मा या परमात्मा के साक्षात्कार से कम मूल्य नहीं दिया जा सकता।

1.3 आत्मवाद : पुनर्जन्मवाद

जैनदर्शन आत्मवादी, कर्मवादी एवं पुनर्जन्मवादी है। जैनदर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी अपने आपमें एक आत्मा है और कर्मों से बद्ध है, आवृत है। कर्म पुनर्जन्म का मूल कारण है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है, स्वतंत्र है, वास्तविक है और एक द्रव्य या वस्तु के रूप में है। आत्मा या जीव अस्तिकाय है। प्रत्येक आत्मा असंख्य 'प्रदेशों' का पिण्ड है। प्रत्येक आत्म-प्रदेश के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग होता है और कर्म के द्वारा उत्पन्न प्रभाव से आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करती रहती है। कर्म अपने आपमें जड़ है फिर भी आत्मा के साथ बद्ध होने से उनमें आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कर्म को हम 'चैतसिक भौतिक बल' (Psycho-physical force) के रूप में मान सकते हैं। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। अनादिकाल से प्रत्येक जीव (आत्मा) जन्म-मरण की शृंखला से गुजरता हुआ अपना अस्तित्व बनाए रखता है। यही जैनदर्शन का आत्मवाद और पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है। आचारांगसूत्र का प्रारम्भ आत्म-जिज्ञासा से होता है। कोऽहं ..... सूत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा पैदा करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्मा के लक्षण, स्वरूप, ज्ञान व ज्ञाता, बंध व मोक्ष का हेतु व आत्मदर्शन के परिणाम की चर्चा की है।

1.3.1 आत्मा का लक्षण

आत्मा का लक्षण है—चैतन्य। कोई भी आत्मा चाहे वह मुक्त हो या संसारी, चैतन्य से रहित नहीं होती। जैनदर्शन के अनुसार मुक्त अवस्था में भी ज्ञान और उपयोग सम्मत है। सूत्रकार ने आचारांग में उल्लेख किया है—**'जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोऽहं।'** अर्थात् जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करता है, जो सब दिशाओं और अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करता है, वह मैं हूँ। चूर्णिकार ने इस पद का आश्रय लेकर आत्मा के लक्षणों की मीमांसा की है। किसी ने जिज्ञासा की—आत्मा है, किन्तु उसका लक्षण निर्दिष्ट नहीं है। इसका समाधान करते हुए कहा गया—इस निरहंकार शरीर में जिसका यह अहंकार है, जैसे मैं करता हूँ, मैंने किया है, मैं करूंगा, यह अहंकार आत्मा का लक्षण है।

1.3.2 आत्मा का स्वरूप

सव्वे सरा णियट्टंति। (5/123)
सब स्वर लौट आते हैं- शब्द के द्वारा आत्मा प्रतिपाद्य नहीं है।
तक्का जत्थ ण विज्जइ। (5/124)
वहां कोई तर्क नहीं है- आत्मा तर्कगम्य नहीं है।
मई तत्थ ण गाहिया। (5/125)
वह मति के द्वारा ग्राह्य नहीं है।
ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने। (5/126)
वह अकेला सर्वथा, अनालंबन और ज्ञाता है।
से ण दीहे ण हस्से ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले। (5/127)
वह आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमंडल है।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले। (5/128)
वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न शुक्ल है।
ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे। (5/129)
वह न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध है।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे। (5/130)
वह न तिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है और न मधुर है।
ण कक्खडे, ण मउए,ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे। (5/131)
यह न कर्कश है, न मृदु है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है, स्निग्ध है और न रूक्ष है।
ण काऊ। (5/132)
वह शरीरवान नहीं है।
ण रुहे। (5/133)
वह जन्मधर्मा नहीं है।
ण संगे। (5/134)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वह लेपयुक्त नहीं है।

ण इत्थी,ण पुरिसे, ण अण्णहा। (5/135)

वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

परिण्णे सण्णे। (5/136)

वह परिज्ञ है, वह संज्ञ है-सर्वत: चैतन्यमय है।

उवमा ण विज्जए। (5/137)

उसके लिए कोई उपमा नहीं है।

अरूवी सत्ता। (5/138)

वह अमूर्त्त अस्तित्व है।

अपयस्स पयं णत्थि। (5/139)

वह अपद है-उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है।

से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेताव। -त्ति बेमि। (5/140)

वह न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है, इतना ही। -ऐसा मैं कहता हूं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ आत्म-सिद्धान्त से होता है। औपपातिक आत्मा नानाविध शरीरों को धारण करती है और नानाविध योनियों में अनुसंचरण करती है, बार-बार जन्म-मरण करती है। इसे संसारी आत्मा कहा जाता है। कर्मोपाधि सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय के मत में यह आत्मा शरीर में अधिष्ठित होने के कारण तर्कगम्य, बुद्धिग्राह्य, पौद्गलिक गुणों से युक्त, पुनर्जन्मधर्मा, स्त्री-पुरुष आदि लिंग से सहित तथा कथंचिद् मूर्त्त भी है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय के मत में जीव पारिणामिक भावयुक्त आत्मा मुक्त अथवा सिद्ध कही जाती है। शरीर मुक्त होने के कारण वह आत्मा अमूर्त्त होती है। इसलिए वह न शब्द गम्य है और न तर्क गम्य। वह बुद्धि के द्वारा अग्राह्य है। वह आत्मा पुद्गल गुणों से रहित है। उसमें स्त्री-पुरुष आदि लिंगभेद नहीं होता। वह केवल परिज्ञ स्वरूप-ज्ञाता के स्वरूप में अवस्थित है। आचारांग के पाचवें अध्ययन में सूत्र संख्या (123-140) में जिस आत्म स्वरूप का निरूपण है वह आत्मा है कर्मोपाधिनिरपेक्ष तथा शरीर रहित।

उपनिषद् में आत्मा के प्रतिपादक जो सूत्र हैं, उनका इन सूत्रों (5/123-140) के साथ साम्य है। आत्मविद्या के पुरस्कर्त्ता क्षत्रिय थे। आत्मसिद्धान्त के विषय में अधिकार था, यह बात उपनिषदों से प्रभावित है ऐसा कहना विचारणीय है। आचारांग में स्वतंत्र रूप से इसका निरूपण हुआ है। आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है—

आत्मा अमूर्त्त और सूक्ष्मतम है, इसलिए वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है। आचारांगचूर्णि में स्वर के स्थान पर प्रवाद शब्द है। सभी प्रवाद आत्मा से लौट आते हैं, उस तक नहीं पहुंच पाते हैं। उपनिषद् में ब्रह्मा के आनन्द-विज्ञान के विषय में ऐसा ही सूक्त प्राप्त होता है—

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दः ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कदाचन॥

आत्मा तर्क के द्वारा भी ग्राह्य नहीं है। वह बुद्धि की सीमा से भी परे है। अमूर्त्त तत्त्व शब्दों का, तर्कों का और बुद्धि का विषय नहीं बनता। जैसे उत्तराध्ययन में कहा है—'नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा' आत्मा अमूर्त्त है इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

0 आत्मा ओज है—अकेला अथवा स्वतंत्र है। सामयिकी संज्ञा से ओज का अर्थ है—अकेला। वह शरीर से भिन्न एक ही है, दूसरा कोई नहीं है। वह अप्रतिष्ठान है—सर्वथा अनालंबन है। वह क्षेत्रज्ञ है—ज्ञाता है।

से सयमेव पुढवि-सत्थं समारंभई,
अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ,
अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ। (2/22)

कोई साधक स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।

आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की उद्घोषणा करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं'—सुख और दु:ख व्यक्ति का अपना-अपना होता है। प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। तात्पर्य की भाषा में सबका अस्तित्व स्वतंत्र है। वे किसी भी ईश्वर का अंशभूत नहीं है। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है,

से सुपडिबुद्धं सूवणीयं ति णच्चा, पुरिसा! परमचक्खू! विपरक्कमा। (5/34)

परिग्रह महाभय का हेतु है- यह सम्यक् प्रकार से ज्ञात और उपदर्शित है। परमचक्षुष्मान पुरुष ! तू परिग्रह-संयम के लिए पराक्रम कर।

इसलिए उसका अपना कर्त्तृत्व है। वह ईश्वर से प्रेरित होकर प्रवृत्त और निवृत्त नहीं होती, किन्तु अपने संकल्प से ही प्रवृत्त और निवृत्त होती है। इसलिए आचारांग में कहा—'पुरिसा! परमचक्खू! विपरक्कमा'—परम चक्षुवान् पुरुष! तू पराक्रम कर।

0 आत्मा दीर्घ नहीं है—लोकव्यापी नहीं है। वह ह्रस्व नहीं है—अंगुष्ठ परिमाण भी नहीं है। उपनिषदों में आत्मा का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व माना गया है वह वृत्त आदि संस्थानों से संस्थित नहीं है।

0 वही कृष्ण आदि वर्णों से युक्त नहीं है।
0 वह गन्धवान् नहीं है।
0 वह रसवान् नहीं है।
0 वह स्पर्शवान् नहीं है।

इन पदों में नेति-नेति पद से आत्मा का निरूपण किया गया है। इनमें निरूपित संस्थान, वर्ण आदि गुण पुद्गल द्रव्य में पाए जाते हैं। इन्द्रियों का विषयभूत जगत् तीन आयामों—ऊंचा, नीचा और तिरछा है। हम इसे जानते हैं। आत्मा सभी आयामों से अतीत है। इसलिए पौद्गलिक द्रव्य से उसकी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए 'नेति' पद का प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है—जिसमें संस्थान आदि होते हैं वह पदार्थ मूर्त्त है। आत्मा में ये सब नहीं होते, इसलिए वह अमूर्त्त है।

0 आत्मा अशरीरी है। उससे न कोई आत्मा अवतरित होती और न कोई आत्मा उसमें लय प्राप्त करती है।

0 वह जन्मधर्मा नहीं है। जैसे अग्नि से दग्ध बीज पुन: अंकुरित नहीं होता, वैसे ही आत्मा के कर्मबीज दग्ध हो जाने के कारण पुन: उसमें जन्म-मरण का अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

0 वह असंग है—लेपमुक्त है। जिसमें आसक्ति का लेपमात्र भी शेष रह जाता है। वह पुन: जन्म लेता है, मुक्त आत्मा सर्वथा लेपमुक्त होता है, इसलिए वह पुन: संसार में नहीं आता। लिंग का आश्रय है—शरीर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिंग से सम्बन्धित वेद मोहकर्म के आधार पर होता है जो आत्मा अपने मूल रूप में स्थित है वह अशरीरी और अकर्मा होती है, इसलिए वह लिंगातीत होती है। वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक। वह लिंग अथवा वेद से अतीत है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा की लिंगमुक्त अवस्था तथा लिंगयुक्त अवस्था दोनों का प्रतिपादन है। वहां कहा है—आत्मा न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक। जिस लिंग वाले शरीर को वह प्राप्त होती है, उसी लिंग से वह पहचानी जाती है।

0 वह परिज्ञा है—सर्वत: जानता है। साधारण पुरुष इन्द्रियों के एक भाग से जानता है, किन्तु निरावरण आत्मा सर्वतोभाव से जानता है वह संज्ञ है—सम्यक् जानता है।

0 आत्मा ही परिज्ञ है, संज्ञ है। दूसरा कोई भी पदार्थ परिज्ञ या संज्ञ नहीं है। इसलिए आत्मा के लिए कोई उपमा नहीं है। अथवा किसी भी सांसारिक पदार्थ से आत्मा को उपमित नहीं किया जा सकता।

0 सत्ता का अर्थ है—अस्तित्व। आत्मा का अस्तित्व है, किन्तु वह अरूपी है, इसलिए उसका अस्तित्व केवल केवलज्ञानी के ही प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियज्ञानी उसको साक्षात् नहीं जान सकते।

वह अपद है, पदातीत है। उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है। जैसे सांख्य दर्शन में आत्मा का वाचक प्रणव है—ऐसा सम्मत है। किन्तु मुक्त आत्माओं का कोई वाचक पद नहीं है। चूर्णि के अनुसार पद का अर्थ है—पदचिह्न। जैसे सर्प अपद होता है। वह जब चलता है तब दीर्घ, वृत्त या परिमंडल कोई भी पदचिह्न नहीं होता। पद शब्दात्मक होता है। आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है।

1.3.3 आत्मा ज्ञान और ज्ञाता दोनों हैं

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया, जेण विजाणाति से आया। (5/104)

जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है। जिस साधन से आत्मा जानती है, वह ज्ञान आत्मा है।

सूत्रकार ने आत्मा को ज्ञाता कहा है और आत्मा जिस साधन से जानती है वह ज्ञान है ऐसा उल्लेख किया है। **'जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया, जेण विजाणाति से आया।'**

आत्मा द्रव्य है। ज्ञान उसका गुण है। द्रव्य से गुण भिन्न है अथवा अभिन्न, इस जिज्ञासा के प्रसंग में सूत्रकार कहते हैं। जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।

इसका तात्पर्य है कि आत्मा ज्ञान-शून्य नहीं है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। इसका तात्पर्य है-ज्ञान आत्माशून्य नहीं है। जैसे अग्नि अनुष्ण नहीं होती। उष्णता अग्नि से भिन्न पदार्थ नहीं है, इसलिए अग्नि के कथन से उष्णता का कथन स्वयं हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के कथन से विज्ञान का कथन स्वयं हो जाता है और विज्ञान के कथन से आत्मा का कथन स्वयं हो जाता है।

1.3.4 आत्मदर्शन का परिणाम

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कतथइ। (2/174)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्मकथी जैसे सम्पन्न को उपदेश देता है, वैसे ही विपन्न को देता है। जैसे विपन्न को उपदेश देता है, वैसे ही सम्पन्न को देता है।

आत्मदर्शन के बिना व्यवहार में भी समता का अवतरण नहीं होता। जो आत्मदर्शी होता है, वह अन्य प्रयोजनों के लिए प्रयत्न नहीं करता, केवल आत्म प्रयोजन के लिए ही प्रयत्न करता है। जो निष्कर्मा होकर निर्मल चैतन्य को देखता है, वह कर्मों से मुक्त होता है। वह कर्म बंध के हेतुभूत विषय कषाय आदि में रमण नहीं करता। वह संयम, तप आदि के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर आत्मदर्शी हो जाता है।

अणेमदंसी णिसन्ने पावेहि कम्मेहिं। (3/48)

आत्मा को देखने वाला पुरुष पापकर्म का आदर नहीं करता।

आत्मा को देखने वाला पापकर्म का आदर नहीं करता। सूत्रकार ने कहा है—'अणोमदंसी णिसन्ने पावेहिं कम्मेहिं' प्रस्तुत सूत्र में 'अनवमदर्शी' शब्द का प्रयोग है। यहां 'अनवम' पद का अर्थ है—उत्तम (आत्मा) को देखता है, वह पापकारी प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है।

णिस्सारं पासिय णाणी, उववायं चवण णच्चा। अणण्णं चर माहणे। (3/45)

ज्ञानी! तू देख विषय निस्सार है। तू जान! जन्म और मृत्यु निश्चित है। अतः हे माहन! तू अनन्य-आत्मा में रमण कर।

आत्मदर्शी पुरुष को चैतन्य के स्वतंत्र अस्तित्व का स्पष्ट अवबोध हो जाता है। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि चैतन्य शाश्वत है, सदा हितकारी होने के कारण सारभूत है। दूसरा कोई भी विषय ऐसा नहीं। सभी विषय अनित्य होने के कारण अशाश्वत है, निस्सार है। शब्दादि इन्द्रिय विषय किंपाकफल की तरह है।

से ण छणे ण छणावए, छणंतं णाणुजाणइ। (3/46)

वह अहिंसक मनुष्य जीवों की हिंसा न करता है, न कराता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

अतः आत्मदर्शी पुरुष न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

1.3.5 पुनर्जन्म

दर्शन के क्षेत्र में आत्मा और पुनर्जन्म का विषय बहुत मौलिक और प्रभावोत्पादक है। न केवल भारतीय दार्शनिकों ने अपितु पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इस विषय पर गहन चिन्तन किया है। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के संदर्भ में भी इस विषय पर शोधात्मक कार्य हो रहे हैं।

सृष्टि के प्रारम्भकाल से तीर्थंकरों, वैदिक ऋषियों व अन्यान्य विद्वानों ने अपने विचारों का मंथन कर इस विषय को पुष्ट किया था और आज भी कर रहे हैं।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत भगवान् ने कहा है—'जे आया से विन्नाया' भगवतीसूत्र में चेतना को जीव का लक्षण कहा है—**'जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवो'** प्रस्तुत सूत्र में जीव शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रथम 'जीव' से तात्पर्य जीव व दूसरे 'जीव' शब्द से तात्पर्य है—चैतन्य। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

हे परमतप अर्जुन! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता किन्तु मैं जानता हूँ।

जीवात्मा से सम्बद्ध भगवान् बुद्ध की मान्यताएं अन्य दर्शनों से भिन्न है लेकिन वे भी कर्म और पुनर्जन्म को स्पष्टत: स्वीकार करते हैं।

कम्मा विपाका पवत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती ति॥

अर्थात् कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और स्वयं विपाक कर्म संभव है। कर्म से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है।

भगवान् महावीर ने निर्द्वन्द्वभाव से पुनर्जन्मवाद को प्रतिष्ठित किया। पुनर्जन्म कर्म संज्ञी जीवों के ही होता है। इसी बात की पुष्टि ठाणं सूत्र में की गई है—'कर्मपुद्गल या परमाणु जीव संगति उत्पन्न करते हैं। उसी के अनुसार जीव नए स्थान में जाकर उत्पन्न होता है।'

व्यवहार जगत् में हम देखते हैं कि बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं का तथा मनुष्य, पशु-पक्षी आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी चैतन्य गुण अक्षुण्ण रहता है। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं इसीलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। मरने के पश्चात् प्राणी की क्या गति होती है? यह प्रश्न पुनर्जन्म की मान्यता की स्वीकृति हेतु प्रेरित करता है। दार्शनिक जगत् में प्रस्तुत विषयक तीन अवधारणाएं हैं—

1. आत्मा है, पुनर्जन्म नहीं।
2. आत्मा भी नहीं है, पुनर्जन्म भी नहीं है।
3. आत्मा है, पुनर्जन्म है।

इसाई व इस्लाम दर्शन में आत्म को स्वीकार किया गया है, पुनर्जन्म को नहीं। चार्वाक दर्शन आत्मा, परमात्मा किसी की भी सत्ता नहीं मानते। उनके लिए वर्तमान जीवन ही सब कुछ है। इसलिए उन्होंने कहा—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:॥

उनके अनुसार जब आत्मा ही नहीं तो पुनर्जन्म किसका?

चार्वाकेतर दर्शन की लगभग सभी शाखाओं ने इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। आत्मा त्रैकालिक है। जिसका पूर्व व पश्चात् नहीं होता। उसका मध्य भी नहीं होता। आत्मा वर्तमान में है इससे स्पष्ट है कि इसका पूर्व में अस्तित्व था, भविष्य में अस्तित्व रहेगा और वर्तमान सत्ता इसके अस्तित्व सिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'कोऽहं? कुत: आयात:, क्व गमिष्यामि?'आदि प्रश्नों की श्रृंखला पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उत्सव है।

तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने आत्मा को चैतन्यशील जड़ पदार्थों से सर्वथा भिन्न माना है। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व, पुनर्जन्म का विचार, पुनर्जन्म का मूल कारण कर्म आदि विचार, आत्मा व पुनर्जन्म की पुष्टि के प्रमाण हैं। विभिन्न दर्शनों में इसके संवादी प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैदिक ऋचाओं में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कहा है—'परमात्मा प्राणरूप जीव को भोग के लिए एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट कराता है।' गीता में इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए कहा है—

जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु।
ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥

इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है—'न जायते म्रियते वा' व दूसरे स्थान पर यह भी संकेत दिया गया है 'ते तं मुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' अर्थात् प्राणी स्वर्ग लोक के सुखों को भोगने के लिए अनन्तर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में आते हैं। इसीलिए गीताकार ने अन्यत्र कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाते नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि नवानि देही॥

सांख्यदर्शन में कहा है—'आत्मनो भोगायतनं शरीरं' आत्मा को अपने पूर्वकृत सुख दुःख के उपभोग हेतु बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। विवेकाख्याति तक यह परम्परा चलती रहती है। योग में भी पतंञ्जलि ने कहा है—

'सति मूले तदविपाको जात्यायुर्भोगाः' कर्माशय रहने तक उनका परिणाम, जाति, आयु और भोग है।

न्यायवैशेषिक भी पूर्वकृत कर्म भोगार्थ जन्मान्तर सिद्धि मानते हैं—आत्मनित्यत्वं प्रेत्य भाव सिद्धि। बौद्ध दर्शन में भी त्रिपिटकों में स्थान-स्थान पर स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि शब्दों का उल्लेख है। जातक कथाओं से तो पूर्णतः प्रमाणित होता है कि पुनर्जन्म होता है। कर्मफल भोग भी निश्चित है इतना ही नहीं स्वयं बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पुनर्जन्म में किए प्राणी वध का विपाक बताया है—

इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तस्य कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥

जैनों का प्राचीन आगम आचारांग सूत्र का प्रारम्भ भी इसी संदर्भ से होता है। 'अत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?' अर्थात् मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली नहीं है। मैं पुनर्जन्म में कौन था? यहां से च्युत होकर परलोक में क्या होऊंगा—इस जिज्ञासा के समाधान में आचारांगसूत्र में तीन हेतुओं का निर्देश दिया है। आचारांगभाष्य में इसका विवेचन किया गया है। व्यक्ति पुनर्जन्म का ज्ञान कर सकता है।

3. सेज्जं पुण जाणेज्जा—सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

अर्थ—कोई (मनुष्य) पूर्वजन्म की स्मृति से, पर (प्रत्यक्ष ज्ञानी) के निरूपण से अथवा अन्य (प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा श्रुत व्यक्ति) के पास सुनकर यह जान लेता है, जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूं अथवा दक्षिण दिशा से आया हूं, अथवा पश्चिम दिशा से आया हूं, अथवा उत्तर दिशा से आया हूं, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं, अथवा अधो दिशा से आया हूं, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूं, अथवा अनुदिशा से आया हूं।

1. स्वस्मृति 2. पर व्याकरण 3. दूसरों के पास सुनकर स्वस्मृति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वस्मृति

स्वस्मृति यह प्रथम हेतु है। कुछ बच्चों को बाल्यावस्था में ही पुर्वजन्म की सहज स्मृति प्राप्त होती है। आधुनिक परा-मनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की सहज स्मृति से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का संग्रह किया है। जैन साहित्य में भी इससे सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसका विस्तृत विवेचन आगे प्रसंगवश किया जाएगा।

सुश्रुत संहिता में यह निर्दिष्ट है कि पूर्वजन्म में जो व्यक्ति शास्त्रों के अभ्यास से अपना अन्त:करण भावित कर लेते हैं उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति होती है।

परव्याकरण

यह दूसरा हेतु है। किसी आप्त के साथ व्याकरण प्रश्नोत्तरपूर्वक मनन कर कोई उस ज्ञान को प्राप्त करता है। प्राचीन व्याख्या के अनुसार 'पर' शब्द उत्कृष्टता का वाचक है। धर्म के क्षेत्र में तीर्थंकर उत्कृष्ट होते हैं। इसलिये पर व्याकरण का हार्द है तीर्थंकर द्वारा व्याख्यात। निर्युक्ति में इस अर्थ का समर्थन मिलता है। 'परवचन-व्याकरण ही जिन व्याकरण है, क्योंकि जिन से उत्कृष्ट कोई नहीं है।'

इस विषय में मेघकुमार के जातिस्मृति ज्ञान का उल्लेख करना संगत है। चूर्णि और वृत्ति में गौतम स्वामी के उदाहरण का भी उल्लेख किया गया है। गौतम ने भगवान् वर्द्धमान महावीर से पूछा—भगवन् मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है? भगवान् ने कहा गौतम इसका कारण है मेरे प्रति तुम्हारा अत्यधिक अनुराग। गौतम ने कहा भगवन् ऐसा ही है, ऐसा ही है। भगवान् के प्रति मेरा यह स्नेह किस कारण से है?

भगवान् ने तब उसके साथ अनेक जन्मों का पूर्व-सम्बन्ध बतलाते हुए कहा, गौतम तुम्हारा मेरे साथ लम्बे समय से संसर्ग रहा है। तुम मेरे चिर परिचित हो, आदि। तीर्थंकर की उस वाणी को सुनकर गौतम स्वामी को विशिष्ट दिशागमन में किस दिशा से कहां से आया हूं आदि का ज्ञान प्राप्त हुआ।

दूसरों के पास सुनना

यह तीसरा हेतु है। बिना पूछे किसी अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वत: ही निरूपित तथ्य को सुनकर कोई पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्राचीन व्याख्या के अनुसार 'अन्य' पद से तीर्थंकर के अतिरिक्त सभी विशिष्ट ज्ञानियों का ग्रहण किया गया है। इस विषय में निर्युक्ति की व्याख्या इस प्रकार है—'अन्य के पास सुनकर तीर्थंकरों से अतिरिक्त सभी अन्य है।' चूर्णिकार निर्युक्ति के अर्थ का विस्तार करते हुए नामोल्लेखपूर्वक बताते हैं कि तीर्थंकर से अतिरिक्त जो अन्य केवली, अवधिज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, आठपूर्वी आदि से लेकर आचारधर सामायिकधर, श्रावक या कोई नवपूर्वी सम्यग्दृष्टि—ये सभी व्यक्ति अन्य के अन्तर्गत आते हैं।

कुछ मनुष्यों को पूर्वजन्म की स्मृति जन्मजात नहीं होती, लेकिन किसी निमित्त के मिलने पर उसकी पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है उसके ये कारण निर्दिष्ट हैं—

1. मोहनीय कर्मों का उपशम 2. अध्यवसानशुद्धि (लेश्या विशुद्धि) 3. ईहापोहमार्गणागवेषणाकरण।

1. उपशान्त मोहनीय—'नमिपव्वज्जा' में मोहनीय के उपशम का उल्लेख किया गया है। उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. अध्यवसानशुद्धि—मृगापुत्र ने साधु को देखकर जातिस्मृति प्राप्त की। वहां मोहनीय के उपशम और अध्यवसान-शुद्धि का एक उल्लेख है। उसने वहां जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों का आकार था। मृगापुत्र ने उसे अनिमेष दृष्टि से देखा और मन-ही-मन सोचा, मै मानता हूं कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।

साधु के दर्शन और अध्यवसान पवित्र होने पर मैंने ऐसा कहीं देखा है। इस विषय में वह सम्मोहित हो गया, चित्तवृत्ति सघनरूप में एकाग्र हो गई और विकल्प शान्त हो गए। इस अवस्था में उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। इस प्रकार हरिकेशबल ने भी विमर्श करते हुए जातिस्मृति प्राप्त की।

'चित्रसंभूति' अध्ययन की पृष्ठभूमि में भी जातिस्मृति का उल्लेख है। भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र मुनि को देखकर जातिस्मृति को उपलब्ध हुए और उन्होंने पूर्व आचरित तप, संयम को देखा।

जातिस्मृति से धर्म के प्रति श्रद्धा और संवेग में सहज वृद्धि होती है। इस अनुभव के आधार पर भगवान् महावीर ने अनेक व्यक्तियों को पूर्वजन्म का स्मरण कराया। मेघकुमार मुनि-प्रव्रज्या को छोड़ने के लिये तैयार हो गया तब भगवान् ने उसे तीसरे पूर्वजन्म की स्मृति कराई। मेघकुमार को भी ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए 'शुभ-परिणामों, प्रशस्त अध्यवसाओं, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं तथा तदावरणीय (जातिस्मृति के आवारक) कर्मों का क्षयोपशम होने से संज्ञिपूर्व (समनस्क जन्मों को जानने वाला) जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। सुदर्शन सेठ को भी इसी क्रम से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ।'

3. ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा

इस प्रसंग में ईहा, अपोह मार्गणा और गवेषणा—ये चार पद 'जातिस्मृति' की प्रक्रिया को प्रगट करते हैं।

जैसे ही मेघकुमार ने मेरुप्रभ हाथी का नाम सुना, वहां उसकी ईहा (पूर्व स्मृति के लिये प्रारंभिक मानसिक चेष्टा) प्रवृत्त हुई। उस हाथी को जानने के लिये चित्त में कुछ आन्दोलन शुरु हुआ। उसके बाद अपोह हुआ—क्या मै हाथी था? यह तर्कणा (मीमांसा) करते हुए वह मार्गणा में प्रविष्ट हुआ। अपने अतीत का अन्वेषण करने के लिए वह अपने द्वारा अनुभूत अतीत की सीमा में प्रवेश कर गया। अतीत का चिन्तन करते-करते उसने गवेषणा प्रारम्भ की। जैसे आहार की अन्वेषणा में प्रवृत्त गाय पूर्व प्राप्त आहार के स्थान को प्राप्त कर लेती है वैसे ही गवेषणा करते हुए मेघकुमार को एकाग्र अध्यवसाय से हाथी के रूप में अपने जन्म की स्मृति उपलब्ध हो गई।

1.3.6 पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में पुनर्जन्म

भारतीय दार्शनिक की तरह पाश्चात्य दार्शनिकों को भी स्वीकृत पर कुछ प्राचीन पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी सत्ता स्वीकार नहीं की। अर्वाचीन दर्शन के लेखन, चिन्तन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इसके समर्थक थे। जैसाकि सुकरात ने कहा है—'मृत्यु-स्वप्न विहीन निद्रा है और पुनर्जन्म जागृत लोक के दर्शन करने का द्वार' प्लेटो ने कहा—The soul always weaues her garment a new.

The soul has a natural strength which will hold out and be born many times. हेगल ने इस सम्बन्ध में अपने विचाराभिव्यक्ति करते हुए कहा है—कि 'सभी आत्माएं पूर्णता की ओर बढ़ रही है। डॉ. टी.जी. कलघटगी ने इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—

'The doctrine of karma and conse quent principle at Rebirth are.'

उनके अनुसार यह विशिष्ट द्रष्टाओं के उच्चतम ज्ञान और अनुभूति के द्वारा व्यक्त सिद्धान्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3.7 पुनर्जन्म मनोविज्ञान व विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

मनोविज्ञान की एक शाखा परामनोविज्ञान है जिसके अन्तर्गत इस विषय पर पिछले 50 वर्षों से काफी चिन्तन-मन्थन हो रहा है। परामनोविज्ञान की चार मान्यताएं हैं—1. टेलीपैथी 2. अतीन्द्रिय दृष्टि, 3. पूर्वाभास, 4. विचार सम्प्रेषण (साइकोकाइनेसिस) दूरस्थ वस्तु को शक्ति बल से पास लाना। परामनोविज्ञान की इन मान्यताओं का पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि कोई ऐसा तत्त्व भी है जो अभौतिक है, जिसमें अनेक मानसिक शक्तियां व आध्यात्मिक सच्चाइयां व्यक्त करने की क्षमता है। मृत्यु केवल स्थूल शरीर को ही समाप्त करती है, सूक्ष्म शरीर मरणोपरान्त भी विद्यमान रहता है। जैनदर्शन के अनुसार जिसे सूक्ष्म-शरीर (ते.का.) सांख्य, लिंग शरीर कहा जा सकता है। संसारावस्था में ये निरन्तर साथ रहते हैं। इस चर्चा को वैज्ञानिक संदर्भ में इस प्रकार कहा जा सकता है। वैज्ञानिक पदार्थ की चार अवस्था मानते हैं, ठोस, द्रव्य, गैस व प्लाज्मा। एक अवस्था और खोजी गई जिसे प्रोटोप्लाज्मा या जैवप्लाज्मा कहा जा सकता है। अध्यात्म-योग की भाषा में यह हमारी प्राणशक्ति है। जो प्रोटोप्लाज्मा है और हमारे अस्तित्व का सटीक प्रमाण है। वैज्ञानिकों का यह कहना है कि

प्रोटोप्लाज्मा अमर तत्त्व है। मृत्यु के पश्चात् भी यह रसायन, जो हमारी कोशिकाओं में रहता है। शरीर से अलग होकर वायुमण्डल में बिखर जाता है। वही प्रोटोप्लाज्मा निषेचन की क्रिया के समय जीन्स में शिशु के साथ पुनः ले लेता है।

पुनर्जन्म का सशक्त प्रमाण है—जातिस्मृति। पुनर्जन्म की अवधारणा की पुष्टि। महावीर ने अपने शिष्यों को पुनर्जन्म की स्मृति कराकर संयम में स्थिर किया। मेघकुमार का उदाहरण विख्यात है, जो इस विषय को रोचक व पुष्ट प्रमाणित करता है। आचारांग में जातिस्मृति के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है—ईहा, अपोह, मार्गणा व गवेषणा से चित्त की एकाग्रता बढ़ती है और जातिस्मृति ज्ञान होता है। विज्ञान ने इस स्मृति का कारण प्रोटोप्लाज्मा बताया है। परामनोविज्ञान के अनुसार पुनर्जन्म की स्मृति से पुनर्जन्म की सत्ता को सिद्ध किया जाता है। डॉ. स्टीवेंसन ने पिछले 15 वर्षों में लगभग 1600 घटनाओं के सर्वेक्षण से तथ्यों का विश्लेषण कर निष्कर्ष निकाला है कि अधिकांश घटनाएं सत्य होती हैं, कुछ अपवाद भी हो सकती हैं। इन घटनाओं से इसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है।

जयपुर में एक लड़की जिसका नाम अमिता है। वह छोटी उम्र से ही अपने आपको महारानी गायत्रीदेवी कॉलेज की पॉलिटिकल साइंस की छात्रा बताती है। उसकी छत से गिरने से अचानक मृत्यु हो गई। उसने अपने घर को खोज निकाला। घटना सही थी। कुछ लोगों के तो पूर्व जन्म के मारक चिह्न भी पाये जाते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर 'पुनर्जन्मवाद' का प्रामाण्य दो बातों पर आधारित है—

1. पुनर्जन्म की स्मृति की घटनाएं वास्तविक हैं या नहीं।

2. यदि ये घटनाएं सत्य हैं तो इन्हें केवल पुनर्जन्म के द्वारा ही व्याख्यायित किया जा सकता है।

परामनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक-वृत्तियों व भावनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है, पर कारण का स्पष्टीकरण पुनर्जन्म के आधार पर मानता है व उसी रूप में मीमांसा करता है कि इनके पीछे पुनर्जन्म के संस्कार होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इतना सब कुछ होने पर आज का मानस इसे स्वीकार करने से कतराता है क्योंकि अब प्रथम तो इसकी स्मृति नहीं होती। दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि पुनर्जन्म होता है तो हम आत्मा की गति-आगति क्यों नहीं देखते? इसका समाधान देते हुए कहा जा सकता है कि हम सभी ने गर्भकाल पूर्ण कर जन्म लिया किन्तु हमें गर्भकाल की परिस्थितियों का प्रत्यक्ष बोध नहीं, न स्मृति। बचपन की भी यत्किञ्चित् बातें याद हैं। हमारे पूर्वज थे इसका प्रत्यक्ष-प्रमाण हम स्वयं हैं। किन्तु हमें उनकी भी स्मृति नहीं। व्यवहार-जगत् में भी व्यक्ति बहुत बातों को स्मृति में कैद नहीं रख सकता, अतीत की बात तो दूर वह सुबह की बात भी शाम तक भूल जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्मृति का अभाव इस सच्चाई का निराकरण नहीं कर सकता। यह दोष हमारी स्मृति की कमजोरी का है, इससे वस्तुस्थिति पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। जब बच्चा जन्म लेता है तो पूर्वजन्म की स्मृति रहती है। न्यायसूत्र के अनुसार नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि का कारण पूर्वजन्म की स्मृति है। बच्चे के प्रारम्भिक क्रियाकलाप इसे पुष्ट करते हैं। यथा स्तनपान आवश्यकता पूर्ति न होने पर रोकर स्थिति का विद्रोह करना। पूर्वजन्म के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए हैं, जो इसकी सत्ता को असंदिग्ध बनाते हैं।

1. सह सम्मुइयाए-स्वस्मृति

प्राकृत में स्व-शब्द के दो अर्थ हैं (1) स्वयं, (2) सह यानी साथ। यहां स्वयं अर्थ ही अभिप्रेत है।

दूसरी बात है आत्मा अमूर्त्त है, अतः उसकी गति-प्रगति इन्द्रियों का विषय हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार दूध में मिश्री को चर्म-चक्षुओं से नहीं जान सकते, अदृश्य गुणों का अनुमान मात्र कर सकते हैं, उसी प्रकार शरीर में आत्मा-ज्ञानादि गुणों से जानी जा सकती है। भगवतीसूत्र में उल्लेखित पोट्ट-परिदार (अर्थात् मरकर उसी शरीर में जन्म लेना) का सिद्धान्त पुनर्जन्म की सिद्धि को प्रमाणित करता है। भगवान् महावीर ने मनुष्यणी के गर्भकाल को जघन्य-अन्तर्मुहूर्त्त व उत्कृष्ट 14 वर्ष। कायभवस्थ का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट 24 वर्ष। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने कहा है कि एक जीव गर्भ में 12 वर्ष रहकर मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो सकता है और दूसरी बार पुनः उसी शरीर में 12 वर्ष रह सकता है। आगम की इस व्याख्या से मनोविज्ञान, विज्ञान के सभी तथ्य सूक्ष्म खोज गहरी शोध की अपेक्षा रखते हैं। जहां पहुंचकर विज्ञान व मनोविज्ञान को युग भाषा में उत्तर देना है। आधुनिक-विज्ञान एक बिजली की रेखा की तरह किसी तत्त्व को स्वीकार करती है जो मृत्यु के समय शरीर त्याग कर अन्यत्र चला जाता है। यद्यपि अपनी भाषा में वे इसे आत्मा कहते हैं। किन्तु जैनदर्शन की भाषा में उसे तैजस्-शरीर, कार्मण-शरीर कहते हैं। तब तक पुनर्जन्म होता रहता है। पूर्वजन्म के चिह्न के सम्बन्ध में विज्ञान व मनोविज्ञान मौन है, किन्तु जैनदर्शन पूर्वजन्म में शरीर पर हुए चिह्न वर्तमान जन्म में शरीर पर उसी प्रकार व उसी स्थान पर होने के कारण आनुपूर्वी नाम कर्म मानता है, जिसके कारण आत्मा अपने एक जन्म के शारीरिक चिह्नों को दूसरे जन्म तक ले जाती है। अस्तु निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा त्रैकालिक है। शाश्वत है, पूर्व जन्म और पुनर्जन्म के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला तत्त्व अमूर्त्त है। जब तक आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर रहता है, तब तक यह पुनर्जन्म के चक्रव्यूह से मुक्त नहीं हो सकती। उपर्युक्त मीमांसा से स्पष्ट होता है, आत्मा है, पुनर्जन्म भी है।

2. परवागरणेणं

परव्याकरण अर्थात् प्रश्नोत्तर के द्वारा पूर्वजन्म को जाना जा सकता है। परवागरणेणं का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञानी द्वारा निरूपित भी किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. अण्णेसिं अंतिए सोच्चा

जिज्ञासा का क्रम भी न चले, स्मृति भी न हो पर दूसरों के पास यदि सुनने का अवसर मिले तो पूर्वजन्म की स्मृति संभव है। जातिस्मृति इसका पुष्ट प्रमाण है।

1.4 आश्रव-संवर

आश्रव कर्म आने का द्वार है। कर्मों को आकर्षित करने के हेतुभूत आत्म परिणामों को आश्रव कहा जाता है। उत्तराध्ययन की टीका में लिखा है—**आश्रवति-आगच्छत्यनेन कर्मेत्याश्रवः—कर्मोपादानहेतुर्हिंसादि।**

जिससे कर्मों का आगमन होता है, वह आश्रव है। हिंसा आदि आश्रव कर्मों के उपादान हेतु हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा में कर्मबंध के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलोंके आगमन के द्वारों को आश्रव कहा जाता है।

अकरिस्सं चहं, कारवेसु चहं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि। (1/6)

मैंने क्रिया की थी करवाई थी ओर करने वाले का अनुमोदन किया था। मैं क्रिया करता हूं, करवाता हूं और करने वाले का अनुमोदन करता हूं। मैं क्रिया करूंगा, करवाऊंगा और करने वाले का अनुमोदन करूंगा।

प्रस्तुत सूत्र में नौ विकल्पों के माध्यम से आश्रव पद का विवेचन किया गया है। क्रिया है इसीलिए कर्मबंध है। कर्मबंध है इसलिए दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण होता है। कृत, कारित और अनुमति के भेद से क्रिया तीन प्रकार की होती है। कालत्रय के भेद से उसके नौ विकल्प बन जाते हैं।

1. मैंने क्रिया की थी।
2. मैंने क्रिया करवाई थी।
3. मैंने क्रिया करने वाले का अनुमोदन किया था।
4. मैं क्रिया करता हूं।
5. मैं क्रिया करवाता हूं।
6. मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करता हूं।
7. मैं क्रिया करूंगा।
8. मैं क्रिया कराऊंगा।
9. मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूंगा।

क्रिया कर्म पुद्गलों का आश्रवण करती है। इसलिए इसका दूसरा नाम आश्रव है। वही वास्तव में दिशाओं एवं अनुदिशाओं में अनुसंचरण का हेतु है।

संसार का हेतु है—आश्रव। उसका मुख्य कारण है—राग। राग के वशीभूत होकर प्राणी, हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि आश्रवों में प्रवृत्त होता है।

प्रस्तुत विषय पर स्पष्टतः प्रकाश डालते हुए आचारांग में कहा है जो आस्रव हैं, वे ही परिस्रव हैं। जो परिस्रव हैं, वे ही आश्रव हैं। जो अनाश्रव हैं, वे ही अपरिस्रव हैं। जो अपरिस्रव हैं, वे ही अनास्रव हैं। इन पदों को समझने वाला विस्तार से प्रतिपादित जीवलोक को आज्ञा से जानकर आस्रव न करें।

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा- एए प्प संबुज्झमाणे, लोयं च आणाए अभिसमेच्चा पुढो पवेइयं। (4/12)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो आस्रव हें, वे ही परिस्रव हैं। जो परिस्रव हैं, वे ही आस्रव हैं। जो अनास्रव हैं, वेही अपरिस्रव हैं। जो अपरिस्रव हैं, वे ही अनास्रव हैं। इन पदों (भंगों) को समझने वाला विस्तार से प्रतिपादित जीव-लोक को आज्ञा से जानकर आस्रव न करें।

प्रस्तुत सूत्र एक साथ आस्रव-निर्जरा का संबोध कराने वाला है। कर्म को आकृष्ट करने का हेतुभूत आत्मा का अध्यवसाय आस्रव कहलाता है। कर्म निर्जरण का हेतुभूत आत्मा का अध्यवसाय परिस्रव कहलाता है। परिस्रव का प्रतिपक्षी है अपरिस्रव।

1.4.1 संवर

अन्तर तृप्ति या वृत्ति का निरोध संवर कहलाता है। क्रिया-आश्रव की परिज्ञा संवर है। परिज्ञा दो प्रकार की होती है ज्ञ परिज्ञा/प्रत्याख्यान परिज्ञा। पहले 'ज्ञ' परिज्ञा के द्वारा कर्म समारंभ (आश्रव) को जाना जाता है। फिर 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा 'आश्रव' का निरोध किया जाता है।

अपरिण्णाय-कम्मे खलु अयं पुरिसे, जे इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा णुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे य पडिसंवेदेइ। (1/4)

यह पुरुष, जो क्रिया को नहीं जानता और नहीं त्यागता, वही इन दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसचरण करता है, अपने कृत-कर्मो के साथ सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं में जाता है, अनेक प्रकार की योनियों का संधान करता है और नाना प्रकार के स्पर्शों (आघातों) का प्रतिसंवेदन करता है, अनुभव करता है।

प्रस्तुत विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—क्या कर्म का परित्याग किया जा सकता है? शरीर धारण और जीवन-यात्रा का निर्वहन कर्म के अधीन है। कर्म युक्त व्यक्ति जीवन कैसे जी सकता है? यहां कर्म के प्रत्याख्यान से क्या तात्पर्य है? प्रस्तुत संदर्भ में कर्म के प्रत्याख्यान से तात्पर्य है—असंयममय कर्म (प्रवृत्ति) का प्रत्याख्यान। इससे यह स्पष्ट होता है कि पाप कर्म अकरणीय है।

कर्म-समारंभ की परिज्ञा का निर्देश कर्म की विशुद्धि का निर्देश है। तत्त्वदर्शी भी पदार्थ का परिभोग करता है। वह कर्म से परे नहीं होता। इसलिए सूत्रकार ने कहा है—**"अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा"** तत्त्वदर्शी पुरुष पदार्थ का परिभोग अन्यथा करें। जैसे साधारण मनुष्य असंयत प्रवृत्ति से पदार्थों का परिभोग करता है, संयमी व्यक्ति वैसे नहीं करता, किन्तु वह संयत प्रवृत्ति से उनका परिभोग करता है। संयमपूर्वक किया जाने वाला कर्म अकर्म कहलाता है। उससे कर्मों का बंधन नहीं होता।

1.5 षड्जीवनिकाय की अवधारणा

आचारांग में षड्जीवनिकाय के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है वह सर्वथा मौलिक है। त्रस जीवों का प्रतिपादन अन्यत्र भी उपलब्ध होता है कहीं-कहीं वनस्पति जीवों की चर्चा भी मिलती हैं, किन्तु शेष जीवनिकायों का प्रतिपादन सर्वथा मौलिक है। सूत्रकृतांग आदि उत्तरवर्ती आगमों में भी षड्जीवनिकायवाद की व्यवस्था स्वीकृत है। स्थावर जीव-निकायों का वेदना निरूपण सर्वथा मौलिक है। मनुष्य शरीर के साथ वनस्पति की तुलना भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.5.1 पृथ्वीकाय

पुढविकाइयहिंसा-पदं (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा)

15. तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति।

अर्थ—तू देख! आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर (पृथ्वीकायिक प्राणियों को) परिताप दे रहे हैं।

16. संति पाणा पुढोसिया।

अर्थ—(पृथ्वीकायिक) प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं।

17. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक हिंसा से विरत हो) संयम का जीवन जी रहा है।

18. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।)

19. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसाा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

20. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

21. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दु:ख-प्रतिकार के लिए।

22. से सयमेव पुढवि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढवि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढवि-सत्थं समारंभंते समणुजाणइ।

अर्थ—कोई साधक स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।

23. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है; वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

24. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

25. सोच्चा खलु अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

अर्थ—भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

26. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—(फिर भी) मनुष्य जीवन आदि के लिए (पृथ्वीकायिक जीवनिकाय की हिंसा में) आसक्त होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

27. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढवि-सत्थं संमारंभेमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

पुढविकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (पृथ्वीकायिक जीव का जीवत्व और वेदना बोध)

28. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—मैं कहता हूं—[पृथ्वीकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को (कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है।)

29. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे, अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे, अप्पेगे उयरमब्भे, अप्पेगे उयरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे, अप्पेगे पिट्ठमब्भे, अप्पेगे पिट्ठमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे, अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे, अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे, अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुमिब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे, अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे, अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे, अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे, अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे, अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे, अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे, अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे, अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे।

अर्थ—(इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर, टखने, जंघा, घुटने, ऊरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धे, भुजा, हाथ, उंगली, नख, ग्रीवा, ठुड्डी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट और सिर का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है।)

30. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है।)

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

31. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

अर्थ—जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

32. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

अर्थ—जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

33. तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढवि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं पुढवि-सत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे पुढवि-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं पृथ्वी-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

34. जस्सेते पुढवि-कम्म-समारंभा परिण्णता भवंति, से हु मुणी परिण्णत-कम्मे। —त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके पृथ्वी-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।—ऐसा मैं कहता हूं।

तइओ उद्देसो (तृतीय उद्देशक)

समप्पण-पदं (लक्ष्य के प्रति समर्पण)

35. से बेमि—से जहावि अणगारे उज्जुकडे, णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए।

अर्थ—मैं कहता हूं—जिस (आचरण) से अनगार होता है और जिस (आचरण) से अनगार नहीं होता। जिसका आचरण ऋजु होता है, जो मुक्ति के पथ पर चलता है और जो माया नहीं करता (शक्ति का संगोपन नहीं करता) वह अनगार होता है। (इसके विपरीत आचरण करने वाला अनगार नहीं होता।)

36. जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया। विजहित्तु विसोत्तियं।

अर्थ—वह जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को बनाए रखे, चित्त की चंचलता के स्रोत में न बहे।

37. पणया वीरा महावीहिं।

अर्थ—वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत (समर्पित) हो चुके हैं।

पृथ्वीकाय में जीवत्व सिद्धि हेतु अतीन्द्रिय ज्ञान व आधुनिक विज्ञान दोनों के दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द का मत भी इस दृष्टि से विमर्शनीय है। भगवान् महावीर ने पृथ्वी आदि जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया तथा प्रस्तुत विषय पर सविस्तार चर्चा की। आचारांग भाष्य में इसका विवेचन इस प्रकार है। जिसका आधार भगवतीसूत्र है—

1. पृथ्वीकायिक जीव व्याघातन होने पर छः दिशाओं से निःश्वसन करते हैं तथा व्याघात होने पर 3, चारों दिशाओं से श्वासोच्छ्वास लेते हैं।
2. करण—पृथ्वीकाय के जीवों के दो प्रकार के करण होते हैं। करण से तात्पर्य है प्रवृत्ति, संवेदन व ज्ञान। कहीं करण का प्रयोग शरीर के अर्थ में, कहीं कर्म, इन्द्रिय, कहीं अतीन्द्रिय ज्ञान के निमित्तभूत चैतन्यकेन्द्र और कहीं संवेदन केन्द्र भी किया जाता है।
3. वेदना—शुभाशुभ दोनों प्रकार की वेदना का वेदन करते हैं।
4. शरीरावगाहना—इन जीवों के शरीर की अवगाहना अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं।
5. दृश्यता—इस काय के असंख्य जीवों के पिण्डिभूत शरीर को ही देख सकता है।
6. भोगित्व—पृथ्वीकाय के जीव कामी नहीं होते। उनके एक ही इन्द्रिय होती है। अतः स्पर्शनेन्द्रिय की अपेक्षा भोगी होते हैं।

7-16. आश्रव—उनमें आश्रव, जरा, शोक, उन्माद और संज्ञा आदि होते हैं। उनमें अशुभ पुद्गलजनित, यक्षजनित व मोहोदयजनित तीनों ही प्रकार के उन्माद होते हैं। दस प्रकार की संज्ञाएं होती हैं। उनमें मन का विकास बहुत कम व अव्यक्त होता है। उनमें मूर्च्छा युक्त प्राणी के ज्ञानवत् ज्ञान होता है। पृथ्वीकायिक जीवों में प्रतिक्षण आहार की अभिलाषा होती है।(वृक्ष में सूक्ष्मस्नेह गुणवत पृथ्वी में भी यह होता है।) वनस्पति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीव-वृक्षादि का उपचय होता है। कषायादि भाव पृथ्वीकाय में होते हैं पर इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं बनते, सूक्ष्म होने से। पृथ्वीकाय में प्रथम चार लेश्याएं होती हैं। इससे आभामण्डल की सिद्धि भी होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी आदि जीवों का अस्तित्व है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस संदर्भ में कहा है—जैसे मस्से से मांसांकुर फूटते हैं वैसे ही पर्वत में समान जातीय शिला का उद्भेद होता है। पंचास्तिकाय में एकेन्द्रिय प्राणियों का जीवत्व सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है—जिस प्रकार अण्डे में अन्तर्लीन और गर्भ में स्थित जीवों तथा मूर्च्छित जीवों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जा सकती। यही दशा एकेन्द्रिय जीवों की है। उनकी चेतना अव्यक्त होती है वे बोल नहीं सकते, गंध का ज्ञान नहीं कर सकते, चख नहीं सकते फिर भी उनमें जीवत्व है। इसकी पुष्टि के लिए आचारांग सूत्र में प्रथम अध्याय के द्वितीय उद्देशक में दृष्टान्तों के माध्यम से पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना का बोध कराया है—

यदि कोई मनुष्य जन्म से इन्द्रिय विकल है। उसका छेदन भेदन करने पर उसे वेदना होती है किन्तु वह उसे व्यक्त नहीं कर सकता। यही स्थिति पृथ्वीकायिक जीवों की है। वे वेदना को प्रकट करने में असमर्थ होने पर भी उसका अनुभव करते हैं।

द्वितीय दृष्टान्त से स्वस्थ मनुष्य की उपमा से उपमित करते हुए कहा है इन्द्रिय सम्पन्न मनुष्य के बत्तीस अवयवों का एक साथ छेदन भेदन करने पर वह उसे चेतना होते हुए भी व्यक्त नहीं कर सकता। यही स्थिति पृथ्वीकायिक जीवों की है।

तृतीय दृष्टान्त में उपर्युक्त विषय की पुष्टि में कहा है जैसे कोई पुरुष किसी व्यक्ति को मूर्च्छित करता है और किसी का प्राणवध करता है। वह मूर्च्छित पुरुष जैसे अव्यक्त चेतना वाले पृथ्वीकायिक जीव अव्यक्त वेदना का अनुभव करते हैं। किन्तु वे चेतना शून्य नहीं हैं।

उपर्युक्त तीनों दृष्टान्तों का आचारांग में निर्देश हैं ये दृष्टान्त पृथ्वीकायिक जीवों की सचेतनता तथा मनुष्य शरीर के समान पीड़ा की अनुभूति स्पष्ट करते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी स्थावरकायिक जीव की पुष्टि करता है। पृथ्वीकायिक जीवों की पुष्टि करते हुए विश्वविख्यात वैज्ञानिक "जूलियस हक्सले" ने अपनी पुस्तक "पृथ्वी का पुनर्निर्माण" में पृथ्वी से सम्बन्धित अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। वे अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि पैंसिल की नोक से जितनी मिट्टी उठ सकती है उसमें दो अरब से भी अधिक विषाणु होते हैं। पृथ्वीकाय के जीवों की अवगाहना के सम्बन्ध में गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान् महावीर ने कहा—**"जहन्नेणं अंगुला संखेज्जत्तिभागं उक्कोसेण वि अंगुला संखेज्जाइ भागं।"** जीवों की अवगाहना उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। दूसरे शब्दों में सूई की नोक के बराबर पृथ्वीकाय के भाग में असंख्य जीव होते हैं। ये बातें तो अतीन्द्रिय ज्ञान से सिद्ध हैं। पहले दार्शनिक जगत् के लिए मनोरंजन का साधन थीं। उनकी दृष्टि में पृथ्वी अचल, स्पन्दनहीन, जड़ व निर्जीव थी। किन्तु अब वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा उनके अस्तित्व की सिद्धि होना स्वतः प्रमाण है। सूक्ष्मदर्शी यंत्रों के विकास ने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सजीव है।

प्रस्तुत विषय की स्पष्टता के लिए डॉ. पारसमणि खींचा के विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय के "पर्यावरण विज्ञान विभाग" एवं "भूगर्भ विज्ञान" शास्त्रियों से गहन परामर्श कर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है वे वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वीकायिक जीवों की सजीवता का प्रतिपादन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर्यावरण विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ. आर. के. सिन्हा जिन्होंने 1997 में आइसलैण्ड राष्ट्र में आयोजित पर्यावरण सेमीनार में भाग लिया। डॉ. सिन्हा ने यह तथ्य स्वीकार किया कि पृथ्वी में असंख्य माइक्रोओगेनिज्म (Microorganism) होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी में दो प्रकार के जीव होते हैं—1. एक कोशीय जीव, 2. बहुकोशीय जीव।

विज्ञान की भाषा में पृथ्वी में कुछ अति सूक्ष्म जीव स्थावर (Statistic) होते हैं, जिन्हें विषाणु (Virus) कहते हैं। ये विषाणु जैसे ही किसी जीवित (livingmedia) माध्यम के सम्पर्क में आते हैं तो अपनी असंख्यात (infinite) वृद्धि करते हैं।

इसका शरीर एक कोशिका से बनता है। इसमें एक केन्द्रक होता है। उसमें D.N.A. होता है। जिसमें वंशवृद्धि के गुण होते हैं। इसी कारण यह एककोशीय जीव चयापचय की क्रिया करता है। भूमि को जीवन शक्ति कहा जाता है। इसमें सप्राण, क्रियाशील जीवन शक्ति होती है। मिट्टी में जीव ह्यूमस (Humouse) बनाते हैं। यह कार्य सूक्ष्म कोशीय जीव करते हैं। जिन्हें बैक्टीरिया कहते हैं। इन्हीं की उपस्थिति के कारण भूमि जीवन का माध्यम बनती है। ह्यूमस (Humous) से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है, इसके कारण पौधों का विकास होता है। इसके परिणामस्वरूप पौधों को नाइट्रोजन, नाइट्रेट एवं नाट्राइड यौगिकों के रूप में मिलता है।

भूमि में बैक्टीरिया के अलावा कुछ विषाणु होते हैं। ये अन्य जीवों के सम्पर्क में आते ही तत्काल लाखों-करोड़ों की तादात में वाइरस की वृद्धि(प्रजनन) करते हैं। यह प्रजनन की क्षमता पृथ्वी की सजीवता का प्रमाण है। वंशवृद्धि का घटक तत्त्व D.N.A. है जो एक कोशीय जीव में भी पाया जाता है।

पृथ्वीकाय की सजीवता विज्ञान सम्मत भी है। विज्ञान के अनुसार जिनमें वृद्धि की क्षमता हो। प्रजनन की क्षमता है वे ही जीव हैं अन्य नहीं। पृथ्वीकायिक जीवों में यह क्षमता शास्त्रसम्मत, अतीन्द्रिय ज्ञान सममत व विज्ञान सम्मत दोनों प्रकार से सिद्ध होती हैं।

न्यूजर्सी (अमेरिका) के रटजर्म विश्वविद्यालय के माइक्रो बॉयलोजी विज्ञान विभाग के लगभग 900 पृष्ठों की एक पुस्तक "प्रिंसिपल ऑफ सॉयल माइक्रोबायोलॉजी" लिखी है। उसमें सिद्ध किया है कि चम्मच भर मिट्टी में लाखों सूक्ष्म व असंख्य बैक्टीरिया जीव होते हैं। मिट्टी की सोंधी महक इन्हीं जीवों की देन है। उन्होंने दस हजार प्रकार के माइक्रो जीवों पर अनुसंधान कर विस्मयकारी तथ्य प्रकट किए हैं—जिस प्रकार प्रत्येक जीव में अपने-अपने विशेष गुणधर्म होते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीकाय जीवों में भी अपनी-अपनी विशेषता पाई जाती है। कोई मिट्टी रोग विनाशक होती है कोई रोगवर्द्धक। रूस में 900 चिकित्सा मिट्टी के भण्डार हैं। जर्मनी के गोयटिगेन विश्वविद्यालय में सैद्धान्तिक रूप से यह निश्चित हो चुका है कि मिट्टी से कैंसर रोग का निराकरण संभव है।

आचारांग भाष्य में आचार्य महाप्रज्ञ जी ने स्पष्ट किया है कि "आधुनिक भूवैज्ञानिक भी मानते हैं शिलाखण्ड, पर्वत आदि में भी हानि और वृद्धि होती है उनमें क्लान्ति, चयापचय और मृत्यु चैतन्य के ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं। अभी हाल ही में एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि बद्रीनाथ तीर्थस्थानों की ऊंचाई में गत 70 वर्षों में 107 मीटर की वृद्धि हुई है। वैज्ञानिकों का कहना है हिमालय पर्वत श्रृंखला 100 वर्षों में 10 से.मी. की गति से ऊंची हो रही है। शिवलिंग पर्वत श्रृंखला की वृद्धि भी इसी गति से हो रही है। इसके अलावा वैज्ञानिकों ने शोध के द्वारा 50 वंशों की मिट्टी के दस हजार कुलों का पता भी लगाया है। यह बात जैनदर्शन सम्मत जीवों की योनियों व कुल कोटियों की संख्या का समर्थन करती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निष्कर्ष यह रहा कि मिट्टी सजीव है। व्यवहार में भी हम देखते हैं। मनुष्य शरीर के घावों की तरह खोदी हुई खानें पुनः भर जाती हैं। बच्चों के शरीर की तरह पहाड़ भी बढ़ते हैं। कटे हुए पैर की तरह खान से निकला हुआ पत्थर कभी नहीं बढ़ सकता। ठाणं/भगवती/ व पन्नवणा में भी प्रस्तुत विषय पर विचारणा की गई है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि पृथ्वी सजीव है। आज यह विज्ञान सम्मत भी है कि पृथ्वी के एक कण में अगणित जीव हैं। भूमि स्वतः ऊर्ध्वगमन करती है पर्वत धीरे-धीरे ऊपर उठते हैं। नवीन पर्वत बनते हैं। पृथ्वी की प्रकृति से मानव एवं पर्यावरण दोनों प्रभावित होते हैं। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि पृथ्वीकाय उसी प्रकार से सजीव एवं क्रियाशील है जिस प्रकार अन्य जीव व प्राणी। जिस प्रकार वनस्पति में आहार संज्ञा, भय संज्ञा और मैथुन संज्ञा पाई जाती है। उसी तरह पृथ्वीकाय में भी यह संज्ञा पाई जाती है फिर पृथ्वी निर्जीव है यह विचार ही नहीं रहता।

1.5.2 अप्काय या जलकाय

आउकाइयाणं अत्थित्त-अभयदाण-पदं (जलकायिक जीवों का अस्तित्व और अभयदान)

38. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।

अर्थ—मुनि जलकायिक लोक को आज्ञा (अतिशय ज्ञानी के वचन) से जानकर उसे अकुतोभय बना दे—किसी भी दिशा से भय उत्पन्न न करे।

39. से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।

जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।

अर्थ—मैं कहता हूं—वह (जलकायिक) लोक (के अस्तित्व) को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा को अस्वीकार करे। जो (जयकायिक) लोक (के अस्तित्व) को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है। जो अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है, वह (जलकायिक) लोक (के अस्तित्व) को अस्वीकार करता है।

आउकाइयहिंसा-पदं (जलकायिक जीवों की हिंसा)

40. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक) हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है।

41. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।)

42. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय-कम्म-समारंभेणं उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन जलकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

43. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

44. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

45. से सयमेव उदय-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदय-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदय-सत्थं समणुजाणति।

अर्थ—कोई साधक स्वयं जलकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।

46. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है; वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है।

47. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

48. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

अर्थ—भगवान या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (जलकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

49. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—(फिर भी) मनुष्य जीवन आदि के लिए (जलकायिक जीव-निकाय की हिंसा में) आसक्त होता है।

50. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय-कम्म-समारंभेणं उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

आउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (जलकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध)

51. से बेमि—अप्पेग अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—मैं कहता हूं—[जलकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना-विकल मनुष्य को (कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है।)

52. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

अर्थ—(इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर आदि (द्रष्टव्य, 1/29) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है।)

53. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

54. से बेमि—संतिपाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा।

अर्थ—मैं कहता हूं—जल के आश्रय में अनेक प्राणधारी जीव हैं। (—यह सब दार्शनिक स्वीकार करते हैं, किन्तु)—

55. इहं च खलु भो! अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया।

अर्थ—हे पुरुष! इस अनगार-दर्शन (अर्हत्-दर्शन) में जल स्वयं जीव रूप में निरूपित है।

56. सत्थं चेत्थ अणुवीइ पासा।

अर्थ—(हे पुरुष!) इन जलकायिक जीवों के शस्त्र का अनुचिन्तन कर और (उन्हें) देख।

57. पुढो सत्थं पवेइयं।

अर्थ—भगवान् ने कहा—जलकायिक जीवों के शस्त्र नाना हैं। (उनका प्रयोग करना हिंसा है।)

58. अदुवा अदिण्णादाणं।

अर्थ—अथवा वह अदत्तादान है।

59. कप्पइ णे, कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए।

अर्थ—(आजीविकों और शैवों का मत है—) हम अपने सिद्धान्त के अनुसार पीने के लिए जल ले सकते हैं, भलीभांति ले सकते हैं। (बौद्धों का मत है—) हम अपने सिद्धान्त के अनुसार पीने और नहाने (विभूषा) दोनों के लिए जल ले सकते हैं।

60. पुढो सत्थेहिं विउट्टंति।

अर्थ—वे (अपने शास्त्र का प्रामाण्य देकर) नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा(जलकायिक जीवों की) हिंसा करते हैं।

61. एत्थवि तेसिं णो णिकरणाए।

अर्थ—सिद्धान्त का प्रामाण्य देकर जलकायिक जीवों की हिंसा करने वाले साधु हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो पाते (—उनके हिंसा न करने का संकल्प परिपूर्ण नहीं हो पाता)।

62. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

63. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

64. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय-सत्थं समारंभावेज्जा, उदय-सत्थं समारंभंतेवि ण अण्णे ण समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं जल-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

65. जस्सेते उदय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णात-कम्मे।—त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके जल-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस समय की यह मान्यता थी कि जल सजीव नहीं है। जल जीव नहीं है किन्तु जल में जीव होते हैं। भगवान् महावीर ने "जल स्वयं जीव है" इस तथ्य का प्रतिपादन किया। अप्कायिक जीव सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उनकी प्रतीति के लिए सूत्रकार ने आत्मतुला का निदर्शन देकर कहा—

जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ॥

भगवान् महावीर ने यहां तक कहा कि अप्काय के अस्तित्व को न स्वीकारना, अपने आपको न स्वीकारना है। अप्काय के अस्तित्व का अपलाप अपने अस्तित्व का अपलाप है। यद्यपि अप्काय के जीव न सुनते हैं, न देखते हैं, न सूंघते हैं, न रस का आस्वाद करते हैं और न वे सुख दु:ख का अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। न प्राण का स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है और न ही श्वासोच्छ्वास की क्रिया दिखाई देती है। फिर भी उनमें जीव हैं। इसका संबोध देने हेतु निर्युक्तिकार ने एक हेतु का प्रयोग किया है—

जैसे तत्काल उत्पन्न कलल अवस्था में स्थित हाथी का शरीर तथा जल प्रधान अंडे का शरीर द्रव होने पर भी सचेतन देखा जाता है वैसे ही अप्कायिक जीव भी सचेतन होते हैं।

प्रतिज्ञा—जल सचेतन है।
हेतु—क्योंकि वह द्रव है और शस्त्र से उपहत नहीं है।
व्याप्ति—जो-जो द्रव शस्त्र से अनुपहत होता है, वह सचेतन होता है। उदाहरण के लिए 1. हाथी के शरीर के उपादान कलल की तरह। 2. अनुत्पन्न अवयव वाले और अव्यक्त चोंच आदि विभाग वाले अंडे के मध्य स्थित कलल की तरह।

इसी तथ्य की संपुष्टि के लिए भगवान् ने प्रस्तुत विषय में अनेक तथ्यों को प्रस्तुत किया है—श्वासोच्छ्वास, करण, वेदना, शरीरावगाहना, दृश्यता, योगित्व, आश्रव, जरा, शोक, उन्माद, संज्ञा, ज्ञान, आहार, पर्यव, इन्द्रिय ज्ञान से अज्ञेयता, कषाय, लेश्या आदि की क्रिया व अनुभूति सचेतन प्राणी की तरह अप्काय में भी समान रूप से होती है। कुछ दार्शनिक अप्काय जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उस समय बौद्ध भिक्षु पीने के लिए और स्नान करने के लिए भी सचित्त जल का उपयोग करते थे। आजीवक, शैव आदि केवल पीने के लिए सचित्त जल का उपयोग करते थे। नाना प्रकार के शस्त्रों से जलकायिक जीवों का प्राण वियोजन करते। अपने-अपने शास्त्रों की सम्मति प्रदर्शित कर जलकायिक जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते थे।

1.5.3 तेजस्काय या अग्निकाय

चतउत्थो उद्देसो (चतुर्थ उद्देशक)

तेउकाइयाणं अत्थित्त-पदं (अग्निकायिक जीवों का अस्तित्व)

66. 'से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं' अब्भाइक्खेज्जा।

जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ।

अर्थ—मैं कहता हूं—वह (अग्निकायिक) लोक के अस्तित्व को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा को अस्वीकार करे। जो (अग्निकायिक) लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है। जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह (अग्निकायिक) लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

67. जे दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे।

जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे।

अर्थ—जो अग्नि-शस्त्र के स्वरूप को जानता है, वह संयम को जानता है। जो संयम को जानता है, वह अग्नि-शस्त्र के स्वरूप को जानता है।

68. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजतेहिं सया जतेहिं सया अप्पमत्तेहिं।

अर्थ—उन (मुनियों) ने (ज्ञान और दर्शन के आवरण का) विलय कर इस (अग्निकायिक जीवों के अस्तित्व) को देखा है, जो वीर हैं—साधना के विघ्नों को निरस्त करने के लिए पराक्रमी हैं, जो संयमी हैं—इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाले हैं, जो सदा यमी हैं—क्रोध आदि का निग्रह करने वाले हैं, जो सदा अप्रमत्त हैं—मादकता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक हैं।

तेउकाइयहिंसा-पदं (अग्निकायिक जीवों की हिंसा)

69. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे पवुच्चति।

अर्थ—जो प्रमत्त है, (पाचन, प्रकाश, ताप आदि) अग्नि-गुणों का अर्थी है, वह हिंसक कहलाता है।

70. तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।

अर्थ—यह जानकर मेधावी पुरुष (संकल्प करे—)'अब मैं वह नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमादवश पहले किया है।'

71. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक हिंसा से विरत हो) संयम का जीवन जी रहा है।

72. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधु, 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—अग्निकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।)

73. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे, अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

74. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

75. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

76. से सयमेव अगणि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा अगणि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणि-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

अर्थ—कोई साधक स्वयं अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

77. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है; वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

78. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

79. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

अर्थ—भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (अग्निकायिक जीवों की हिंसा) ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

80. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—(फिर भी) मनुष्य जीवन आदि के लिए (अग्निकायिक जीव-निकाय की हिंसा में) आसक्त होता है।

81. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

तेउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (अग्निकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध)

82. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—[अग्निकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को (कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है।)

83. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

अर्थ—(इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर आदि (द्रष्टव्य, 1/29) का शस्त्र सं भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है।)

84. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है।)

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

85. से बेमि—संति पाणा पुढवि-णिस्सिया, तण-णिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्ठ-णिस्सिया, गोमय-णिस्सिया, कयवर-णिस्सियाः

संति संपातिमा पाणा, आहच्च संपयंति य।
अगणिं च खलु पुट्ठा, एगे संघायमावज्जंति॥
जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति।
जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति।

अर्थ—मैं कहता हूं—पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कचरे के आश्रय में अनेक प्राणी होते हैं; संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी होते हैं। वे ऊपर से आकर नीचे गिर जाते हैं। ये सब प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं। जो प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं, वे (उसकी उष्मा से) मूर्च्छित हो जाते हैं। जो (उसकी उष्मा से) मूर्च्छित हो जाते हैं, वे वहां मर जाते हैं।

86. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

87. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

88. तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं अगणि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं अगणि-सत्थं समारंभावेज्जा, अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं अग्नि-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

89. जस्सेते अगणि-कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे। —त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके अग्नि-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

अग्निकाय के जीवों का अस्तित्व प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ॥

जो अग्निकाय लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। अप्काय की तरह तेजस्काय के जीव भी सूक्ष्म होने के कारण आंखों से दिखाई नहीं देते हैं, फिर भी उनकी प्रतीति के लिए निर्युक्तिकार ने कुछ हेतु प्रस्तुत किए हैं—

जैसे खद्योत (जूगनू) के शरीर की तैजस् परिणति रात्रि में प्रकाशमय होकर प्रदीप्त होती है, उसी प्रकार अग्नि में भी जीव के प्रयोग-विशेष से आविर्भूत प्रकाश शक्ति का अनुमान किया जाता है। जैसे ज्वर की उष्मा जीव में ही पायी जाती है, उसी प्रकार उष्मावान् होने के कारण अग्नि भी जीव है, आचारांग वृत्ति में भी कहा गया है कि अग्नि सचेतन है क्योंकि उसमें उचित आहार—ईंधन से वृद्धि और ईंधन के अभाव में हानि देखी जाती है। आचारांग में स्पष्टत: निर्देश है—तेजस्कायिक जीवों का अस्तित्व है प्रत्यक्ष ज्ञानी उनको साक्षात् जानते हैं। यदि आप उन्हें नहीं जानते हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञानियों की आज्ञा से उनको जानो। इसी तथ्य की पुष्टि में सूत्रकार कहते हैं—**णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा।**
णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा॥

प्रस्तुत सूत्र में लोक शब्द से अग्निकाय को ग्रहण किया गया है। चूर्णि में भी 'लोगो अग्निलोगो' कहकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। आचारांग भाष्य में भाष्यकार ने स्पष्ट निर्देश किया है। तीर्थंकरों ने शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञान और दर्शन के आवरण को दूर कर अग्निकायिक जीवों के विषय में साक्षात्कार करके फिर उसका प्रतिपादन किया।

1.5.4 वनस्पतिकाय

वणस्सइकाइयहिंसा-पदं (वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा)

99. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक हिंसा से विरत हो) संयम का जीवन जी रहा है।

100. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

101. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवो की भी हिंसा करता है।

102. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

103. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाती-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन, के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

104. से सयमेव वणस्सइ-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइ-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

अर्थ—कोई साधक स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

105. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है; वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

106. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझ कर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

107. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

अर्थ—भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

108. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—फिर भी मनुष्य जीवन आदि के लिए (वनस्पतिकायिक जीवनिकाय की हिंसा में) आसक्त होता है।

109. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

वणस्सइकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (वनस्पतिकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध)

110. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—[वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को (कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

111. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

अर्थ—[इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य 1/29) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पति को होती है।)

112. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।)

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

114. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

अर्थ—जो वनस्पतिकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

115. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो वनस्पतिकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

116. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइ-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वनस्पति-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

117. जस्सेते वणस्सइ-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे। —त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके वनस्पति-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में 'वनस्पति जगत्' के लिए 'दीर्घलोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसे दीर्घ लोक कहने के तीन कारण हैं—

1. शरीर की दीर्घता।
2. द्रव्य परिमाण की अनन्तता।
3. कायस्थिति की दीर्घता (उसी काय में बार-बार जन्म-मरण करना) आचारांग चूर्णि और वृत्ति में भी 'वनस्पति' के सम्बन्ध में यही विवरण प्राप्त होता है। पृथ्वी, जल की तरह वनस्पति काय भी सचेतन है, प्राणवान है।

स्थावर जीवों में वनस्पति जीवों की चेतना अत्यधिक स्पष्ट है। पृथ्वी आदि में वनस्पति की तरह चैतन्य स्पष्ट नहीं है। इसलिए मानव शरीर के साथ उसकी तुलना नहीं की गई है। वनस्पति के जीवों की तुलना मानव शरीर के साथ सर्वाङ्गीण रूप से हो सकती है। वनस्पति की मानव शरीर के साथ तुलना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. **इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं।**
2. **इमंपि बुड्ढिधम्मयं, एयंपि बुड्ढिधम्मयं।**
3. **इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं।**
4. **इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति।**
5. **इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं।**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं।

7. इमंपि असासयं, एयंपि असासयं।

8. इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं।

9. इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं।

1. मनुष्य धर्म जन्मधर्मा है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी जन्म धर्मा है।
2. जैसे मनुष्य का शरीर बढ़ता है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी बढ़ता है।
3. जैसे मनुष्य का शरीर चित्तवान् ज्ञानयुक्त होता है वैसे ही वनस्पति का शरीर भी ज्ञानयुक्त होता है। आंवले के पेड़, चकवडे (चक्रमर्द) के पौधे आदि में नींद और जागरण का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। वनस्पतिकाय में ओघ संज्ञा होती है। यह अनिन्द्रिय ज्ञान है। अनिन्द्रिय ज्ञान के दो अर्थ हैं—मन और दूसरा अर्थ है—ओघ संज्ञा। वैज्ञानिकों ने माना है—वनस्पति में कलेक्टिव माइण्ड (ओघसंज्ञा) होता है। वनस्पति के जीवों की ग्रहण क्षमता विचित्र होती है। डॉ. बोगेल, डॉ. बेकस्टर ने प्रस्तुत विषय पर शोध कर यह निष्कर्ष निकाला कि पौधा मनुष्य के भावों को ग्रहण करता है। बेकस्टर ने एक दिन पौधों पर प्रयोग शुरू किए। उसने पोलिग्राफ के संवेदनशील तार से पौधे की शाखाओं को जोड़ दिया। पौधे ने अपनी भावना जतानी शुरू की। गेल्वेनोमीटर की सूई घूमने लगी। उसने देखा—पौधा प्यासा है। उसने पानी डाला। पुनः सूई घूमी, पौधे ने अपना हर्ष प्रकट कर दिया। उसने पौधों को आवेश में लाने के लिए एक पत्ती को तोड़ा और उसे कॉफी में डाल दिया। खास प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने सोचा, जला डालूं। यह चिन्तन आते ही गेल्वेनोमीटर की सूई घूम गई। इससे प्रमाणित हुआ कि वनस्पति मनुष्य के भावों को पकड़ने में समर्थ है।

पौधा हमारे मस्तिष्क के भावों को भी पकड़ लेता है, हजारों प्रयोगों के बाद वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। इस संदर्भ में वैज्ञानिकों ने बड़े विचित्र प्रयोग किए हैं। सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी ने पौधों को अपनी पार्टी का सदस्य घोषित किया है। अन्य साम्यवादी देशों में भी परिवर्तन हुए हैं, दृष्टिकोण बदला है। जैसे-जैसे पेरासाइकोलॉजी का विकास हुआ, वनस्पति जगत् के प्रयोग सामने आए। प्रयोगों के आधार पर सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन हुआ। महावीर ने अतीन्द्रिय ज्ञान से जिन सत्यों का प्रतिपादन किया एवं उन्हें एक सीमा तक वैज्ञानिक उपकरण प्रयोगों के आधार पर सिद्ध करने में सफल हो गए। महावीर ने कहा—वनस्पति आदि में अव्यक्त चेतना है उन्हें कष्ट कैसे होता है। इसे एक उदाहरण से समझाया जा सकता है। एक आदमी आँख से अंधा है, वाणी से मूक है और कानों से बहरा है। आँख और कान—इन दो इन्द्रियों के न होने का मतलब है जगत् से सम्पर्क का विच्छेद। आंख से देखकर या कान से सुनकर हम अपनी भावना व्यक्त करते हैं। जीभ से बोलकर हम अपनी बात कहते हैं। जो व्यक्ति अंधा भी है, बहरा भी है और मूक भी है, वह न बोल सकता है, न देख सकता है, न सुन सकता है। ऐसे प्राणी को अगर कोई सताता है तो क्या उन्हें कष्ट होता है?

हां भंते! होता है।

कैसे होता है?

भंते! कष्ट होता है पर वह उसे प्रकट नहीं कर सकता।

भगवान् ने कहा—इसी प्रकार सूक्ष्म जीवों को चोट पहुंचाने पर कष्ट होता है किन्तु उसके पास न कान है, न आंख है और न जीभ है। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे वे अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दे सकें। उनमें भी निरन्तर प्राणधारा बह रही है। इसलिए वेदना तो होगी ही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महावीर ने इसी बात की संपुष्टि करने के लिए दूसरा उदाहरण दिया। एक आदमी मूर्च्छित हो गया। प्रश्न है—मूर्च्छा में उसे कष्ट होता है या नहीं? हमें इसका पता नहीं चलता, पर अन्त:चेतना में वह कष्ट का वेदन जरूर करता है। मूर्च्छित व्यक्ति कष्ट की अनुभूति करता है, व्यक्त नहीं कर पाता। वैसे ही सूक्ष्म जीव कष्ट का अनुभव करते हैं, चाहे वे उसे व्यक्त न कर पाएं।

आचारांग सूत्र में इन उदाहरणों के द्वारा सूक्ष्म जीवों की संवेदना को व्यक्त किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोग इस संवेदना के तथ्य को और स्पष्ट कर रहे हैं। इस सुख-दु:ख की अनुभूति के बारे में 'माडर्न रिसर्च' पुस्तक में जो व्यापक विश्लेषण किया गया है, उससे यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि सूक्ष्म जगत् में इन्द्रिय चेतना और उससे परे अतीन्द्रिय चेतना का अस्तित्व विद्यमान है।

सूत्रकार ने भगवान् महावीर की वाणी को इन शब्दों में गुम्फित किया है—"मैं कहता हूं"—वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय विकल-अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है। शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।

चूर्णिकार ने यह सूचित किया है—स्वप्न, दोहद, (गर्भकाल में होने वाली इच्छा) रोग आदि अन्य लक्षण भी वनस्पति में पाए जाते हैं। वृत्तिकार ने वनस्पति के स्वप्न के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। दोहद के विषय में यह उल्लेख मिलता है—वृक्षों में इच्छा उत्पन्न करने अथवा उनमें उत्पन्न इच्छा को सिंचन देने अथवा उनके दोहद की पूर्ति करने से फूल, फल आदि का उपचय होता है। वर्तमान में इस विधि से धान्य आदि की वृद्धि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वनस्पति के स्वप्न तथा दोहद के विषय में अभी भी सघन गवेषणा अपेक्षित है।

विशेषावश्यक भाष्य में भी उसकी सजीवता के चिह्न जन्म, वृद्धत्व, जीवन, मृत्यु, व्रणसंरोहण, आहार, दोहद, रोग और रोग चिकित्सा आदि बतलाएं हैं। जैसे वनस्पति स्पर्श से बढ़ने लगती है।

- 0 वनस्पति कुलिंग कीट की भांति स्पर्शमात्र से सिकुड़ती है।
- 0 लताएं वृक्ष आदि के सहारे ऊपर चढ़ती हैं।
- 0 शमी आदि में निद्रा, जागृति, संकोच आदि होते हैं।
- 0 बकुल, अशोक आदि वृक्ष, शब्द रूप आदि विषयों का यथासमय परिभोग करते हैं।
- 0 शस्त्रपरिणति से पूर्व बीजपर्यन्त वनस्पतिकायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाले हैं।

आचारांग व विशेषावश्यक भाष्य का उपर्युक्त वर्णन बहुत समान है। विशेषावश्यक भाष्य में उपर्युक्त बिन्दुओं पर स्पष्टता से विवेचन किया गया है।

1.5.5 त्रसकाय

छट्ठो उद्देसो (षष्ठ उद्देशक)

118. से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।

अर्थ—मै कहता हूं—ये प्राणी त्रस हैं, जैसे—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

119. एस संसारेत्ति पवुच्चति।

अर्थ—वह (त्रसलोक) संसार कहलाता है।

120. मंदस्स अवियाणओ।

अर्थ—(यह संसार) मंद और अज्ञानी के होता है।

121. णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं।

अर्थ—तुम प्रत्येक प्राणी की शांति को जानो और देखो।

122. सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

अर्थ—(तुम जानो और देखो—) सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अशांति अस्वाद्य, महाभयंकर और दु:खद है। —ऐसा मै कहता हूं।

तसकाइयहिंसापदं (त्रसकायिक जीवों की हिंसा)

123. तसंति पाणा पदिसोदिसासु य।

अर्थ—(दु:ख से अभिभूत) प्राणी दिशाओं और विदिशाओं में (सब ओर से) भयभीत रहते हैं।

124. तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा परितावेंति।

अर्थ—तू देख! आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर (त्रसकायिक प्राणियों को) परिताप दे रहे हैं।

125. संति पाणा पुढो सिया।

अर्थ—(त्रसकायिक) प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं।

126. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक हिंसा से विरत हो) संयम का जीवन जी रहा है।

127. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—त्रसकायिक जीवों की भी हिंसा करते हैं।)

128. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय-समारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

129. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

130. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दु:ख-प्रतिकार के लिए—

131. से सयमेव तसकाय-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकाय-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकाय-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

अर्थ—कोई साधक स्वयं त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

132. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है; वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

133. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणामों को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

134. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

अर्थ—भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (त्रसकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

135. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—(फिर भी) मनुष्य जीवन आदि के लिए (त्रसकायिक जीव-निकाय की हिंसा में) आसक्त होता है।

136. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय-समारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

तसकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (त्रसकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध)

137. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—[कुछ त्रसकायिक जीव जन्मना-इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को (कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है।)

138. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

अर्थ—(इन्द्रिय-संपन्न मनुष्य के) पैर आदि (द्रष्टव्य, 1/29) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है।)

139. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीव को होती है।)

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

141. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

142. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

143. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं त्रस-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

144. जस्सेते तसकाय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे। —त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके त्रस-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

त्रसकाय जीवों का निरूपण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—ये प्राणी त्रस हैं, जैसे—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज,सम्मूर्च्छिम, उद्‌भिज्ज और औपपातिक। त्रस जीवों को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

1. सम्मूर्च्छनज 2. गर्भज 3. औपपातिक

रस में उत्पन्न होने वाले जीव रसज कहलाते हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव संस्वेदज कहलाते हैं। पृथ्वी को फोड़कर भूमि से उत्पन्न होने वाले जीव उद्‌भिज कहलाते हैं। ये तीनों प्रकार के जीव समूर्च्छिम की श्रेणी में आते हैं।

जो प्राणी अण्डे विशेष में उत्पन्न होते हैं उन्हें अण्डज कहते हैं जैसे मयूर आदि। जो प्राणी खुले वदन उत्पन्न होते हैं उन्हें पोतज कहते हैं और जो प्राणी किसी झिल्ली विशेष में आवेष्टित होते हैं, उन्हें गर्भज कहते हैं।

उपपात जो प्राणी बिना गर्भ स्थान विशेष में उत्पन्न होते हैं, उसे उपपात कहते हैं। वैक्रिय शरीर से उपपतन अर्थात् जन्म ग्रहण करना। इस विधि (उपपात) से जन्म लेने वाले देव, नारक औपपातिक कहलाते हैं।

त्रसकाय के जीव ही संसरणशील और गतिमान होते हैं, इसलिए उनसे सम्बन्धित लोक को संसार कहा गया है।

जिन जीवों में आगति-गति—आने-जाने का ज्ञान हैं वे त्रस कहलाते हैं। जो संत्रस्त होते हैं, उद्‌विग्न होते हैं, संकुचित होते हैं, डरते हैं तथा त्रास आदि अवस्थाओं में जो इधर-उधर पलायन करते हैं, उन्हें त्रस कहा जाता है। संक्षेप में जो जीव सुख की प्राप्ति व दु:ख की निवृत्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं, उन्हें त्रस कहा जाता है।

आचारांगसूत्र में त्रसकायिक जीवों के वध के प्रयोजनों का निर्देश करते हुए कहा है—

अप्पेगे अच्चाए वहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति
अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति
अप्पेगे हिययाए वहंति, अप्पेगे पित्ताए वहंति
अप्पेगे वसाए वहंति, अप्पेगे पिच्छाए वहंति
अप्पेगे पुच्छाए वहंति, अप्पेगे बालाए वहंति
अप्पेगे सिंगाए वहंति, अप्पेगे विसाणाए वहंति
अप्पेगे दंताए वहंति, अप्पेगे दाढाए वहंति
अप्पेगे नहाए वहंति, अप्पेगे ण्हारुणीए वहंति
अप्पेगे अट्ठीए वहंति, अप्पेगे अट्ठिमिंजाए वहंति
अप्पेगे अट्ठाए वहंति, अप्पेगे अणट्ठाए वहंति
अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति
अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्तिं वा वहंति।

कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं। कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण (हस्तिदंत) दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वध करते हैं। कुछ व्यक्ति प्रयोजनवश प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति इन्होंने मेरे स्वजन-वर्ग की हिंसा की—यह स्मृति कर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति ये मेरे स्वजन वर्ग की हिंसा कर रहे हैं—यह सोचकर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति ये मेरी या मेरे स्वजन-वर्ग की हिंसा करेंगे—इस संभावना से प्राणियों का वध करते हैं।

अच्चाए—अर्चा का अर्थ है शरीर। चूर्णि और वृत्ति में कुछ परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। हाथी को मार कर यदि उसके मृत कलेवर में विष खाए हुए व्यक्ति को रखा जाए तो वह व्यक्ति विष मुक्त हो जाता है। कुछ व्यक्ति लक्षण सम्पन्न पुरुष को, क्षत-विक्षत किए बिना, मारकर विद्या, मंत्र आदि की साधना करते हैं। कुछ लोग बलि, यज्ञ आदि के लिए लक्षण सम्पन्न पुरुषों को मारते हैं।

अजिन का अर्थ है चर्म—कुछ लोग धर्म के लिए सिंह, बाघ, हिरण आदि जानवरों को मारते हैं।

कुछ व्यक्ति मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पांख, पूंछ, केश, सींग, विषाण, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा आदि अवयवों के लिए अनेक जीवों का वध करते हैं।

कुछ लोग प्रयोजन के बिना ही हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। केवल मनोरंजन के लिए व्यक्ति घोड़े की पीठ पर छोटे बच्चों को बांधकर घुड़दौड़ करवाते हैं। भय के कारण पीठ पर बंधे बच्चे चिल्लाते हैं, भय से मर भी जाते हैं किन्तु मूढ़ व्यक्ति अपनी खुशी के लिए दूसरों को मौत के घाट उतार देते हैं। सुख-सुविधा व फैशन के लिए जितनी भी हिंसा की जाती है उसे अनावश्यक हिंसा की श्रेणी में लिया जा सकता है।

प्रतिशोध, प्रतिकार और आंशका के वशीभूत होकर लोग हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

1. इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, इसलिए मैं इसको मारूंगा—यह प्रतिशोध से की जाने वाली हिंसा है।
2. यह मेरे स्वजन-वर्ग को मार रहा है, इसलिए मुझे इसको मार डालना चाहिए—यह प्रतिकार के लिए की जाने वाली हिंसा है।
3. यह जीवित रहा तो मुझे मारेगा, इसलिए मुझे इसको मार डालना चाहिए, यह आशंका से की जाने वाली हिंसा है।

वाउकाइयहिंसा-पदं (वायुकायिक जीवों की हिंसा)

150. लज्जमाणा पुढो पास।

अर्थ—तू देख! प्रत्येक (संयमी साधक हिंसा से विरत हो) संयम का जीवन जी रहा है।

151. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

अर्थ—(और तू देख!) कुछ साधक 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी (गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।)

152. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्म-समारंभेणं वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल न वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

153. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

अर्थ—इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

154. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्ख पडिघायहेउं।

अर्थ—वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

155. से सयमेव वाउ-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउ-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वाउ-सत्थं समारंभंते समणुजाणइ।

अर्थ—कोई साधक स्वयं वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

156. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

अर्थ—वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है; वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

157. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

अर्थ—वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणामों को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

158. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

अर्थ—भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (वायुकायिक जीवों की हिंसा) ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

159. इच्चत्थं गढिए लोए।

अर्थ—(फिर भी) मनुष्य जीव आदि के लिए वायुकायिक जीव-निकाय की हिंसा में आसक्त होता है।

160. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्म-समारंभेणं वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

अर्थ—वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

वाउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं (वायुकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध)

161. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

अर्थ—[वायुकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।]

162. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

अर्थ—(इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर आदि (द्रष्टव्य, 1/29) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है।)

163. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

अर्थ—मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

164. से बेमि—संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति य।
फरिसं च खलु पुट्ठा, एगे संघायमावज्जंति॥
जे तत्थं संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति,
जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थं उद्दायंति॥

अर्थ—मैं कहता हूं—संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी होते हैं। वे ऊपर से आकर नीचे गिर जाते हैं। ये सब प्राणी वायु का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं। जो प्राणी का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं, वे (उसके स्पर्श से) मूर्च्छित हो जाते हैं। जो (उसके स्पर्श से) मूर्च्छित हो जाते हैं, वे वहां मर जाते हैं।

165. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

166. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

अर्थ—जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

167. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वाउ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वाउ-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वायु-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

168. जस्सेते वाउ-सत्थं-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ति बेमि।

अर्थ—जिसके वायु-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

मुणि-संबोध-पदं (मुनि को सम्बोध)

169. एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा।

अर्थ—इस प्रसंग में तुम जानो—(कुछ साधु सुख-सुविधा की भावना से) बंधे हुए होते हैं।

170. जे आयारे न रमंति।

अर्थ—(सुख-सुविधा की भावना से वे बंधते हैं,) जो आचार में रमण नहीं करते।

171. जे आयारे न रमंति।

अर्थ—(जो आचार में रमण नहीं करते,) वे स्वयं आरंभ करते हुए (दूसरों को) आचार का उपदेश देते हैं।

172. छंदोवणीया अज्झोववण्णा।

अर्थ—वे स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त होते हैं।

173. आरंभसत्ता पकरेंति संगं।

अर्थ—(जो स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त होते हैं,) वे आरंभ में आसक्त होकर नई-नई आसक्तियों और नए-नए बंधनों को उत्पन्न करते हैं।

174. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं।

अर्थ—बोधि-सम्पन्न (अहिंसक) के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पापकर्म (हिंसा का आचरण व विषय का सेवन) अकरणीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

175. तं णो अण्णेसिं।

अर्थ—(पाप कर्म अकरणीय हैं; इसलिए अहिंसक) उसका अन्वेषण न करे।

हिंसाविवेग-पदं (हिंसा-विवेक)

176. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

अर्थ—यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं छह जीवनिकाय-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

177. जस्सेते छज्जीव-णिकाय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे।—त्ति बेमि।

अर्थ—जिसके छह जीवनिकाय-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

समीक्षा

आगमों में षड्जीवनिकाय का व्याख्या क्रम इस प्रकार है—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। आचारांग में इस क्रम का उत्क्रम हुआ है। वहां तेजस्काय के पश्चात् वायुकाय को छोड़कर पहले वनस्पतिकाय का निरूपण किया गया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार और टीकाकार ने कहा है कि वायु आंखों से दिखाई नहीं देता इसलिए वह दु:श्रद्धेय है। उस पर श्रद्धा न करने वाला शिष्य विपरीत मत न बना ले, इसलिए क्रम-परिवर्तन किया गया है किन्तु चूर्णिकार का यह हेतु विमर्शनीय है।

व्याख्याकारों का यह हेतु कि "वायु आंखों से दिखाई नहीं देता इसलिए दु:श्रद्धेय है। अत: उसका निरूपण बाद में किया है" यह बात पृथ्वीकाय, अप्काय आदि जीव निकाय पर भी समान रूप से घटित होती है। अत: यह कहना अधिक संगत है कि वायु अचाक्षुष होते हुए भी दु:श्रद्धेय नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन में वायु का प्रतिपादन इष्ट नहीं है, किन्तु वायु की सजीवता का प्रतिपादन इष्ट है। अत: वायु की गतिमत्ता ही क्रम-व्यत्यय का कारण प्रतीत होती है। चार स्थावरकायों का संलग्नरूप से प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद त्रसकाय का प्रतिपादन है। वायु भी त्रसकाय के अन्तर्गत है, इसलिए त्रसकाय के निरूपण के पश्चात् वायुकाय का निरूपण किया गया है।

स्थानांग और तत्त्वार्थसूत्र में अग्नि को भी त्रसकाय माना गया है, किन्तु वायु जिस प्रकार तिरछी गति वाला है वैसे अग्नि नहीं है, इसलिए तेजस्काय का निर्देश स्थावर की शृंखला में ही किया गया है।

विशेषावश्यकभाष्य में भी त्रसकाय के अन्तर्गत वायु को ग्रहण करने के हेतु दिए गए हैं—जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित तिर्यक् गमन करती है, वैसे ही वायु भी तिर्यक् गति करता है। अत: वह सजीव है।

निर्युक्ति में वायुकाय के शस्त्रों का प्रतिपादन किया गया है—

- वायु को उत्पन्न करने वाले व्यंजन—पंखा, तालवृत्त—ताड़ का पंखा, छाज, चामर, पत्र तथा वस्त्र का छोर आदि।
- अभिधारणा—पसीने से लथपथ व्यक्ति का हवा के आगमन के मार्ग पर बैठना या खड़े रहना।
- चन्दन, खस आदि गंध द्रव्यों की सुगंध।
- अग्नि—उसकी ज्वाला तथा गर्मी।
- स्वकायशस्त्र—ठण्डा या गर्म प्रतिपक्ष वायु।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निशीथ भाष्य और चूर्णि में भी एक वायु को दूसरी वायु का शस्त्र माना गया है—ऐसा प्रतिपादन है। बृहत्कल्पभाष्य में क्षेत्र और काल की अपेक्षा से सचित्त, अचित्त वायु का विवेचन प्राप्त होता है।

सूत्रकार ने भी स्पष्ट निर्देश दिया है कि वायुकाय जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है। शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रियविकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है।

जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयों से आक्रान्त हैं, पराभूत हैं, वे वायुकाय हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। सुविधावादी व्यक्ति सुख-सुविधा के लिए आकुल-व्याकुल होकर वायुकाय जीवों की हिंसा करते हैं। जो इन्द्रिय विषयों से आक्रान्त नहीं हैं। अनासक्त चित्तवृत्ति वाले हैं वे पुरुष वायुकाय की हिंसा से उपरत हो सकते हैं।

भगवान् ऋषभ ने जो साधना अपनायी वह अहिंसा की थी। उन्होंने सर्वप्राणातिपात का विरमण किया। यहीं से अहिंसा का स्रोत बहा। उपदेशलब्ध धर्म का प्रवर्तन हुआ। जैन आगमों के अनुसार भगवान् ऋषभ अहिंसा के आदि पुरुष (प्रवर्तक) थे। अहिंसा धर्म मौलिक रूप है, सत्य आदि उसके विस्तार हैं। इसलिए आचार्यों ने लिखा है—'अवसेसा तस्मरक्खट्ठा' शेष व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं। काव्य की भाषा में अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाड़े हैं। अहिंसा जल है और सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं। सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा की कोख से जन्मे हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि भी इतिहास के छोर के समीपवर्ती हैं। उनके समय अहिंसा का प्रचार बहुल मात्रा में हुआ। भगवान् अरिष्टनेमि से भगवान् ऋषभ सुदूर अतीत में हुए थे। फिर भी भगवान् ऋषभ से अहिंसा की जो धारा फूटी थी वह मध्यावधि में कभी-कभी क्षीण होकर भी सूखी नहीं थी।

भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। उनका समय भगवान् महावीर से 250 वर्ष पूर्व (ई.पू. आठवीं शती) था। ऋषभ के बाद यदि किसी दूसरे अहिंसा-प्रवर्तक की व्यापक प्रतिष्ठा है तो भगवान पार्श्व की है। भगवान पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातों का त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है। भगवान् पार्श्व का संघ भगवान् महावीर की संघ स्थापना के बाद तक चलता रहा और क्रमशः वह उसी में सम्मिलित हो गया।

1.6 अहिंसा का स्वरूप

भगवान् महावीर का अस्तित्वकाल ई.पू. पांचवीं-छठी शती है। वे अहिंसा के महान् व्याख्याता और प्रयोक्ता थे। उनके धर्म का सर्वस्व अहिंसा था। यद्यपि उस समय के सभी श्रमण और वैदिक तंत्र पार्श्व की अहिंसा से यत्किंचित् प्रभावित थे, किन्तु उसका सर्वाधिक स्वीकार और विकास महावीर ने किया था।

आचारांगसूत्र में उन्होंने अहिंसा के स्वरूप पर विविध प्रकार से प्रकाश डाला है। 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का मूल आधार भी अहिंसा है।

महावीर ने कहा—'पणया वीरा महावीहि' अहिंसा के प्रति समर्पित वीर पुरुष ही हो सकते हैं। अहिंसा वीरों का मार्ग है कायरों का नहीं। आत्मौपम्य की दृष्टि से अहिंसा का विवेचन इस प्रकार है—

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा।
सव्वेसिं जीवियं पियं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा की परिभाषाएं विभिन्न विचारकों द्वारा विभिन्न भाषाओं में की गई हैं।

भगवान् महावीर ने कहा है—**'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।'**

प्राणीमात्र के प्रति जो संयम है, वही (पूर्ण) अहिंसा है।

सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमन्या हनतं परेसं।
सव्वेसु भूतेसु निधाय दंडं, ये थावरा ये च तसंति लोके ॥

त्रस या स्थावर जीवों को न मारे, न मरावे और न मारने वाले का अनुमोदन करें।

आयुर्वेद में कहा है—**'विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'**

मैं समूचे संसार को मित्र की दृष्टि से देखूं।

'तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः'

पातंजल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सर्व प्रकार से, सर्वकाल में, सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना, उसका नाम अहिंसा है।

'गीता' में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है—

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम्।
न हिंस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम्॥

ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर, भरा हुआ देखकर, हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है। इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्णरूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त होता है, यानी उसे इस विश्व के बृहत्तम तत्त्व ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः॥

मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट नहीं पहुंचाना—इसी को महर्षियों ने अहिंसा कहा है। महात्मा जी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अहिंसा का अर्थ है- सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।'

एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए। (4/2)

यह अहिंसा धर्म शुद्ध , नित्य और शाश्वत हैं आत्मज्ञ अर्हतों ने लोक को जान कर इसका प्रतिपादन किया।

पूर्ण अहिंसा—सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।

अहिंसा स्वरूप का प्रतिपादन सूत्रकार ने इन शब्दों में किया है—**"एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए"**
अहिंसा धर्म शुद्ध स्वरूप वाला है अर्थात् रागद्वेष से रहित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा धर्म नित्य है—अपरिवर्तनीय स्वरूप वाला है।

अहिंसा धर्म शाश्वत है—त्रैकालिक स्वरूप वाला है।

अहिंसा धर्म क्षेत्रज्ञ-प्रवेदित है—तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित है।

जो धर्म अनात्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्रणीत होता है वह राग-द्वेष युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है। वह अपनी बुद्धि से कल्पित होने के कारण परिवर्तनशील होता है, विभिन्न भेदों वाला होता है। इससे यह व्याप्ति (त्रैकालिक नियत) फलित होती है कि जो धर्म आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित होता है वह तात्त्विकरूप से एक होता है। जो तात्त्विकरूप से एक नहीं होता, वह आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित नहीं होता।

अहिंसा धर्म आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा प्रतिपादित है। इससे यह फलित होता है, धर्म का मूल स्रोत है—आत्मज्ञता। बुद्धि धर्म का मूल स्रोत नहीं है। जो आत्मज्ञ होता है वही सर्वज्ञ होता है। आत्मज्ञ ही दु:ख के मूल कारण को जान सकता है।

दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं, जमेयं परिकहिज्जइ। (4/9)

यह अहिंसा-धर्म जो कहा जा रहा है, वह दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात है।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—**दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं, जमेयं परिकहिज्जइ।**

यह अहिंसा सूत्र दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात है।

दृष्ट का अर्थ है—केवलदर्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान) से साक्षात् किया हुआ।

श्रुत का अर्थ है—केवलदर्शनी (प्रत्यक्षज्ञानी) के पास सुना हुआ।

मत का अर्थ है—सुचिन्तित।

विज्ञात का अर्थ है—विवेक का विषय किया हुआ।

1.6.1 अहिंसा क्या?

अहिंसा आत्म संयम का मार्ग है। आत्मार्थी आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, आत्मा की शुभ प्रवृत्ति करने वाला संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला, आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का उद्धार करने वाला साधु अपनी आत्मा को सब पापों से निवृत्त करे।

आचारांगसूत्र में धर्म की परिभाषा बताते हुए लिखा है—प्राणियों को मत मारो, उन पर अनुशासन न करो, अपने अधीन न करो, दास-दासी की तरह पराधीन बनाकर मत रखो, परिताप मत दो, प्राण वियोग मत करो। प्राणी मात्र को आत्मतुल्य समझो। जिसे मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दु:ख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश में करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है, न किसी को मारता है और न किसी की घात करता है। प्रो. तान-युन शान ने अहिंसा के दो रूपों की चर्चा करते हुए लिखा है—अहिंसा भारतीय एवं चीनी संस्कृति का सामान्यतया प्रमुख अंग है। भारत में निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या प्रचलित है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चीन में विधि रूप। गांधीजी ने भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"इस देह में जीवन धारण करने में कुछ-न-कुछ हिंसा होती है। अत: श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा में हिंसा न करना रूप निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या की गई है। आत्मतुला के मर्म को समझे बिना हिंसा-वृत्ति नहीं छूटती इसीलिए अहिंसा में मैत्री रूप विधि और अमैत्री त्याग रूप निषेध दोनों समाए हुए हैं—सब जीवों को समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ—इन शब्दों में अहिंसा के दोनों रूप विद्यमान हैं। विधायक अहिंसा का रूप है सबमें अपने आपको देखो। निषेधात्मक अहिंसा का रूप है—किसी को हानि मत पहुंचाओ।"

1.6.2 अहिंसा का मूल

इति कम्मं परिण्णाय, सव्वसो से ण हिंसति। संजमति णो पगब्भति। (5/51)

इस प्रकार कर्म को पूर्ण रूप से जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता। वह इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।

आचारांगसूत्र के अनुसार अहिंसा का मूल 'संयम' है। सूत्रकार ने कहा है—'कम्म परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति। संजमति णो पगब्भति' कर्म को जानकर बंध के हेतुओं को पूर्णरूप से जानकर हिंसा नहीं करता। अहिंसा का मूल है संयम। संयम करने वाला इन्द्रिय व मन को वश में रखता है। उनके द्वारा होने वाली हिंसा से अपने आपको विरत रखता है। इसलिए दशवैकालिक में भी कहा है **अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो** अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति जो संयम है, वही अहिंसा है।

जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया? (4/8)

जिसे इस अहिंसा-धर्म का ज्ञान नहीं हैं, उसे अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा?

अहिंसा का आधारभूत तत्त्व है—इन्द्रिय विषयों के प्रति विरक्ति।

1.6.3 अहिंसा के उपदेष्टा

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। (4/1)

मैं कहाता हूं-जो अर्हत् भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे- वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं-किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए। उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए।

प्रश्न उठता है किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त सूत्र का प्रतिपादन किसने किया? इस जिज्ञासा का समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं—तीर्थंकर अहिंसा के उपदेष्टा होते हैं। अर्हत् ने इस सूत्र का प्रतिपादन किया है। यह शाश्वत सत्य है, इसलिए अतीत में हुए अर्हतों ने ऐसा प्रतिपादन किया था, वर्तमान के अर्हत् ही ऐसा प्रतिपादन करते हैं और भविष्य में होने वाले अर्हत् भी ऐसा प्रतिपादन करेंगे।

तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सि चेयं पवुच्चइ। (4/4)

यह अहिंसा-धर्म तथ्य हैं। यह वैसा ही है। यह इस अर्हत्-प्रवचन में सम्यग् निरूपित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है—"अस्सिं चेयं पवुच्चइ" यह इस अर्हत् प्रवचन में सम्यक् निरूपित है। किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा सूत्र का तथ्य है।

1.6.4 अहिंसा का मर्मज्ञ व आदेश

ण लिप्पई छणपएण वीरे। (2/180)

वीर पुरुष हिंसा-कर्म से लिप्त नहीं होता।

'ण लिप्पई छणपएण वीरे' वीर पुरुष हिंसा में लिप्त नहीं होता। वह अहिंसा का पालन करता है। प्रस्तुत सूत्र अहिंसा का हृदय है इससे द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा का विवेक किया जाता है। इसीलिए आगे स्पष्ट करते हुए कहा है—

से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे, जे य बंधप्पमोक्खमण्णेसी। (2/181)

जो बन्ध से मुक्त होने की खोज करता है, वह मेधावी अहिंसा के मर्म को जान लेता है।

जो कर्मबन्ध की मुक्ति का अन्वेषण करता है वह मेधावी पुरुष अनुद्घातन को जान लेता है अनुद्घातन का अर्थ है—अहिंसा। उद्घातन का अर्थ है—हिंसा। हिंसा से कर्मबन्ध होता है। अतः कर्मबन्ध की मुक्ति के लिए अहिंसा और उसका हेतुभूत अपरिग्रह का ज्ञान अनिवार्य होता है।

चूर्णि में 'अनुद्घातन' पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से है—'अण' का अर्थ है—कर्म, उसका उद्घातन अर्थात् उत्पादन। अनुद्घातन का अर्थ है—कर्म का उत्पादन।वह मेधावी कर्म के उत्पादन के हेतु को जानता है।

1.6.5 अहिंसा का अधिकारी कौन?

तं जहा—उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा। उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा।
उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा।
संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा।

अर्हतों ने अहिंसा-धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है—जो उसकी आराधना के लिए उठे हैं, जो उपस्थित हैं या अनुपस्थित हैं, जो दण्ड से उपरत हैं या दण्ड से अनुपरत हैं। जो परिग्रही हैं या परीग्रही नहीं हैं। जो संयोग में रत हैं या संयोग में रत नहीं हैं।

धर्म के प्रतिपादन का उद्देश्य सार्वभौम है। उनके लिए दस विकल्प यहां प्रस्तुत हैं, जैसे—

उत्थित—जो धर्म (अहिंसा) के प्रति प्रयत्नशील हैं।

अनुत्थित—जो धर्म के प्रति उदासीन हैं।

उपस्थित—जो धर्म तत्त्व को सुनने और ग्रहण करने के इच्छुक हैं।

अनुपस्थित—जो धर्म तत्त्व को सुनने और ग्रहण करने के इच्छुक नहीं हैं।

उपरत दण्ड—जो संयमी हैं।

अनुपरत दण्ड—जो संयमी नहीं हैं।

सोपधिक—जो हिरण्य आदि उपधि से युक्त हैं, अमीर हैं।

अनुपधिक—जो हिरण्य आदि उपधि से रहित हैं, रंक हैं।

संयोगरत—जो पुत्र, स्त्री आदि के संयोगों से युक्त हैं।

असंयोगरत—जो पुत्र, स्त्री आदि के सम्बन्धों से रहित हैं।

इन सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए क्षेत्रज्ञ, आत्मज्ञ व्यक्तियों ने धर्म का प्रतिपादन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6.6 अहिंसा का ज्ञान सबका ज्ञान

आचारांगसूत्र में कहा है—**जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया? (4/8)**

जिसे इस अहिंसा तत्त्व का ज्ञान नहीं है उसे अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा? प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त णाई-ज्ञाति-ज्ञान। जिसको यह ज्ञात नहीं होता कि इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति और लोकैषणा न करना अहिंसा का आधारभूत तत्त्व है। जो इन्द्रियों का अतिक्रमण करता है वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अन्यत्र सूत्रकार ने अप्रमाद को अहिंसा कहा है।

आवंति केआवंति लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति-से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे-'सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, उद्दवेयव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो। (4/20)

दार्शनिक जगत में कुछ श्रमण और ब्राह्मण परस्पर-विरोधी मतवाद का निरूपण करते हैं। कुछ कहते हैं-'हमने देखा है, सुना है, मनन किया है और भली-भांति समझा है, ऊंची, नीची और तिरछी -सभी दिशाओं में सब प्रकार से इसका निरीक्षण किया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन किया जा सकता है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें दास बनाया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है, उनका प्राण-वियोजन किया जा सकता है। इसमें भी तुम जानों की इसमें कोई दोष नहीं है।

अहिंसा के मत का विरोध करने वाले लोग परस्पर विरोधी मतवाद का प्ररूपण करते हैं। उनके अनुसार प्राणीवध में कोई दोष नहीं है। वे कहते हैं "हमने देखा है, हमने सुना है, मनन किया है, भलीभांति समझा है और चारों ओर से निरीक्षण किया है कि प्राणीवध में कोई दोष नहीं है।" इस प्रसंग को सुनकर आश्चर्य होता है कि कुछ श्रमण और ब्राह्मण भी हिंसा का समर्थन करते थे। हमें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए। अहिंसा की जैसी प्रतिष्ठा आज है वैसी प्रतिष्ठा भगवान् महावीर के युग में नहीं थी। मांसाहार के लिए हिंसा का समर्थन किया जाता था। लोग धर्म के लिए याज्ञिकी हिंसा भी करते हैं। आचारांगसूत्र में अन्य मतावलम्बियों के हिंसा सम्बन्धी विचारों का उल्लेख मिलता है।

वयं पुण एवमाइक्खामा, एवं भासामो, एवं परूवेमों, एवं पण्णवेमों-'सव्वे पाण सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो। (4/23)

'हम इस प्रकार आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपणा करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए। इसमें भी तुम जानों कि अहिंसा (सर्वथा) निर्दोष है।

अनेकान्त के प्रतिपादक भगवान् महावीर ने कहा—हम इस प्रकार आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपणा करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए। (इसमें भी तुम जानो कि अहिंसा सर्वथा निर्दोष है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए आचारांग में कहा है—

पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो-हंभो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं? (4/25)

सर्वप्रथम दार्शनिकों को अपने अपने सिद्धान्तों में स्थाापित कर हम पूछेंगे-हे दार्शनिकों! क्या आपको दु:ख प्रिय है या अप्रिय?

अहिंसा के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने पर भी यदि अविद्वान् (अन्य अज्ञानी) व्यक्ति उसको सम्यक् प्रकार से स्वीकार नहीं करते हैं तो वहां उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। यदि विद्वान् परिषद् हो तो वहां वाद की स्थापना करनी चाहिए। इसका क्रम यह है कि पहले प्रतिवादी दार्शनिक को यह शपथ दिलाकर कि आप यथार्थ कहेंगे अयथार्थ नहीं। अथवा उनको अपने-अपने सिद्धान्तों में स्थापित कर प्रश्न उपस्थित करना चाहिए—हे दार्शनिको! क्या आपको दु:ख प्रिय है या अप्रिय? ऐसा पूछने पर यदि वे दार्शनिक कहें कि हमें दु:ख प्रिय है तो उनके सिद्धान्त का निरसन यह कहकर कर दिया जाए कि आपकी बात प्रत्यक्ष ही आगम विरुद्ध है, लोक विरुद्ध है।

समिया पडिवन्ने यावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिववाणं महब्भयं दुक्खं।-त्ति बेमि। (4/26)

यदि आप कहें, हमें दु:ख प्रिय नहीं है, तो आपका सिद्धान्त सम्यग् है। इम आपसे कहना चाहिते हैं कि जैसे आपको दु:ख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए दु:ख अप्रिय, अशान्तिजनक और महाभयंकर है।

- ऐसा मै कहता हूं ।

यदि वे कहें—'हमें दु:ख अप्रिय हैं तब उन्हें आप यह कहें कि आपको ही दु:ख अप्रिय नहीं है किन्तु सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को दु:ख अप्रिय, अशांतिजनक और महाभयंकर है।' इसलिए आचारांग में कहा है—उवेह एणं बहिया य लोयं—अहिंसा से विमुख इस जगत् की उपेक्षा करनी चाहिए। प्रस्तुत संदर्भ में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि अहिंसा से विमुख दार्शनिक जगत् की उपेक्षा करनी चाहिये।

उवेह एणं बहिया य लोयं, से सव्वलोगंसि जे केइ विण्णू। अणुवीइ पास णिक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलिय चयंति। (4/27)

अहिंसा से विमुख इस जगत की तू उपेक्षा कर। जो ऐसा करता है, वह समूचे जगत में विज्ञ होता है। तू अनुचिन्तन कर देख, हिंसा को छोड़ने वाले मनुष्य ही कर्म को क्षीण करते हैं।

उपेक्षा के दो प्रकार हैं—1. समीप से देखना उपेक्षा 2. अप्रवृत्ति रूप उपेक्षा।

अहिंसा से परान्मुख सिद्धान्तों की उपेक्षा करना, इनके प्रति तटस्थ रहना विज्ञ व्यक्ति का काम है।

1.6.7 अहिंसा के बाधक तत्त्व

दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा। (4/6)

वह विषयों के प्रति विरक्त रहे।

अहिंसा के अनुपालन में दो बाधाएं हैं। 1. विषयासक्ति 2. लोकैषणा। आचारांग में कहा है—दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा— विषयों के प्रति विरक्ति। अहिंसा व्रत की अनुपालना में विषयासक्ति बहुत बड़ी बाधा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जब तक व्यक्ति की चेतना इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहती है तब तक अहिंसा व्रत का पालन नहीं हो सकता। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है—अहिंसा का आराधक इन्द्रिय विषयों के प्रति अनासक्त रहे। इनका वेदन-आस्वादन न करें। अहिंसा व्रत की अनुपालना में दूसरी बाधा है—लोकैषणा। जो देखा जाता है वह

लोक है। लोक तात्पयार्थ है—इन्द्रिय विषय। साधक उसकी एषणा न करें। इसका वैकल्पिक अर्थ यह भी हो सकता है 'सभी प्राणी इन्द्रिय विषयों की एषणा करते हैं तो मैं क्यों न करूं' ऐसा सोचना लोकैषणा है।

अहिंसा का आराधक इस लोकैषणा को न करें इस लोकैषणा में हिंसा की प्रवृत्ति होती है। उत्तराध्ययनसूत्र से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई॥

'मैं लोक समुदाय के साथ रहूंगा' (जो उनकी गति होगी, वही मेरी होगी)—ऐसा मानकर बाल-अज्ञानी धृष्ट बन जाता है। वह कामभोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

तओ से दंडं समारंभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसई॥

'फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दंड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।'

तं आइइत्तु ण णिहे ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा। (4/5)

आचारांगसूत्र में कहा गया है—पुरुष अहिंसा व्रत को स्वीकार कर उसमें छलना न करे और न उसे छोड़े। धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जान कर आजीवन उसका पालन करे।

पुरुष उस अहिंसा व्रत अथवा रोचक और कारक सम्यक् दर्शन को स्वीकार कर उसमें छलना न करे और न उसे छोड़े। जैसे—कुछ भिक्षु भिक्षु-व्रतों को स्वीकार कर उत्प्रव्रजन करते हैं—भिक्षु-दीक्षा को त्याग देते हैं, वैसा न करे, किन्तु भिक्षु-व्रतों का यावज्जीवन पालन करे। इसका कारण है, धर्म का जैसा स्वरूप है वैसा उसको जानना चाहिए, जिससे कि उसको छोड़ने का प्रश्न ही न उठे। भिक्षु व्रत की मनीषा हृदयंगम हो जाने पर क्या कोई स्थितात्मा पुरुष उसको छोड़ना चाहेगा? वही छोड़ना चाहेगा जो अस्थितात्मा है। प्रव्रज्या का निक्षेपण नहीं होना चाहिए किन्तु उसमें रहते प्राणों का विसर्जन ही होना चाहिए। दशवैकालिक में कहा है—'भिक्षु शरीर को त्याग दे किन्तु धर्म-शासन को न छोड़े।' अर्थात् अहिंसा-व्रत का सम्यक् पालन करें।

आचारांगसूत्र में पूर्ण अहिंसा का पालन करने के लिए निर्देश दिया है—तीन करण तीन योग से हिंसा का प्रयोग न करे। ऐसा करने वाला अहिंसा के प्रति समर्पित हो सकता है।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं।
काएहिं दंडं समारंभावेज्जा, नेवण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा।

मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर इन सूक्ष्म जीव-कायों के प्रति स्वयं दंड का प्रयोग न करे, दूसरों से न करवाए और करने वालों का अनुमोदन न करे।

मेधावी मुनि उस कर्मसमारंभ का विवेक कर इन पृथ्वी आदि जीवनिकायों के प्रति तीन करण, तीन योग से दंडं-समारंभ का परित्याग करे। यही इसका हार्द है। यह मुनि का आचार है। मुनि अहिंसा महाव्रत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की साधना के लिए समर्पित होता है। उसने तीन करण और तीन योग से कर्म-समारंभ का परित्याग किया है। ऐसी साधना अहिंसा के प्रति समर्पित व्यक्ति के लिए ही संभव है, दूसरों के लिए नहीं।

अहिंसा का साधक तत्त्व है—अभय। आचारांग में कहा है कि दंडभीरू, मेधावी कर्म-समारंभ का विवेक करे। अन्य किसी प्रकार के दंड का प्रयोग न करे। क्योंकि अभय अहिंसा के आचरण का विशष्ट हेतु है। भयभीत व्यक्ति अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता। जो सर्वात्मना अभय होता है वही दंड-भीरू होता है। अभय और दंड-भीरू इन दोनों पदों में कोई विरोध नहीं है। जो जीवों के वध से डरता है वही दंड-भीरू होता है। वैसा व्यक्ति न जीवों से डरता है, न डराता है। इसीलिए वह अभय होता है। वही दंड-समारंभ से विरत होता है।

नरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति अंजू। (4/28)

देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते हैं।

अहिंसा की सम्यक् अनुपालना करने के लिए अनासक्त होना आवश्यक है। आचारांग में कहा है—नरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति अंजू—देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि जब तक मनुष्य मृतार्च नहीं होता, तब तक यथार्थ में वह धर्म का ज्ञाता नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि वह धर्म (अहिंसा) को सुनता हुआ, पढ़ता हुआ भी उसका आचरण नहीं करता।

धर्मविद् ऋजु होता है अथवा जो ऋजु होता है वह धर्मविद् होता है—ऐसा उभयपक्ष से कथन किया जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—जो ऋजु होता है उसकी विशुद्धि होती है। धर्म शुद्ध व्यक्ति में ही अवस्थित हाता है। अहिंसा का पालन ऋजु ही कर सकता है।

1.7 सारांश–अस्तु आचारांग जैनागमों में एक महत्वपूर्ण आगम है। इस आचार का रत्नाकर कहा जा सकता है।

1.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. आचारांगसूत्र का परिचय देते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालें।
2. आचारांग के आधार पर आत्मवाद पर निबन्ध लिखें।
3. पुनर्जन्म पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।
4. षड्जीवनिकाय का विस्तृत विवेचन करें।
5. आचारांग की विषय वस्तु पर विस्तार से प्रकाश डालें।
6. आचारांग की प्रासंगिता को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. हिंसा क्या है?
2. अहिंसा के अधिकारी कौन हैं?
3. आयारो में हिंसा का स्वरूप क्या है?
4. आत्मदर्शन का परिणाम क्या है?
5. आयारो के व्याख्या ग्रन्थों का उल्लेख करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. क्या आत्मा ज्ञान और ज्ञाता दोनों हैं।
2. सत्ता का अर्थ क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. भगवतीसूत्र में चेतना को क्या कहा है?
4. शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का मूल आधार क्या है?
5. जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग ..... है।
6. द्वादशांगी में ..... का पहला स्थान है।
7. निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचारांग को भगवान् और ..... कहा है।
8. आत्मविद्या के पुरस्कर्त्ता ..... थे।
9. संयमपूर्वक किया जाने वाला कर्म ..... कहलाता है।
10. आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में 'वनस्पति जगत्' के लिए ..... शब्द का प्रयोग किया गया है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. हां 2. अस्तित्व 3. जीव का लक्षण 4. अहिंसा 5. आगम
6. आचारांग 7. वेद 8. क्षत्रिय 9. अकर्म 10. दीर्घलोक।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. आयारो 2. आचारांग निर्युक्ति 3. समवायांग 4. सूत्रकृतांगचूर्णि 5. आचारांगभाष्य
6. सुत्तनिपात्त 7. गीता 8. पातञ्जलयोगदर्शन 9. उत्तराध्ययनसूत्र

लेखिका–साध्वी शुभ्रयशा

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : सूत्रकृतांग का परिचयात्मक अध्ययन

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 आगम शब्द का अर्थ, पर्याय एवं परिभाषा
  2.2.1 आगम शब्द का अर्थ
  2.2.2 पर्यायवाची शब्द
  2.2.3 आगम परिभाषा
  2.2.4 सूत्रकृतांग के नाम
2.3 सूत्रकृतांग का आकार और प्रकार
  2.3.1 स्वरूप एवं विषयवस्तु
  2.3.2 प्रथम श्रुतस्कन्ध
  2.3.3 द्वितीय श्रुतस्कन्ध
  2.3.4 रचनाकार और रचनाकाल
  2.3.5 रचनाशैली
  2.3.6 व्याख्या ग्रन्थ
2.4 सूत्रकृतांग प्रथम अध्ययन एक परिचय
  2.4.1 पहला उद्देशक
    2.4.1.1 बंधन और बंधनमुक्ति विवेचन
    2.4.1.2 पंचमहाभूतवाद
    2.4.1.3 एकात्मवाद
    2.4.1.4 तज्जीव–तच्छरीरवाद
    2.4.1.5 अकारकवाद
    2.4.1.6 आत्मषष्ठवाद
    2.4.1.7 पंचस्कन्धवाद और चतुर्धातुवाद
    2.4.1.8 एकान्तवादी दर्शन की निस्सारता
  2.4.2 दूसरा उद्देशक
    2.4.2.1 नियतिवाद
    2.4.2.2 अज्ञानवादियों के दो रूप
    2.4.2.3 कर्मोपचय निषेधवाद; क्रियावादी दर्शन
  2.4.3 तृतीय उद्देशक
    2.4.3.1 आधाकर्म दोष का प्रतिपादन
    2.4.3.2 आधाकर्म दोषयुक्त आहार की पहचान
    2.4.3.3 जगत् कर्तृत्व के विषय में विभिन्न दर्शनों की चर्चा
  2.4.4 चौथा उद्देशक
    2.4.4.1 याचना का सिद्धान्त
    2.4.4.2 लोकवाद परस्पर विरुद्ध विचार
    2.4.4.3 अहिंसा का स्वरूप
    2.4.4.4 भिक्षुक की चर्या: चारित्रशुद्धि के लिए उपदेश
2.5 सारांश
2.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.0 प्रस्तावना

धार्मिक आस्था और धर्म के प्रचार-प्रसार में उसके मौलिक एवं आधारभूत वाङ्मय का विशिष्ट महत्त्व होता है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म के अपने पवित्र ग्रन्थ हैं, जिनमें उस धर्म के मूल सिद्धान्त, आदेश और उपदेश सन्निहित हैं। सूत्रकृतांग श्वेताम्बर जैन परम्परा का द्वितीय महत्त्वपूर्ण आगम है। सूत्रों के द्वारा इसमें तत्वबोध किया जाता है इसलिए इसे सूत्रकृतांग कहा जाता है। इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है। प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत इन्हीं बिन्दुओं का संक्षिप्त अध्ययन किया जायेगा।

2.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से सूत्रकृतांग का सम्यक् ज्ञान कर सकेंगे।

2.2 आगम शब्द का अर्थ, पर्याय एवं परिभाषा

वैदिक-परम्परा में 'वेद,' बौद्धों में 'त्रिपिटक', ईसाइयों में 'बाईबिल', पारसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरान शरीफ' ऐसे ही पवित्र और पूज्य धर्म-ग्रन्थ हैं। इसी क्रम में जैन धर्माविम्बियों के धर्म-ग्रन्थों को 'आगम' कहा जाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की वाणी इन्हीं आगम ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित है।

2.2.1 आगम शब्द का अर्थ

आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम' धातु से निर्मित हुआ है, जिसमें 'आ' का अर्थपूर्ण और 'गम' का अर्थ गति या प्राप्ति है। आचारांग में आगम शब्द जानने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

2.2.2 पर्यायवाची शब्द

जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों को सामान्यतया आगम कहा जाता है, परन्तु अतीतकाल में ये ग्रन्थ 'श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। अनुयोगद्वार, विशेषावश्यक भाष्य में आगम के लिये सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में श्रुत, आप्त, वचन, आगम, उपदेश, एतिह्य, आम्नाय, प्रवचन एवं जिनवचन आदि को आगम कहा है। इस तरह 'आगम' शब्द के विभिन्न पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं।

2.2.3 आगम परिभाषा

विभिन्न ग्रन्थकारों, विद्वानों एवं आचार्यों ने आगमों की अनेक परिभाषाएं दी हैं, यथा— 1. 'सर्वज्ञप्रणीतोपदेशे'—आप्त का कथन आगम है। 2. जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है। 3. जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम है। जैन आगम दो भागों में विभक्त हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

2.2.4 सूत्रकृतांग के नाम

प्रस्तुत आगम सूत्रकृतांग अंग प्रविष्ट का दूसरा अंग है। समवायांग, नंदी और अनुयोगद्वारसूत्र में इस आगम का दूसरा नाम 'सूयगड़ो' प्राप्त होता है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने प्रस्तुत आगम के लिये तीन शब्दों का प्रयोग किया है—'सूतगडं, सुत्तकडं, सूयगडं चेव गोण्णाइं'।

1. सूतगड — सूतकृत
2. सुत्तकड — सूत्रकृत
3. सूयगड — सूचाकृत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन नामों की व्याख्या इस प्रकार की गई हैं—

1. प्रस्तुत आगम श्रमण भगवान् महावीर से सूत रूप में उत्पन्न है तथा ग्रन्थ रूप में गणधर द्वारा कृत है इसलिये इसका नाम 'सूतकृत' है।
2. सूत्रों के द्वारा इसमें तत्त्वबोध किया जाता है, एतदर्थ इसका नाम 'सूत्रकृत' है।
3. इसमें 'स्व' और 'पर' समय की सूचना की गई है, इसलिये इसका नाम 'सूचाकृत' है। इसमें दार्शनिक अंश अधिक है।

2.3 सूत्रकृतांग का आकार और प्रकार

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं। समवाय और नंदी में इसका उल्लेख मिलता है। प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। इसका उल्लेख समवाय, नंदी, उत्तराध्ययन और आवश्यक में है। उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम श्रुतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचना–बन्ध	परिमाण
01. समए (समय)	4	पद्य	श्लोक 88
02. वेयालिए (वैतालीय)	3	"	" 76
03. उवसग्गपरिण्णा(उपसर्गपरिज्ञा)	4	"	" 82
04. इत्थीपरिण्णा (स्त्रीपरिज्ञा)	2	"	" 53
05. णरयविभत्ती (नरकविभक्ति)	2	"	" 52
06. महावीरत्थुई(महावीर स्तुति)	0	"	" 29
07. कुसीलपरिभासितं (कुशीलपरिभाषित)	0	"	" 30
08. वीरियं (वीर्य)	0	"	" 27
09. धम्मो (धर्म)	0	"	" 36
10. समाही (समाधि)	0	"	" 24
11. मग्गे (मार्ग)	0	"	" 38
12. समोसरणं (समवसरण)	0	"	" 22
13. आहूत्तहीयं (यथातथ्य)	0	"	" 23
14. गंथो (ग्रन्थ)	0	"	" 27
15. जमईए (यमकीय)	0	"	" 25
16. गाहा (गाथा)	0	"	सूत्र 6

दूसरा श्रुतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचना–बन्ध	परिमाण
01. पोंडरीए (पौण्डरीक)	0	गद्य	सूत्र 72
02. किरियाठाणे (क्रियास्थान)	0	"	" 81
03. आहारपरिण्णा (आहारपरिज्ञा)	0	"	" 102
04. पच्चक्खाणकिरिया (प्रत्याख्यानक्रिया)	0	"	" 25

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

05. आयारसुयं (आचारश्रुत)	0	पद्य	श्लोक 33
06. अद्दइज्जं (आर्द्रकीय)	0	"	" 55
07. णालंदइज्जं (नालंदीय)	0	गद्य	सूत्र 38

प्रस्तुत आगम की पद संख्या 36 हजार बतलाई गई है।

2.3.1 स्वरूप एवं विषयवस्तु

समवायांग तथा नंदी में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुये लिखा है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षित श्रमणों के लिये आचरणीय हित-शिक्षाओं का उपदेश है। इसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी और 32 विनयवादी इस प्रकार 363 पर-मतों का निरसन करते हुये स्वमत की प्रतिष्ठा की गई है।

2.3.2 प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन 'समय' है। यहाँ परिग्रह को बन्ध और हिंसा को वैर-वृत्ति का कारण बताते हुये परवादियों का परिचय दिया गया है। तथा इसमें भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, अकारकवाद, क्रियावाद, नियतिवाद आदि का परिचय देकर इन सबका निरसन किया है।

द्वितीय अध्ययन 'वैतालिक' में पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीषह-जय, कषाय-जय आदि का उपदेश दिया गया है और सूर्यास्त के बाद साधक को विहार करने का निषेध किया है तथा काम, मोह से निवृत्त होकर आत्मभाव में रमण करने का उपदेश दिया गया है। इसमें तीन उद्देशक हैं।

तीसरे 'उपसर्ग' अध्ययन में अनुकूल व प्रतिकूल परीषह का वर्णन कर प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अनुकूल परीषह अधिक भयावह है, यह बताया गया है। अध्ययन के अंत में 'ग्लान-सेवा' व 'उपसर्ग-सहन' करने पर बल दिया है। इसके चार उद्देशक हैं।

'स्त्री परिज्ञा' नामक चतुर्थ अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया गया है। इसमें स्त्रीसंसर्ग से शीलनष्ट साधक एवं शीलभ्रष्ट साधक की दशा का वर्णन करके स्त्री-सहवास से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है। इसमें दो उद्देशक हैं।

पंचम अध्ययन का नाम **'नरक-विभक्ति'** है। नरक में जीव को किस प्रकार के भयंकर कष्ट भोगने पड़ते हैं—यह बताया गया है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में नरकों का वर्णन है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में सात महानरकों का वर्णन है। भागवत में 28 नरक बताये हैं। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात के 'कोकालिय' नामक सुत्त में नरकों का वर्णन है। यह वर्णन प्रस्तुत अध्ययन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं।

'वीरस्तुति' नामक **छठे अध्ययन** के वर्णन में श्रमण भगवान् महावीर की विविध उपमाएँ देकर स्तुति की गई है। यह महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति है। इसमें भगवान् महावीर के गुणों का हृदयग्राही वर्णन है। इसमें महावीर को हाथियों में ऐरावत हाथी, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया गया है।

सप्तम अध्ययन 'कुशील' विषयक है। इसमें शील, अशील और कुशील का वर्णन है। कुशील का अर्थ अनुपयुक्त व अनुचित व्यवहार वाला जो साधक असंयमी हैं, जिनका आचार विशुद्ध नहीं है, उनका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिचय प्रस्तुत अध्ययन में दिया गया है। यहीं तीन प्रकार के कुशीलों की भी चर्चा की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. **अनाहार संपज्जण**—आहार में मधुरता पैदा करने वाले नमक आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले।

2. **सीओदग सेवण**—शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले।

3. **हुएण**—होम से मोक्ष मानने वाले।

शास्त्रकार ने दृष्टान्त देकर इन मतों का खण्डन किया है और बताया है कि 'राग-द्वेष, काम, क्रोध और लोभ का अंत करने वाला ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।' इस अध्याय में 30 गाथाएँ हैं।

अष्टम अध्ययन 'वीर्य' से सम्बन्धित है। सूत्रकार ने अकर्मवीर्य- पण्डितवीर्य और कर्मवीर्य-बालवीर्य ये दो प्रकार बताये हैं। अकर्मवीर्य में संयम की प्रधानता होती है। पण्डितवीर्य को मुक्ति का कारण बताया गया है।

नवां अध्ययन 'धर्म' है। इसमें भगवान् महावीर द्वारा बताये गये धर्म का निरूपण है। निर्युक्तिकार ने कुलधर्म , नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, गणधर्म, संघधर्म, पाखण्डधम्र, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म आदि अनेक रूपों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। धर्म के मुख्य रूप से दो भेद हैं—1. लौकिक धर्म और 2. लोकोत्तर धर्म। प्रस्तुत अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है।

दसवाँ अध्ययन 'समाधि' है। समाधि का अर्थ तुष्टि-संतोष, प्रमोद, आनन्द है। इसमें 1. भाव, 2. श्रुत, 3. दर्शन, 4. आचार—इन चार प्रकार की समाधियों का वर्णन किया गया है।

एकादश अध्ययन का नाम **'मार्ग'** है। इसमें समाधि के लिए साधक को ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तपोमार्ग का आचरण करना चाहिए—यह उपदेश दिया गया है।

बारहवें अध्ययन का नाम **'समवसरण'** है। प्रस्तुत अध्ययम में 1. अक्रियावादी, 2. क्रियावादी, 3. अज्ञानवादी और 4. विनयवादी इन चार समवसरणों का वर्णन है।

तेरहवें अध्ययन का नाम **'यथातथ्य'** है। मद रहित साधना करने वाला साधक ही सच्चा विज्ञ और मोक्षगामी है।

चौदहवें अध्ययन का नाम **'ग्रन्थ'** है। साधक के लिए प्रथम गुरुजन की निकटता आवश्यक है। साधना के प्रमुख चार अंग हैं—1. अपरिग्रह, 2. ब्रह्मचर्य, 3. आज्ञापालन और 4. अप्रमाद। साधक को इन सद्गुणों का आचरण करना चाहिए।

पन्द्रहवें अध्ययन का नाम **'आदानीय'** या **'आदान'** है। इसमें संयम एवं मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम बताया है। इस अध्ययन में यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है, अतः इसका नाम 'यमकीय' भी है—ऐसा वृत्तिकार का कथन है।

सोलहवें अध्ययन का नाम **'गाथा'** है। निर्युक्तिकार ने गाथा का अर्थ किया है—जिसका मधुरता से गान किया जा सके, वह गाथा है। जिसमें अर्थ की बहुलता हो, वह गाथा है या छन्द द्वारा जिसकी योजना की गई हो, वह गाथा है। इसमें साधु के 1. माहण, 2. श्रमण, 3. भिक्षु और 4. निर्ग्रन्थ ये चार नाम देकर उनकी व्याख्या की गई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.3.3 द्वितीय श्रुतस्कन्ध

इसके **प्रथम अध्ययन** का नाम **'पुण्डरीक'** है। इसमें बताया गया है कि यह संसार पुष्करिणी है। इसमें कर्मरूप जल एवं कामभोग का कीचड़ भरा है। उसके मध्य में एक पुण्डरीक (कमल) है। उस कमल को अनासक्त, नि:स्पृह और अहिंसादि महाव्रतों का पालन करने वाले साधक ही प्राप्त कर सकते हैं।

द्वितीय अध्ययन का नाम **'क्रियास्थान'** है। यहाँ धर्मक्रिया का वर्णन करके धर्मक्रिया की प्रेरणा दी गई है।

तृतीय अध्ययन का नाम **'आहारपरिज्ञा'** है। इस अध्ययन में आहार की विस्तृत चर्चा है। श्रमणों को संयमपूर्वक आहार ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' है। इसमें जीवन को मर्यादित बनाने के लिए प्रत्याख्यान रूप क्रिया की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्ययन का **'आचार श्रुत'** व **'अणगार श्रुत'** ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। इसमें बताया गया है कि आचार के सम्यक्पालन के लिए बहुश्रुत होना आवश्यक है। साथ ही श्रमण को अमुक-अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का भी निर्देश है।

छठा अध्ययन 'आद्रकीय' है। इसमें अनार्य देश में उत्पन्न राजकुमार आद्रेक के जैन मुनि बनने का उल्लेख करने के पश्चात् उनके द्वारा गोशालक, हस्ती तापस आदि के मतों का निरसन किया गया है।

सातवें अध्ययन का नाम **'नालन्दीय'** है। इस अध्ययन में गणधर गौतम का पार्श्वापत्यिक पेढ़ालपुत्र के साथ मधुर संवाद है। पेढ़ाल-पुत्र चातुर्याम धर्म को छोड़कर पञ्चयाम धर्म स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग में अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चर्चाएँ हुई हैं। साथ ही आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढ़ालने एवं अन्य मतों का परित्याग कर शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने की प्रेरणा भी दी गई है।

अंग-वाङ्मय में सूत्रकृतांग की महनीयता का मुख्य कारण यह है कि यही एकमात्र ऐसा आगम है जिसमें परमत-दार्शनिक मान्यताओं में विश्वास करने वालों का वर्णन किया गया है; उनमें भौतिकवादी, क्षणिकवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी आदि अनेक हैं। इन वादों का मूल आगम में कोई नाम नहीं है। जिस रूप में परमतवादियों के सिद्धान्तों का वहाँ विवेचन हुआ है, उससे यह प्रतीत होता है कि उनके सिद्धान्त तब तक कोई दार्शनिक रूप नहीं ले सके थे, वे विकीर्ण रूप में उनके द्वारा परिगृहीत थे, जिनका वे स्वयं अनुसरण करते थे तथा औरों को वैसा करने की प्रेरणा देते थे। टीकाकार आचार्य शीलांक ने उन मतवादियों के मतों पर चिन्तन कर उन्हें विभिन्न वादों के रूप में उपस्थित किया है।

भगवान् महावीर के समय के अतिरिक्त किस-किस कोटि की दार्शनिक परम्परायें विद्यमान थीं? उनके धार्मिक उपादान क्या थे? इत्यादि कुछ स्पष्टता, कुछ अस्पष्टता दोनों ही उस निरूपण में परिलक्षित है, किन्तु ऐसी सूचनायें अवश्य हैं, जो गवेषणात्मक दृष्टि से कार्य करने वाले मनीषियों को अपने गवेषणाक्रम में अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान कर सकती है। अत: ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सभी दृष्टियों से यह आगम अपनी अनूठी विशेषता रखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.3.4 रचनाकार और रचनाकाल

पारम्परिक दृष्टि से यह सम्मत है कि द्वादशांगी की रचना गणधरों (भगवान् महावीर के ग्यारह प्रधान शिष्यों) ने की थी। इस सम्मति के अनुसार सूत्रकृतांग गणधरों की रचना है। किन्तु वर्तमान में कोई भी अंग अविकल रूप से प्राप्त नहीं है। आज जो भी प्राप्त है वह उत्तरकाल में संकलित है। संकलनकार के रूप में वर्तमान आगमों के रचनाकार देवर्धिगणी हैं।

प्रो. विंटरनीत्स के इस अभिमत से सहमति प्रकट की जा सकती है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसकी तुलना में अर्वाचीन है। भाषा, शब्द-प्रयोग और रचनाशैली की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भांति सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन प्रतीत होता है। आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध जैसे प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है। वैसे ही सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में जोड़ा गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना सुधर्मा स्वामी की है, अतः इसका कालमान ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी होना चाहिए। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचनाकार के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। अतः इसका रचनाकाल निश्चित करना भी कठिन है। वह ईस्वी सन् पांच सौ पूर्व की रचना है, यह इस आधार पर कहा जा सकता है कि देवर्धिगणी के सामने यह प्राप्त था। इसमें मगधी के कुछ विशेष प्रयोग मिलते हैं, जैसे—अकस्मा, अस्माकं। प्राकृत की दृष्टि से इसके स्थान में 'अकम्हा, अम्हं' का प्रयोग होना चाहिए था। शीलांकसूरी ने इस विषय में लिखा है कि मगध देश में ग्वालों तथा स्त्रियों के द्वारा भी ये शब्द संस्कृत की भांति प्रयुक्त किये जाते हैं, इसलिए इनका वैसा ही प्रयोग किया गया है। इन शब्द-प्रयोगों से ज्ञात होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना, मगध में जैन साधु विहार कर रहे थे उसी समय से ईसा दूसरी शताब्दी के आसपास हुई।

2.3.5 रचनाशैली

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्यशैली में लिखित है। सोलहवां अध्ययन गद्यशैली में लिखा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह गद्यशैली में लिखित नहीं है। निर्युक्तिकार ने गाथा शब्द की मीमांसा करते हुए कुछ विकल्प प्रस्तुत किये हैं। उनमें लिखा है कि प्रस्तुत अध्ययन गेय है, वह गाथाछंद या सामुद्रछंद में लिखित है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का बड़ा भाग गद्यशैली में लिखित है वह विस्तृत शैली में लिखा हुआ है। उसमें यत्र तत्र रहस्यवादी शैली के वाक्य उपन्यस्त हैं—

जहा पुव्वं अवरं, जहा अवरं तह पुव्वं। (सू. 2/1/54)
एत्थ वि सिया, एत्थ विणो सिया ॥ (सू. 2/1/60)

प्रस्तुत भाग में रूपक और दृष्टान्तों का भी समीचीन प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्ययन में पुण्डरीक का रूपक बहुत ही सुन्दर है। दृष्टान्तों का प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। इसमें संवाद और प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है। संवादशैली का एक सुन्दर उदाहरण दूसरे अध्याय में मिलता है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का यमकीय अध्ययन यमक अलंकार में लिखित है। यह आगम ग्रन्थों की काव्यात्मक शैली का विरल उदाहरण है। परिचय की दृष्टि से उसके दो श्लोक यहाँ उद्धृत हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसीमं जगं परिण्णाय अस्ति जीवियभावणा ॥
भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
णावा व तीसरंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥

2.3.6 व्याख्या ग्रन्थ

सूत्रकृतांग का जैन परम्परा में बहुमान्य आगम रहा है। इसका दार्शनिक मूल्य बहुत है। इसमें भगवान् महावीर के समय का गंभीर चिन्तन अन्तर्निहित है। इस पर अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं। इसके प्रमुख व्याख्या-ग्रन्थ ये हैं—1. निर्युक्ति, 2. चूर्णि, 3. वृत्ति, 4. दीपिका, 5. विवरण और 6. स्तबक।

निर्युक्ति

यह सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें 204 गाथायें हैं। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनायें और संकेत हैं। शेष व्याख्याओं के लिए यह आधारभूत व्याख्या-ग्रन्थ है। ये पद्यात्मक हैं और इसकी भाषा प्राकृत है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु (वि. पांचवीं-छट्ठी शताब्दी) है।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् दूसरा व्याख्या-ग्रन्थ चूर्णि है। वह सूत्र के आशय को प्रकट करने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह गद्यात्मक है और इसकी भाषा प्राकृत-संस्कृत का मिश्रितरूप है। इसके कर्त्ता जिनदासगणि माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह समीक्षणीय है। प्रस्तुत चूर्णि की शैली आचारांगचूर्णि के समान है। चूर्णिकार ने एक स्थान पर यह उल्लेख भी किया है कि 'ये द्वार जैसे आचार और कल्प (की चूर्णि) में प्ररूपित हैं, वैसे ही यहां प्ररूपित करने चाहिए।' इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार, कल्प और सूत्रकृतांग की चूर्णियां एक कर्त्तृक हैं।

वृत्ति

यह तीसरा महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें स्थान-स्थान पर विशद विवेचन हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्त्ता शीलांकसूरि हैं। इनका अस्तित्वकाल ई. 8वीं शती माना जाता है।

वीथिका

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्त्ता उपाध्याय साधुरंग हैं। इसका रचनाकाल ई. 1542 हैं।

विवरण

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्त्ता हर्षकुल हैं। इसका रचनाकाल ई. 1826 है।

स्तबक

इसकी भाषा गुजराती है। इसके कर्त्ता पार्श्वचन्द्रसूरि हैं।

उक्त तीनों (दीपिका, विवरण और स्तबक) व्याख्या-ग्रन्थ वृत्ति पर आधृत और संक्षिप्त हैं।

2.4 सूत्रकृतांग प्रथम अध्ययन एक परिचय

प्रस्तुत अध्ययन का विषय स्वसमय है—जैनमत और परसमय—जैनेतर मतों के कुछेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन। इस अध्ययन के चार उद्देशक और अठासी श्लोक हैं। इनमें विभिन्न मतों का प्रतिपादन—खंडन और मंडन है। निर्युक्तिकारों ने उद्देशकों के अर्थाधिकारों की चर्चा की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहले उद्देशक में छह अर्थाधिकारी हैं—पंचभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, अफलवाद।

दूसरे उद्देशक में चार अर्थाधिकारी हैं—नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, कर्मचय-अभाववाद।

तीसरे उद्देशक के दो अर्थाधिकार हैं—आधाकर्म, कृतवाद।

चौथे उद्देशक का एक अर्थाधिकार हैं—परतीर्थिकों की अविरत-गृहस्थ-तुल्यता।

वस्तुत: यह अध्ययन अनेक दार्शनिकों के कुछेक प्रचलित सिद्धान्तों के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सुन्दर निरूपण करता है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने इस अध्ययन के विषयों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

1-6 बंधन और बंधनमुक्ति का विवेचन।

7-8 पंचमहाभूतवाद।

9-10 एकात्मवाद।

11-12 तज्जीव-तच्छरीरवाद।

13-14 अकारकवाद।

15-16 आत्मषष्ठवाद।

17-18 बौद्धों का पंचस्कन्ध और चतुर्धातुवाद।

19-27 एकात्मवादी दर्शनों की निस्सारता।

28-40 नियतिवाद।

41-50 अज्ञानवाद।

51-59 बौद्धों की कर्मोपचय की चिन्ता और उसका समाधान।

60-63 आधाकर्म-दोष का प्रतिपादन।

64-69 जगत्कर्तृत्व के विभिन्न दर्शनों की चर्चा।

70-71 अवतारवाद।

72-73 आत्मप्रवाद की प्रशंसा।

74-75 सिद्धवाद।

76-79 याचना का सिद्धान्त।

80-82 लोक-स्वरूप की चर्चा।

83-85 अहिंसा का स्वरूप।

86-88 भिक्षु की चर्चा।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित कतिपय मौलिक विचार—

1. परिग्रह और दु:ख का सम्बन्ध (2)।
2. हिंसा और वैर का सम्बन्ध (3)।
3. परिग्रहमूलक हिंसा के तथ्य का उद्घाटन।
4. परिग्रह और हिंसा के त्याग के लिए सम्यग् दर्शन जरूरी।
5. दु:ख का निवर्तन धर्म-अधर्म के विवेक से होता है, तर्क से नहीं (46-49)।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों का इस अध्ययन में सुन्दर निरूपण हुआ है। दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण के साथ-साथ इसमें बंधन-विवेक और बंधन-मुक्ति के उपयोग की भी सुन्दर चर्चा है। जम्बू ने सुधर्मा से पूछा—किमाह बंधणं वीरे? किं वा जाणं तिउट्टइ? — भगवान् ने किसे बंधन माना है? उसे तोड़ने का उपाय क्या है? इसके उत्तर में सुधर्मा ने कहा—परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है। इसका हेतु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है—ममत्व। बंधन-मुक्ति का उपाय है—धन और परिवार में अत्राण-दर्शन और जीवन का मृत्यु की ओर संधावन की अनुभूति। (श्लोक 2-5)

इस अध्ययन की चूर्णि में अनेक नए-नए तथ्यों का उल्लेख है।

वृत्तिकार शीलांक ने भी अनेक जानकारियां प्रस्तुत की हैं।

छासठवें श्लोक का तीसरा चरण है— **मारेण संथुया माया**—इसमें मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत मात्र है। यह कथा महाभारत के द्रोणपर्व, अध्याय 53 में मिलती है। चूर्णिकार ने श्लोक के स्थान पर आचार्य नागार्जुन द्वारा सम्मत श्लोक दिया है। वह पूरे कथानक का द्योतक है—

अतिवड्ढीयजीवा णं, मही विण्णवते पभुं ।
ततो से मायासंजुत्ते, करे लोकस्सऽभिद्दवा ॥

अब हम प्रथम अध्ययन के चार उद्देशकों के अन्तर्गत आये हुये विषयों पर क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

पढ़म अज्झयणं : पहला अध्ययन

समए : समय

2.4.1 पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

2.4.1.1 बंधन और बंधनमुक्ति का विवेचन

सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सर्वप्रथम पहले श्लोक से लेकर छठे श्लोक तक बंधन और बंधनमुक्ति का विवेचन किया गया है। प्रथम श्लोक में बंधन को जानकर उसे तोड़ने की बात कही गई है। दूसरे से चौथे श्लोक तक बंधन के कारणों की चर्चा की गई है तथा पांचवें और छठे श्लोक में बंधनमुक्ति के उपाय बताये गये हैं। यथा -

1. बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरे? किं वा जाणं तिउट्टइ? ।1।

अनुवाद—सुधर्मा ने कहा—'बोधि को प्राप्त करो।' बंधन को जानकर उसे तोड़ डालो। जम्बू ने पूछा—'महावीर ने बंधन किसे कहा है? किस तत्त्व को जान लेने पर उसे तोड़ा जा सकता है?

2. चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई ।2।

अनुवाद— सुधर्मा ने कहा—'जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों में तनिक भी परिग्रह-बुद्धि (ममत्व) रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।'

3. सयं तिवातए पाणे, अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ।3।

अनुवाद— परिग्रही मनुष्य प्राणियों का स्वयं हनन करता है, दूसरों से हनन कराता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है— वह दुख से मुक्त नहीं हो सकता।

4. जस्सि कुले समुप्पण्णे, जेहिं वा संवसे णरे।
ममाती लुप्पती बाले, अण्णमण्णेहिं मुच्छिए। ।4।

अनुवाद—जो मनुष्य जिस कुल में उतपन्न होता है और जिनके साथ संवास करता है वह उनमें ममत्व रखता है तथा वे भी उसमें ममत्व रखते हैं। इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर वह बाल (अज्ञानी) नष्ट होता रहता है, दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं ण ताणइ।
संधाति जीवितं चेव, कम्मणा उ तिउट्टइ ।5।

अनुवाद—धन और भाई-बहिन— ये सब त्राण नहीं दे सकते। जीवन मृत्यु की ओर दौड़ रहा है, इस सत्य को जान लेने पर मनुष्य कर्म के बंधन को तोड़ डालता है।

6. एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा।
अयाणंता विउस्सिता, सत्ता कामेहिं माणवा ।6।

अनुवाद—कुछ श्रमण-ब्राह्मण इन उक्त ग्रन्थों (परिग्रह और परिग्रह-हेतुओं) का परित्याग कर, विरति और अविरति के भेद को नहीं जानते हुए गर्व करते हैं। वे मननशील होने पर भी कामभोगों में आसक्त रहते हैं।

'आचार: प्रथमो धर्म:'—यह आचार शास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है, किन्तु देखा जाये तो इस सूत्र में आचार का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि का प्रतिपादन नहीं है। भगवान् महावीर के आचारशास्त्र का सूत्र है— 'ज्ञानं प्रथमो धर्म:'। पहले ज्ञान फिर आचार, जैसा कि दसवैकालिक सूत्र में कहा है— 'पढमं नाणं तओ दया।' ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता और अनुपालन भी नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक करता है तथा अनाचार को छोड़ आचार का अनुपालन करता है। प्रथम श्लोक के प्रथम चरण 'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा' में यही सत्य प्रतिपादित हुआ है। पहले बंधन को जानो फिर उसे तोड़ो। बंधन क्या है, उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने पर ही उसे तोड़ा जा सकता है। यह दृष्टि न केवल ज्ञानवाद है और न केवल आचारवाद है अपितु यह दोनों का समन्वित रूप है।

'बुध्यतेऽनेनेति बोध:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे जाना जाये उसे बोध कहते हैं, परन्तु इस प्रसंग में भगवान् महावीर का ऐसे बोध से मतलब नहीं है उनका तात्पर्य ऐसे बोध से है, जो आत्मा से सम्बन्धित हो। जब मनुष्य इस बात का बोध कर लेगा कि मैं शुद्ध, निरंजन, निराकार, अविनाशी, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य ओर आनन्द सम्पन्न आत्मा हूं, किन्तु इस मनुष्य शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध शुभाशुभ कर्मबन्धन के फलस्वरूप हुआ है और ये कर्मबन्धन हेय हैं। इस प्रकार से आत्मस्वरूप का बोध करना ही 'बुज्झेज्ज' का तात्पर्य है। 'तिउट्टेज्जा' का अर्थ है तोड़ना। त्रोटन दो प्रकार का होता है—द्रव्य त्रोटन और भाव-त्रोटन। द्रव्य त्रोटन अर्थात् किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का टूटना। भाव त्रोटन के तीन साधन है—ज्ञान, दर्शन, और चारित्र। इन तीनों साधनों से क्रमश: अज्ञान, अविरति और मिथ्यादर्शन को तोड़ना भाव-त्रोटन है। प्रमाद, राग-द्वेष, मोह आदि को तोड़ना तथा आठ प्रकार के कर्मो के बंधन को तोड़ना भी भाव-त्रोटन है। यहां 'तिउट्टेज्जा' से तात्पर्य भाव-त्रोटन से ही है।

प्रथम श्लोक के प्रथम चरण 'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा' में जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष:' अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है, इसका प्रतिपादन भी किया गया है। वेदान्त-सांख्य आदि कई दर्शन जहाँ ज्ञान मात्र से मुक्ति मानते हैं वहीं मीमांसा आदि दर्शन एकान्त कर्म (क्रिया) से मुक्ति मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार ज्ञपरिज्ञा से पहले बंधन को जानों, उसका ज्ञान करो और फिर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसे तोड़ो।

इसी संदर्भ में जंबू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—भगवान् महावीर की वाणी में बंधन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? इन दो प्रश्नों के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने कहा—परिग्रह और हिंसा बंधन है। बंधन का हेतु है—ममत्व और बंधनमुक्ति के उपाय हैं— 1. धन और परिवार में अत्राण दर्शन और 2. जीवन का मृत्यु की दिशा में संधावन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बंधन का स्वरूप

'बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्माऽनेनेति बन्धनम्।' जिसके द्वारा आत्मा परतन्त्र कर दिया जाता है, वह बंधन है। यहां बंधन जैनदर्शन मान्य कर्मसिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है। इसलिए वृत्तिकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—'आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म पुद्गल क्षीरनीरवत् एकमेक होकर बंध जाते हैं, वे बंध कहलाते हैं।' तत्त्वार्थसूत्र में बंध का लक्षण दिया है—'कषायसहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है।'

बंधन के कारण

तत्त्वार्थसूत्र में बंधन के पांच मुख्य कारण बताये गये हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। सूत्रकृतांग सूत्र में दूसरे से चौथे श्लोक तक भी बंधन के कारणों का उल्लेख है जिसमें सर्वप्रथम परिग्रह को बंधन का कारण कहा गया है। अविरति के पांच प्रकार हैं हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। चूंकि हिंसा, झूठ, चोरी आदि परिग्रह के लिये ही होते हैं इसलिए सूत्रकृतांग में परिग्रह को समस्त कर्मबन्धनों का प्रधान कारण बताया गया है।

शास्त्रकारों ने मुख्यतः परिग्रह के दो प्रकार बताये हैं—बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह। दूसरे श्लोक में बाह्य परिग्रह के दो रूप बताये गये हैं—सचेतन परिग्रह और अचेतन परिग्रह। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, धान्य आदि सचेतन परिग्रह हैं और सोना, चांदी, मणि, वस्त्र, क्षेत्र, वास्तु आदि अचेतन परिग्रह हैं। क्रोध आदि चार कषाय, हास्य आदि नो कषाय और मिथ्यात्व, यश, प्रतिष्ठा, लिप्सा, आसक्ति आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं। इन परिग्रहों के प्रति यदि थोड़ी सी भी आसक्ति होती है तो वह बंधन का कारण बन जाती है क्योंकि भगवान् महावीर ने मूर्च्छा (आसक्ति) को ही परिग्रह कहा है।

स्वयं के पास परिगह रखना जैसे बंधन का कारण है वैसे ही बंधन के भय से अपने पास न रखकर यदि दूसरों के पास रखते हैं या दूसरों को परिग्रह ग्रहण, रक्षण एवं संचित करने की प्रेरणा देते हैं तो वह भी बंधन का कारण है। 'एवं दुक्खा ण मुच्चई' इस पंक्ति द्वारा शास्त्रकार यह कहते हैं कि परिग्रही व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं होता। अर्थ का अर्जन करने में कष्ट होता है। अर्जन हो जाने पर उसकी सुरक्षा की चिन्ता रहती है तथा नष्ट हो जाने पर शोक होता है। परिग्रह से वैर, द्वेष, ईर्ष्या, छल-कपट आदि बढ़ते हैं। इसलिए परिग्रह अपने आप में भी दुःखकारक है। परिग्रही जीव परिग्रह से कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करता है। इस प्रकार परिग्रह से जीव प्रत्यक्ष भी इहलोक में तथा परोक्ष रूप से परलोक में भी अनेक प्रकार के दुःख भोगता है।

तीसरी गाथा में हिंसा को भी बन्धन का प्रबल कारण बताया गया है। हिंसा का जैनशास्त्र प्रसिद्ध पर्यायवाची नाम 'प्राणातिपात' है। सामान्यतः हिंसा का अर्थ जान से मार देना समझा जाता है, किन्तु प्राणातिपात शब्द इस बात का द्योतक है कि दस प्राणों में से किसी भी एक प्राण का हनन करना भी हिंसा है। हिंसा करने वाला प्राणी अपने वैर की परम्परा को बढ़ाता है क्योंकि जिस प्राणी की हिंसा की जाती है, उसके मन में हिंसा करने वाले के प्रति अत्यन्त रोष, घृणा, द्वेष और वैर की भावना जागती है।

प्रस्तुत श्लोक में हिंसा करना, हिंसा करवाना और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—इन तीनों का कथन है। चूर्णिकार का कथन है कि कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा नहीं करते, किन्तु दूसरों से करवाते हैं तथा अनुमोदन भी करते हैं। कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते। कुछ दार्शनिक तीनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार से हिंसा करते हैं। हिंसा परिग्रह के लिए होती है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का होना निश्चित है, इसलिए परिग्रह और हिंसा—ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। ये दोनों बंधन के कारण हैं। यद्यपि राग और द्वेष भी बंधन के कारण हैं, किन्तु वे भी परिग्रह और हिंसा से उत्तेजित होते हैं। इसलिए परिग्रह और हिंसा ही बंधन के मूल कारण हैं।

परिग्रही व्यक्ति प्राणियों के प्राणों का वियोजन करता है। इस क्रिया से वह सैकड़ों जन्मों तक चलने वाला वैर बांधता है। इस प्रकार वह दु:ख की परम्परा से कभी मुक्त नहीं हो पाता। एक दु:ख से मुक्त होते ही दूसरे दु:ख में फंस जाता है।

चौथे श्लोक में फिर बन्धन के कारण निर्देश करते हुये सूत्रकार कहते हैं कि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति जिस कुल में उत्पन्न होता है, जिन परिजनों के साथ रहता है अत: वह उस कुल एवं परिजनों के प्रति ममत्वबुद्धि रखता है इसलिए वह कर्मबन्धन की परम्परा से सहसा मुक्त नहीं हो पाता। चूर्णिकार ने इस संदर्भ में एक चतुर्भंगी प्रस्तुत की है—

1. कोई मनुष्य माता-पिता आदि में मूर्च्छित, किन्तु वे इसमें मूर्च्छित नहीं।
2. वे इसमें मूर्च्छित किन्तु वह उनमें मूर्च्छित नहीं।
3. वह उनमें मूर्च्छित तथा वे भी इसमें मूर्च्छित।
4. दोनों एक-दूसरे में मूर्च्छित नहीं।

'अण्णमण्णेहि मुच्छिए' पद तृतीय भंग का द्योतक है। वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अन्येषु अन्येषु' मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—व्यक्ति पहले माता-पिता के प्रति ममत्व रखता है, फिर पत्नी आदि के प्रति और फिर पुत्र, पौत्र के प्रति ममत्व रखता है। ममत्व के कारण वह मनुष्य बंधन-मुक्ति के मार्ग पर नहीं चल सकता। ममत्व या मूर्च्छा बंधन का हेतु है।

बंधन-मुक्ति के उपाय

प्रथम गाथा में यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि किसे जानकर व्यक्ति बंधन को तोड़ पाता है? इस प्रश्न के उत्तर में पांचवी गाथा में उसके उपाय बताये गये हैं—

1. समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ प्राणी की रक्षा करने में असमर्थ हैं।
2. जीवन स्वल्प एवं क्षणभंगुर है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:'—मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण उसका मन ही है। मन ने ही ममता-मूर्च्छा आदि से कर्मबन्धन किये हैं और मन ही प्रशस्त चिन्तन बल से इन्हें तोड़ सकता है।जब व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है कि संसार में कोई त्राण नहीं दे सकता और यह जीवन निरन्तर सत्य की ओर दौड़ा जा रहा है, वह कर्म के बंधन को तोड़ने में सफल हो जाता है।

निष्कर्ष यही है कि कर्म बन्धन है। उसके परोक्ष हेतु हैं—राग और द्वेष तथा प्रत्यक्ष हेतु हैं—परिग्रह और हिंसा। कारण को मिटाये बिना कार्य को नहीं मिटाया जा सकता। बंधन के कारणों को तोड़े बिना बंधन को नहीं तोड़ा जा सकता। परिग्रह और हिंसा की मूर्च्छा को तोड़ना ही वह सत्य है जिसे जान लेने पर बन्धन को तोड़ा जा सकता है।

बंधन के पांच कारणों में प्रथम कारण है—मिथ्यात्व। अर्थात् तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। तत्त्व का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। नित्यानित्य है। इसके विपरीत तत्व को केवल नित्य मानना या केवल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनित्य ही मानना मिथ्यात्व है। दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। उनमें से केवल जीव को ही मानना या केवल अजीव को ही मानना मिथ्यात्व है। इस दृष्टि से पंचमहाभूतवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, चातुर्धातुकवाद आदि वाद एकान्तिक होने से मिथ्यात्व के अन्तर्गत आते हैं और मिथ्यात्व बंधन का कारण है अतः इन एकान्तिक पक्षों पर आस्था रखना, इनमें विश्वास करना भी बंधन का कारण है।

2.4.1.2 पञ्चमहाभूतवाद

पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश ये पंचमहाभूत हैं। इन सबके मिलने से एक आत्मा उत्पन्न होती है। तथा जब इन पंच महाभूतों का विनाश होता है, तब आत्मा का भी विनाश हो जाता है। इसी को 'पंचमहाभूतवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस पंचमहाभूतवाद का प्रतिपादन सूत्रकृतांग सूत्र में इस प्रकार हुआ है—

7. संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ आगासपंचमा ।7।

अनुवाद—कुछ दार्शनिकों (भूतवादियों) के मत में यह निरूपित है कि इस जगत् में पांच महाभूत हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश।

8. एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।
अह एसिं विणासे उ, विणासो होई देहिणो।8।

अनुवाद—ये पांच महाभूत हैं। इनके संयोग से एक—आत्मा उत्पन्न होता है। इन पांच महाभूतों का विनाश होने पर आत्मा (देही) का विनाश हो जाता है।

इन दो गाथाओं में पंचमहाभूतवाद का स्वरूप बताया गया है। वृत्तिकार इन पंचमहाभूतवादियों को चार्वाक कहते हैं। वृत्तिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि सांख्य वैशेषिक आदि भी पांच महाभूतों का सद्भाव मानते हैं फिर पंचमहाभूतवादी चार्वाक को ही क्यों मानना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान वे स्वयं देते हुए कहते हैं कि सांख्य प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकार से षोडशक आदि तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक काल, दिग्, आत्मा आदि अन्य वस्तु-समूह को भी मानते हैं किन्तु लोकायतिक (चार्वाक) पांच भूतों के अतिरिक्त किसी आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं मानते अतः उक्त दोनों गाथाओं में उक्त मत लोकायतिक का ही मानकर व्याख्या की गई है।

उनके मतानुसार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। ये भूत सर्वलोकव्यापी हैं, अतः इन्हें 'महाभूत' कहा गया है। ये पंचमहाभूत किसी कर्त्ता द्वारा निर्मित नहीं है। ये आदि एवं अन्त रहित तथा अवश्य कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। ये स्वतंत्र एवं शाश्वत, नित्य हैं। दूसरे मतवादियों द्वारा कल्पित इन पंच भूतों से भिन्न, परलोक में जाने वाला, सुख-दुःख भोगने वाला आत्मा नामक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है और प्रत्यक्ष आत्मा का बोधक नहीं है। अनुमान, आगम आदि को वे प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि अनुपात आदि में पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए उनका मिथ्या होना संभव है। अतः उनके अनुसार पृथ्वी आदि पंचभूतों के शरीररूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे—गुड़, महुआ आदि के संयोग से मद शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह चैतन्य शक्ति पंचमहाभूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह पंचमहाभूतों का ही कार्य है। जिस प्रकार जल में बुलबुले उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी इन्हीं पंचमहाभूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में विलीन हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाती है। किसी एक भूत की कमी होने पर पृथ्वी भूत पृथ्वी में, अप् भूत अप् में, वायु भूत वायु में, तेजस् भूत तेजस् में और आकाश भूत आकाश में मिल जाता है और आत्मा का विनाश हो जाता है। शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिए परलोक, पुनर्जन्म और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। यहां यह ध्यातव्य है कि वर्तमान में जो चार्वाक के सिद्धान्त सूत्र मिलते हैं, उनमें चार भूतों का ही उल्लेख है। आकाश का उल्लेख नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक अमूर्त आकाश को मान भी कैसे सकते हैं? दर्शनयुगीन साहित्य में चार्वाक सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। आगमयुग में पंचभूतवादी थे। पकुधकात्यायन पंचभूतों को स्वीकार करते थे और आत्मा को नहीं मानते थे।

समीक्षा

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने इस वाद का खण्डन इस प्रकार किया है—पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि गुण तथा तज्जनित बोलना, चलना, सुनना आदि क्रियारूप गुण उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पंचभूतों का गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुणवाले पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे— बालू को पीलने से तेल पैदा नहीं होता, वैसे ही पंचभूतों से चैतन्य उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात, दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती तो फिर मैंने सुना भी है, देखा भी है, चखा भी है, इस प्रकार का संकलन-जोड़रूप ज्ञान किसको होगा? हमें ऐसा संकलनात्मक ज्ञान होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पांचों इन्द्रियों द्वारा जानता है। वृत्तिकार एक शंका प्रस्तुत करते हैं—यदि पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है तो फिर मृत शरीर के विद्यमान रहते भी 'वह शरीर मर गया' ऐसा व्यवहार कैसा होगा?

यद्यपि चार्वाक इस शंका का समाधान यों करते है कि शरीररूप में परिणत पंचभूतों में चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन पांच भूतों में से एक या दो के विनष्ट हो जाने पर देही (आत्मा) का नाश हो जाता है, उसी से 'वह मर गया' ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु यह युक्ति निराधार है। मृत शरीर में भी पांचों भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी उसमें चैतन्य शक्ति नहीं रहती, इसलिए यह सिद्ध होता है कि चैतन्य शक्तिमान आत्मा पंचभौतिक शरीर से भिन्न है तथा वह नित्य है। पंचभूतों के नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

आत्मा अनुमान से, मैं सुखी हूं, मै दु:खी हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव से तथा 'अत्थि में आया ओववाइए' आदि आगम प्रमाण से सिद्ध होती है।चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर स्वयं अनुमान का प्रयोग करते हैं, यह 'वदतोव्याघात' जैसा है।

2.2 देह-विनाश के साथ आत्म-विनाश की मान्यता अनुचित

पंचमहाभूतवादियों के मतानुसार यदि देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानें तो तीन बड़ी आपत्तियां आती हैं,

1. केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए की जाने वाली ज्ञान, दर्शन चारित्र की तथा तप, संयम, व्रत, नियम आदि की साधना निष्फल हो जायेगी।
2. किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि शुभ कर्मों का फल नहीं मिलेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म करने वाले लोग नि:शुल्क होकर पाप करेंगे क्योंकि उनकी आत्मा तो शरीर के साथ यहीं नष्ट हो जायेगी। परलोक में उन पापकर्मों का फल भोगने के लिए उनकी आत्मा को नरक, तिर्यन्च आदि दुर्गतियों में कहीं जाना नहीं पड़ेगा। इस मिथ्यावाद के फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था फैल जायेगी।

निष्कर्ष यही है कि पंचमहाभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानमूलक है, अत: वह कर्मबंध का कारण है।

2.4.1.3 एकात्मवाद

जिस प्रकार पृथ्वी पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड ब्रह्मरूप होने पर भी अज्ञानवश मनुष्य, पशु-पक्षी आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है। एकात्मवाद का प्रतिपादन सूत्रकृतांग सूत्र में इस प्रकार किया गया है—

9. जहा य पुढवीथूभे, एगे णाणा हि दीसइ।
एवं भो! कसिणे लोए, विण्णू णाणा हि दीसए ।9।

अनुवाद—जैसे-एक ही पृथ्वी-स्तूप (मृत्-पिण्ड) नानारूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार समूचा लोक एक विज्ञ (ज्ञानपिण्ड) है, वह नानारूपों में दिखाई देता है।

10. एवमेगे त्ति जंपंति, मंदा आरंभणिस्सिया।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं णियच्छइ ।10।

अनुवाद—क्रिया करने में आलस्य और हिंसा से प्रतिबद्ध कुछ दार्शनिक उक्त सिद्धान्त का निरूपण करते हैं। (यदि आत्मा एक है तो यह कैसे घटित होगा कि) अकेला व्यक्ति स्वयं पाप करता है और वही तीव्र दु:ख भोगता है।

प्रस्तुत दो गाथाओं में प्रतिपादित एकात्मवाद उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन मान्य है। वेदान्तदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है कि इस जगत् में सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ नहीं है। अर्थात् चेतन-अचेतन, पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ सब एक ब्रह्मरूप हैं। यही बात उपर्युक्त श्लोक में शास्त्रकार ने कही है—'एवं भो! कसिणे लोए विष्णु णाणा हि दीसए।' नाना दिखाई देने वाले पदार्थों को भी वे पृथ्वीस्तूप के दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं, जैसे पृथ्वी स्तूप एक ही है, फिर भी वह निम्नोन्नत भूभाग, नदी, समुद्र, शिला, बालू, धूल, गुफा, कंदरा आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सबमें पृथ्वी तत्त्व व्याप्त रहता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म ही चेतन-अचेतनरूप समग्र लोक में व्याप्त है।'ब्रह्मबिन्दु' उपनिषद का एक श्लोक इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

एक एव हि भूतात्मा, भूत भूते व्यवस्थित:।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

अर्थात् एक ही भूतात्मा सब भूतों में व्यवस्थित है। वह एक होने पर भी जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब की भांति नाना रूपों में दिखाई देता है। कठोपनिषद में भी एक ही आत्मा के अनेक रूपों को अग्नि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है, जैसे—अग्नि जगत् में प्रवेश कर अनेक रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही एक आत्मा सब भूतों की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो नानारूपों में अभिव्यक्त हो रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समीक्षा

विचार करने पर एकात्मवाद का सिद्धान्त समीचीन प्रतीत नहीं होता। इस विषय में जैनदृष्टि यह रही है कि एक आत्मा या समष्टि-चेतना वास्तविक नहीं है और न वह दृश्य जगत् का उपादान कारण है। अनन्त आत्माएं हैं और प्रत्येक आत्मा इसलिए स्वतंत्र है कि उसका उपादान कोई दूसरा नहीं है। चेतना व्यक्तिगत है प्रत्येक आत्मा का चैतन्य अपना-अपना है।

एकात्मवाद में क्रिया की भी सार्थकता नहीं होती। इसीलिए एकात्मवादी ज्ञानवादी होते हैं, क्रियावादी नहीं होते। एकात्मवाद में न कोई हिंस्य होता है और न कोई हिंसक। इसलिए वे हिंसा को करते हुये भी हिंसा को नहीं मानते। सारे विश्व में एक ही आत्मा को मानने पर निम्नलिखित आपत्तियां आती हैं—

1. एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा क्योंकि सभी एक ही ब्रह्म के नानारूप हैं। यह प्रतीति विरुद्ध है।
2. एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्मबन्धन से बद्ध और एक के कर्मबन्धन से मुक्त होने पर सभी कर्मबन्धन से मुक्त होंगे।इस प्रकार जो जीव बन्धन में है वह मुक्त हो जायेगा तथा जो मुक्त है वह बन्धनग्रस्त हो जायेगा ओर ऐसा होने पर बन्धन और मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।
3. यदि एक ही आत्मा मानें तो देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए तथा एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर सभी के जन्म लेने, मरने, या उस कार्य में प्रवृत्त होने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।
4. जड़ और चेतन सभी में एक आत्मा मानने पर आत्मा का चैतन्य या ज्ञान गुण जड़ में आ जायेगा, जो कि असंभव है।
5. जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है वह और शास्त्र का उपदेष्टा, दोनों में भेद न होने के कारण शास्त्र रचना भी न हो सकेगी। इसीलिए आगमकार ने कहा है—

'एक किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छइ।'

निष्कर्ष यही निकलता है कि संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो पापकर्म करता है उस अकेले को ही उसके फलस्वरूप तीव्र दु:ख प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं।अत: एकात्मवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

2.4.1.4 तज्जीव-तच्छरीरवाद

'तज्जीव-तच्छरीरवाद' के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। इनके मतानुसार पांच महाभूतों से चैतन्य का निर्माण होता है। अत: यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता है। 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' का प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार किया है—

11. पत्तेयं कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिया।
संति पेच्चा ण ते संति, णत्थि सत्तोववाइया ।11।

अनुवाद—प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अखंड आत्मा है, इसीलिए कुछ अज्ञानी हैं और कुछ पंडित हैं। जो शरीर हैं वे ही आत्माएं हैं। वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12. णत्थि पुण्णे व पावे वा, णत्थि लोए इओ परे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो।12।

अनुवाद—न पुण्य है, न पाप है और न इस लोक से भिन्न दूसरा कोई लोक है। शरीर का विनाश होने पर आत्मा (देही) का भी विनाश हो जाता है।

इन दोनों गाथाओं में से प्रथम गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवाद का मन्तव्य बताया गया है और दूसरी गाथा में इसकी फलश्रुति।

'स एव जीवस्तदेव शीररमितिवदितुं शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी' वही जीव है और वही शरीर है, इस प्रकार जो मानता है उसे तज्जीव-तच्छरीरवाद कहते हैं। यद्यपि पंचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहते हैं, किन्तु उनके मत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ना, बोलना आदि सब क्रियाएं करते हैं, जबकि तज्जीव-तच्छरीरवादी शरीर से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानते हैं। यही इन दोनों वादों में अन्तर है।

जैनदर्शन, न्यायदर्शन के अनुसार, 'प्रत्यागात्मा भिद्यते' प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आपमें संपूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, किन्तु जज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता विचित्र है, उसके अनुसार जब तक शरीर रहता है तब तक ही आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है। क्योंकि शरीर के रूप में परिणत पंचमहाभूतों से जो चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही नष्ट हो जाती है। शरीर से बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इसलिये कहा गया है—'पेच्चाण ते संति' अर्थात् मरने के बाद परलोक में वे आत्माएं नहीं जाती।

निष्कर्ष यह है कि शरीर से भिन्न स्वकर्मफल-भोक्ता परलोकानुयायी कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है।जो है, वह शरीर से अभिन्न है। इसी रहस्य को स्पष्ट करेने के लिए कहते हैं—'णत्थि सत्तोववाइया' अर्थात् कोई भी प्राणी औपपातिक—एक भव से दूसरे भव में जाने वाला नहीं है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद से तीन परिणाम फलित होते हैं, जो कि दूसरी गाथा में बताये गये हैं—

1. जीव के शुभाशुभ कर्मफलदायक पुण्य और पाप नहीं होते।
2. इस लोक से भिन्न कोई दूसरा लोक ही नहीं है।
3. शरीर के नाश के साथ ही शरीरी आत्मा का नाश हो जाता है।

पुण्य और पाप ये दोनों इसलिये नहीं माने गये कि इनका धर्मीरूप आत्मा यहीं समाप्त हो जाता है। पुण्य और पाप को मानने पर तो उनका फल भोगने के लिये परलोक में गमन भी मानना जरूरी हो जाता है। इसलिए इनके में न तो पुण्य-पाप है और न ही उनका फल भोगने के लिये स्वर्ग-नरकादि परलोक है। क्योंकि जब आत्मा ही नहीं तो आत्मा को धारण करने वाला प्राणी एक भव से दूसरे भव में कैसे जायेगा? जैसे पानी का बुलबुला पानी से भिन्न नहीं होता है, वह पानी से ही पैदा होता है और पानी में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही शरीर चैतन्य पंचभूतात्मक शरीर से ही पैदा होता है और उसी में विलीन हो जाता है, उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में मरुभूमि में जल न होने पर भी जल होने का भ्रम हो जाता है, वैसे ही पंचभूतसमुदाय बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रियाएं करता है, इससे जीव होने का भ्रम हो जाता है।

उनसे यदि यह पूछा जाये कि यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप परलोकादि नहीं हैं, तो धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी, सुखी-दु:खी आदि विचित्रताएं जगत् में क्यों दृष्टिगोचर होती हैं? तो वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समाधान देते है कि यह सब स्वभाव से होता है। जैसे-दो पत्थर के टुकड़े पास-पास ही पड़े है उनमें एक से मूर्तिकार गढ़कर देवमूर्ति बना देता है, तो वह पूजनीय बन जाती है तो दूसरा पत्थर का टुकड़ा केवल पैर धोने के काम आता है। इन दोनों स्थितियों में पत्थर के टुकड़ों का कोई पुण्य या पाप नहीं है, किन्तु ये स्वाभाविक है। अतः जगत् में दृश्यमान विचित्रता भी स्वभाव से ही है। अतः शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है। जिन लोगों का यह कथन है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वे इस प्रकार से जीव को उपलब्ध नहीं करा पाते। जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार निकालकर दिखलाये—आयुष्मान्! यह तलवार है, यह म्यान। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकालकर दिखलाये, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है। इसलिये जो लोग जीव को शरीर से अभिन्न मानते हैं, उनका मत ही युक्तिसंगत है।

समीक्षा

तज्जीव-तच्छरीरवादियों का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसे मानने से निम्नलिखित आपत्तियां पैदा होती हैं—

तज्जीव-तच्छरीरवादियों के द्वारा जीव-अजीव, परलोक आदि न माने जाने के कारण जीव-हिंसा, चोरी-लूट आदि की निरंकुश प्रवृत्ति करने-कराने का प्रसंग आता है। उनके द्वारा सत्क्रिया-असत्क्रिया, सुकृत-दृष्कृत, धर्म-अधर्म आदि न माने जाने के कारण, किये जाने वाले विविध आरम्भ-कार्य एवं कामभोग सेवन के लिये विविध दुष्कृत्यों का प्रसंग आता है। पुण्य-पाप या इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक की व्यवस्था को न मानने पर जगत् की सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाती है तथा फिर कोई भी शुभ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होगा। सारे संसार में पशुता या अराजकता का ही ताण्डव नृत्य होगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी मिथ्यात्व का पोषक होने से अशुभ कर्म-बन्धन का कारण है।

2.4.1.5 अकारकवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में 'अकारकवाद' का निरूपण भी हुआ है। 'अकारकवाद' के अनुसार आत्मा स्वयं कुछ भी कार्य न करती है और न कराती है अतः आत्मा अकारक है। इसका प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

13. कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं ण विज्जइ।
एवं अकारओ अप्पा, ते उ एवं पगब्भिया।13।

अनुवाद—आत्मा सब करता है, सब करवाता है, फिर भी वह (पुण्य-पाप का बंध) करने वाला नहीं होता, इसलिए वह अकर्त्ता है। अक्रियावादी इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

14. जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कुओ सिया?
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभणिस्सिया। 14।

अनुवाद—जो दार्शनिक ऐसा कहते हैं उनके मतानुसार यह लोक कैसे घटित होगा? अक्रियावादी पुरुषार्थ करने में आलस्य और हिंसा से प्रतिबद्ध होकर तम से घोर तम (अज्ञान से धोर अज्ञान) की ओर चले जाते हैं

प्रस्तुत गाथाओं में सांख्य दर्शन द्वारा प्ररूपित आत्मा के अकर्तृत्वाद का स्वरूप बताया गया है। सांख्यदर्शन में आत्मा को पुरुष कहते हैं। 'अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कपिल दर्शने' यह सांख्यदर्शन मान्य प्रसिद्ध उक्ति है। उनके अनुसार आत्मा अमूर्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी है इसलिए वह क्रियाशून्य है। क्रियाशून्य होने पर भी वह 'मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय' एवं 'जपास्फटिक न्याय' से स्थितिक्रिया एवं भोगक्रिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करता है। मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय-जैसे किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिये प्रयत्न नहीं करती, वह अनायास ही चित्र में स्थित रहती है। इसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित आत्मा अनायास ही स्थित रहती है, ऐसी स्थिति में प्रकृतिगत विकार पुरुष में प्रतिभासित होते हैं। इस 'मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय' से आत्मा स्थित क्रिया का स्वयं कर्त्ता न होने के कारण अकर्त्ता-सा है। जपास्फटिक न्याय'—स्फटिक के पास लाल रंग का जपापुष्प रख देने से वह लाल-सा प्रतीत होता है। इस जपास्फटिक न्याय में आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती है।

सांख्यकारिका में पुरुष (आत्मा) के पांच धर्म बतलाये गये हैं—साक्षीत्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टत्व और अकर्तृत्व। पुरुष के अकर्तृत्वभाव की सिद्धि में दो हेतु हैं—पुरुष विवेकी है तथा उसमें प्रसव धर्म का सर्वथा अभाव है। अविवेकिता से ही सम्भूयकारिता के रूप में कर्तृत्व आता है तथा जो प्रसवधर्मी अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही कर्त्ता हो सकता है। ये दोनों अविवेकिता और प्रसवधर्मिता गुणों के ही धर्म हैं। पुरुष निर्गुण होने के कारण ये दोनों धर्म उसमें नहीं पाये जाते। इसलिए पुरुष अकर्त्ता ही सिद्ध होता है। कर्तृत्व सत्व, रज और तम इन तीन गुणों में ही निहित है। ये तीनों गुण प्रकृति में है अत: वही कर्त्ता भी है फिर भी उसकी सन्निधि से पुरूष कर्त्ता की भांति प्रतीत होता है।

इस अभिमत के संदर्भ में प्रथम दो चरण 'कव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं ण विज्जइ।' का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है कि आत्मा सब कुछ करने वाला है (ऐसा प्रतीत होता है) किन्तु वास्तव में वह कर्त्ता नहीं है।

समीक्षा

सांख्यों द्वारा मान्य अकारकवाद का सिद्धान्त विरोधी सिद्धान्त है। सामान्यतया जो कर्त्ता होता है, वह भोक्ता होता है किन्तु सांख्यमत में कर्ता प्रकृति है, भोक्ता पुरुष है। दानादि कार्य अचेतन प्रकृति करती है और फल भोगता है— चेतन पुरुष। इस तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्व का समानाधिकरणत्व छोड़कर व्याधिकरणत्व मानना पहला विरोध है। पुरुष चेतनावान् है फिर भी नहीं जानता, यह दूसरी विरुद्धता है। पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त होता है और न ही भवान्तरगामी होता है। प्रकृति ही बद्ध, मुक्त और भवान्तरगामी होती है। यह कथन भी विरोधी होने से श्लोक में कहा गया—'एवमकारओ अप्पा, एवं ते उपगब्भिया।'

14वीं गाथा में तज्जीव-तच्छीरवाद और अकारकवाद का निराकरण करते हुए दोनों मतों को मानने पर जन्म-मरण रूप चातुर्गतिक संसार या परलोक घटित न होने की आपत्ति उठाई गई है। तज्जीव-तच्छरीरवादी शरीर से ही आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं तथा उसे परलोकगामी नहीं मानते, किन्तु उनकी यह मान्यता असंगत एवं मिथ्या है क्योंकि शरीर से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है। इसे सिद्ध करने के लिये वृत्तिकार ने कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

1. दण्ड आदि साधनों के अधिष्ठाता कुम्भकार की तरह आत्मा इन्द्रियों आदि करणों का अधिष्ठाता होने से वह इनसे भिन्न है।
2. शरीररूप भोग्य पदार्थ का भोक्ता शरीर के अंगभूत इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त कोई और पदार्थ होना चाहिए, वह आत्मा ही है।

आत्मा को परलोकगामी न मानना भी यथार्थ नहीं है क्योंकि आत्मा का परलोकगमन भी निम्नोक्त अनुमान से सिद्ध हो जाता है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तत्काल जन्मे हुये बालक को माता के स्तनपान की इच्छा पूर्व जन्म में किये गये स्तनपान के प्रत्यभिज्ञान के कारण होती है। इससे पूर्व जन्मसिद्ध होता है और पूर्वजन्म के सिद्ध होने से अगला जन्म (परलोक) भी सिद्ध हो जाता है। अत: आत्मा का परलोकगमन शुभाशुभ कर्मो के अनुसार अवश्य होता है।

इसी प्रकार धर्मीरूप आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होने से उसके धर्मरूप पुण्य-पाप की भी सिद्धि होती है। पुण्य-पाप को मानने पर जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान ये सुख-दुख आदि विचित्रताएं जो कर्म-फलस्वरूप ही हैं, कैसे संगत हो सकती है?

अकारकवादी सांख्यादि मतवादियों के लिये भी यही आपत्ति शास्त्रकार ने उठाई है—आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी एवं अकर्ता मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म-मरणादिरूप अथवा नरकादिगति गमनरूप यह लोक कैसे सिद्ध होगा? सांख्य मतानुसार कूटस्थ नित्य आत्मा अपरिवर्तनशील, सदा एक रूप में रहने वाला है। ऐसी मान्यता से बालक सदैव बालक एवं मूर्ख सदैव मूर्ख ही रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्म-मरणादि दु:खों का विनाश करने के लिए पुरुषार्थ, कर्मक्षयार्थ तप, संयम-नियम आदि की साधना संभव नहीं होगी।

निर्युक्तिकार ने अकारकवाद पर अनेक आपत्तियां उठाई हैं, यथा—जब आत्मा कर्ता नहीं है और उसका किया हुआ कर्म नहीं है, तो वह बिना कर्म किये उसका सुख-दु:खादि फल कैसे भोग सकता है? यदि कर्म किये बिना ही फलभोग माना जायेगा तो 'कृतनाश' और 'अकृतागम' का दोष आयेगा। अर्थात् जिसने जो कर्म किये उसके उन कर्मो का नाश हो जायेगा और जो कर्म नहीं किये उन कर्मफलों को भोगने का प्रसंग आयेगा।

इसी प्रकार आत्मा कूटस्थनित्य एवं निष्क्रिय मानने से उससे न तो त्रिविध दु:खों का सर्वथा नाश होगा और न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी तथा न ही पूर्वजन्मों का स्मरण आदि क्रिया ही हो सकेगी अत: अकारकवाद का सिद्धान्त युक्ति, प्रमाण एवं अनुभव से विरुद्ध है।

2.4.1.6 आत्मषष्ठवाद

आत्मषष्ठवाद के अनुसार जगत् में पांच महाभूत हैं और छठा आत्मा है। आत्मा और लोक दोनों नित्य शाश्वत हैं, ये कभी नष्ट नहीं होते। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता। आत्मषष्ठवाद का प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार हुआ है—

15. संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिं आहिया।
आयछट्ठा पुणेगाहु, आया लोगे य सासए।15।

अनुवाद—'पांच महाभूत हैं'—यह पंचमहाभूतवादी दार्शनिकों का एक अभिमत हैं। कुछ महाभूतवादी दार्शनिक पांच महाभूत तथा आत्मा को छठा तत्व मानते हैं। उनके मतानुसार आत्मा और लोक शाश्वत है।

16. दुहओ ते ण विणस्संति, णो य उप्पज्जए असं।
सव्वेवि सव्वहा भावा, णियतीभावमागया।16।

अनुवाद—उन दोनों (आत्मा और लोक) का विनाश नहीं होता। असत् उत्पन्न नहीं होता। सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव को प्राप्त हैं, शाश्वत हैं।

उपर्युक्त दो गाथाओं में आत्मषष्ठवादियों की मान्यता का निरूपण किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार वेदवादी सांख्य और शैवाधिकारियों (वैशेषिकों) का यह मत है। डॉ. हर्मन जैकोबी इसे चरक का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मत मानते हैं। बौद्धग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख आता है। यहां इन गाथाओं में शास्त्रकार ने आत्मषष्ठवाद की पांच मुख्य मान्यताओं का निर्देश किया है—

1. अचेतन पांच भूतों के अतिरिक्त सचेतन आत्मा छठा पदार्थ है।
2. आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं।
3. छहों पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता।
4. असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता।
5. सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं।

जहां पूर्वोक्त भूत-चैतन्यवादियों के मत में इन्हें जैसे अनित्य माना गया है वहां इनके मत में इन्हें सर्वथा नित्य माना गया है। इनके अनुसार सर्वथा अनित्य मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती अत: आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापी और अमूर्त होने से नित्य है तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूत-रूप लोक भी अपने स्वरूप से नष्ट न होने के कारण अविनाशी -नित्य है।

बौद्धदर्शन के अनुसार पदार्थ का उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश हो जाता है अत: उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का अन्य कोई कारण नहीं है, परन्तु आत्मषष्ठवादी इस अकारण (निर्हेतुक) विनाश को नहीं मानते और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार डंडे, लाठी आदि के प्रहार (कारणों) से होने वाले सकारण (सहेतुक) विनाश को मानते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा हो चाहे पंचभौतिक लोक हो, वे अकारण और सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते, स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिये नित्य है।

आत्मा भी किसी के द्वारा बनाई गई नहीं है अत: नित्य है। गीता में भी कहा है कि इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती अत: यह आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, अविकार्य है, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

असत् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं होती, सर्वत्र सत् पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है अत: सांख्यदर्शन सत्कार्य के द्वारा आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद की सिद्धि सांख्यकारिका में इन पांच कारणों से की गई है—

असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

1. असदकरणात्—गधे के सींग की तरह जो वस्तु नहीं होती, वह उत्पन्न नहीं की जा सकती।
2. उपादानग्रहणात्—जो वस्तु सत् है, उसी का उपादान विद्यमान होता है। विद्यमान उपादान ग्रहण करने के कारण सत् की ही उत्पत्ति हो सकती है, असत् की नहीं।
3. सर्वसम्भवाभावात्—सभी कारणों से सभी पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती। बालू से तेल नहीं निकल सकता, तिल से ही तेल निकलता है। यदि असत् पदार्थ की उत्पत्ति हो तो पेड़ की लकड़ी से गेहूं आदि क्यों नहीं बना लिये जाते? अत: उपादान कारण से ही कार्य होता है।
4. शक्तस्यशक्यकरणात्—मनुष्य की शक्ति से जो साध्य-शक्य हो, उसे ही वह करता है, अशक्य को नहीं। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो फिर कर्त्ता को अशक्य पदार्थ भी बना देना चाहिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. कारणभावाच्च सत्कार्यम्— योग्य कारण में स्थित अर्थात् विद्यमान सत् पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अन्यथा पीपल के बीज से आम का अंकुर भी पैदा हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि सत्कार्यवाद में उत्पत्ति और विनाश केवल आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ में है। वस्तु का सर्वथा अभाव या विनाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहती है।

समीक्षा

आत्मषष्ठवादियों के मतानुसार आत्मा एवं पंचमहाभूत ये सभी नित्य हैं किन्तु संसार के सभी पदार्थों को सर्वथा या एकान्त-नित्य मानना यथार्थ नहीं है। सभी पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व-परिणाम ही उत्पन्न नहीं हो सकेगा। कर्तृत्व-परिणाम के अभाव में कर्मबन्ध नहीं हो सकेगा। कर्मबन्ध के अभाव में सुख-दु:खरूप कर्मफलभोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि आत्मा को अकर्त्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव ही हो जायेगा। ऐसी स्थिति में सुख दु:ख का अनुभव कौन करेगा।

अगर असत् की कथंचित् उत्पत्ति नहीं मानी जायेगी तो पूर्वभव को छोड़कर उत्तरभव में उत्पत्तिरूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्ष रूप पंचम गति बताई जाती है, वह कैसे संभव होगी? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एवं कूटस्थनित्य मानने पर उसका मनुष्य, देव आदि गतियों में गमन-आगमन संभव नहीं हो सकेगा। इसलिये आत्मा को एकान्त नित्य मानना मिथ्या है।

सत् की ही उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे? घटादि पदार्थ जब तक उत्पन्न नहीं होते, तब तक उनसे जलधारणादि कार्य नहीं हो सकते, अत: घट गुणों से युक्त होकर घटरूप से उत्पन्न होने से पूर्व, मृत्पिण्डादि कार्य को घटरूप में असत् समझना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा किसी अपेक्षा से सत् और किसी अपेक्षा से असत् मानना चाहिए। प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से सत् एवं पर्यायरूप से असत् होती है।

2.4.1.7 पंचस्कन्धवाद और चतुर्धातुवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में पंचस्कन्धवादी कुछ बौद्धों के क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। मूलपाद के अनुसार 'पंचस्कन्धवाद' कुछ क्षणिकवादी बौद्धों का मत है। कुछ बौद्धों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों धातु के रूप जब एकाकार हो जाते हैं, तब इनकी जीवसंज्ञा होती है। इनका प्रतिपादन सूत्रकृतांग सूत्र में इस प्रकार हुआ है-

17. पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खण्जोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं व अहेउयं।17।

अनुवाद-कुछ दार्शनिक (बौद्ध) पांच स्कंधों (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार) का निरूपण करते हैं। वे स्कन्ध क्षणयोगी (क्षणिक) हैं। वे स्कंधों से अन्य या अनन्य आत्मा को नहीं मानते। वे स-हेतुक आत्मा को नहीं मानते।

18. पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु जाणगा ।18।

अनुवाद-धातुवादी बौद्ध यह मानते हैं कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु-इन चार धातुओं से शरीर निर्मित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17वीं गाथा में पंचस्कन्धवादी कुछ बौद्धों के क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। विसुद्धिमग्ग,सुत्तपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार पांच स्कन्ध निम्नलिखित हैं-

1. रूपस्कन्ध 2. वेदनास्कन्ध 3. संज्ञास्कन्ध 4. संस्कारस्कन्ध और 5. विज्ञानस्कन्ध।

इन्हीं पाचों को 'उपादान-स्कन्ध' भी कहा जाता है। इन पांचों स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इन पंच स्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न ही आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग ही गृहीत होता है, जिससे कि आत्मा का अनुमान किया जा सके। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही बौद्ध सम्मत प्रमाण हैं।

बौद्ध मतानुसार स्कन्ध क्षणिक हैं। वे केवल विशेष को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सामान्य यथार्थ नहीं होता। उनके अनुसार ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य हैं और न ही कालान्तर स्थायी हैं, ये सिर्फ क्षणमात्र स्थायी हैं। दूसरे क्षण ही समूल नष्ट हो जाते हैं। स्कन्धों के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये वे अनुमान का प्रयोग करते हैं, यथा-स्कन्ध क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो-जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है, जैसे-मेघमाला। चूंकि मेघमाला सत् है, इसलिए सभी सत् पदार्थ क्षणिक हैं।

सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। सत् में स्थायित्व या नित्यत्व घटित नहीं होता, क्योंकि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकता, इसलिये सत् में क्षणिकत्व ही घटित होता है तथा पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता, वह बाद में भी नष्ट नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि पदार्थ अनित्य क्षणिक हैं।

सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। सत् में स्थायित्व या नित्यत्व घटित नहीं होता, क्योंकि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकता, इसलिये सत् में क्षणिकत्व ही घटित होता है तथा पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता, वह बाद में भी नष्ट नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि पदार्थ अनित्य क्षणिक हैं। 'अण्णो अणण्णो' 'हेउयं अहेउयं' इन चारों पदों का रहस्य खोलते हुये वृत्तिकार ने कहा है कि जिस प्रकार आत्मषष्ठवादी सांख्य पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं या जिस प्रकार पंचमहाभूतवादी या तज्जीव-तच्छरीरवादी पंचभूतों से अभिन्न आत्मा मानते हैं, उस प्रकार ये बौद्ध न तो आत्मा को पंचभूतों से भिन्न मानते हैं और न ही पंचभूतों से अभिन्न। इसी प्रकार बौद्ध आत्मा को न सहेतुक (शरीररूप में परिणत पंचभूतों से उत्पन्न) मानते हैं और न ही अहेतुक (बिना किसी कारण से आदि-अन्तरहित नित्य) आत्मा को मानते हैं।

18वीं गाथा में क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवाद का शास्त्रकार ने निरूपण किया है। यह मान्यता भी वृत्तिकार के अनुसार कुछ बौद्धों की है। चातुर्धातुकवाद का स्वरूप 'सुत्तपिटक' के 'मज्झिमनिकाय' के अनुसार इस प्रकार है चार धातु हैं-1. पृथ्वीधातु 2. जलधातु 3. तेज धातु और 4. वायु धातु। ये चारों पदार्थ जगत् का धारण-पोषण करते हैं इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक 'रूपस्कन्ध' बन जाते हैं, शरीररूप में परिणत हो जाते हैं तब इनकी जीवसंज्ञा (आत्मसंज्ञा) होती है। जैसाकि वे कहते हैं-'यह शरीर चार धातु से बना है, इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा नहीं है।' यह भूतसंज्ञक रूपस्कन्धमय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है अतः चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है।

समीक्षा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसकी समीक्षा में वृत्तिकार का कहना है कि ये सभी बौद्धमतवादी अथवा सांख्य, बौद्ध आदि सभी पूर्वोक्त मतवादी अफलवादी हैं। बौद्ध मतानुसार पदार्थमात्र तथा आत्मा यादान आदि क्रियाएं क्षणिक हैं इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्त्ता-आत्मा का समूल विनाश हो जाता है अतः आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो फिर ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा?

सांख्य मतानुसार एकान्त अविकारी, निष्क्रिय एवं कूटस्थ नित्य आत्मा में कर्तृत्व या भोक्तृत्व ही सिद्ध नहीं होगा। तथा जिनके मत में पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है उनके मतानुसार आत्मा (फलभोक्ता) ही न होने से सुख-दुःखादि फलों का उपभोग कौन और कैसे करेगा? 'विज्ञानस्कन्ध' भी क्षणिक है अतः उसके द्वारा भी सुख-दुःखानुभव नहीं हो सकता।

जब आत्मा ही नहीं है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरकगमन आदि की व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जायेगी तथा मोक्ष-व्यवस्था के अभाव में उनकी शास्त्रविहित सभी प्रवृत्तियां भी निरर्थक हो जायेगी।

एकान्त क्षणिकवाद मानने से जो क्रिया करता है और जो उसका फल भोगता है, इन दोनों के बीच काफी अन्तर होने से कृतनाश और अकृतागम, ये दोनो दोष आते हैं क्योंकि जिस क्षण आत्मा ने क्रिया की, वह तत्काल नष्ट हो गया, इसलिये फल न भोग सका, यह कृतनाश दोष हुआ और जिसने क्रिया नहीं की, वह फल भोगता है, इसलिये यह अकृतागम दोष हुआ।

अनेकान्त दृष्टि से आत्मा एवं पदार्थों का स्वरूप-निर्णय

पदार्थों की समीचीन व्यवस्था के लिये प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार प्रकार के अभावों को मानना आवश्यक है। इसलिये क्षणभंगवाद-निरूपित वस्तु का सर्वथा अभाव मानना संगत नहीं है। प्रध्वंसाभाव के अनुसार वस्तु का पर्याय (अवस्था) परिवर्तन मानना ही उचित हैं ऐसी स्थिति में वस्तु परिणाम-नित्य होगी।

जैन दृष्टि से आत्मा परिणामीनित्य है। वह पंचभूतों से या शरीर से कथंचित् भिन्न और शरीर क साथ रहने से शरीर से कथंचित् अभिन्न है। वह आत्मा कर्मो के द्वारा नरकादि गतियों में विभिन्न रूपों में बदलता रहता है, इसलिये वह अनित्य और सहेतुक भी है तथा आत्माके निज स्वरूप का कभी भी नाश न होने के कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। इस प्रकार मानने से कर्त्ता को क्रिया का सुख-दुःखादिरूप फल भी प्राप्त होगा और बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था भी बैठ जायेगी।

2.4.1.8 एकान्तवादी दर्शनों की निस्सारता

19वीं गाथा से लेकर 27 तक की गाथा में सूत्रकार ने एकान्तवादी दर्शनों की निस्सारता को इस प्रकार प्रकट किया है, यथा-

19. अगारमावसंता वि, आरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चंति। 19।

अनुवाद- वे प्रवादी यह कहते हैं-गृहस्थ, आरण्यक या प्रव्रजित कोई भी हो, जो इस दर्शन में आ जाता है, वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20. तेणाविमं तिणच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते ओहंतराऽऽहिया।20।

अनुवाद– किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दु:ख के प्रवाह का तीर नहीं पा सकते।

21. तेणाविमं तिणच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते संसारपारगा ।21।

अनुवाद–किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खो से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे संसार के पार नही जा सकते।

22. तेणाविमं तिणच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, णते गब्भस्स पारगा ।22।

अनुवाद–किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे गर्भ के पार नहीं जा सकते।

23. तेणाविमं तिणच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते जम्मस्स पारगा ।23।

अनुवाद–किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे जन्म के पार नहीं जा सकते।

24. तेणाविमं ति णच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते दुक्खस्स पारगा ।23।

अनुवाद–किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान जाने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दु:ख के पार नहीं जा सकते।

25. तेणाविमं तिणच्चा णं, ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते मारस्स पारगा ।23।

अनुवाद–किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नही हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे मृत्यु के पार नहीं जा सकते।

26. णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहवंति पुणो पुणो।
सारचक्कवालम्मि, वाहिमच्चुजराकुले।26।

अनुवाद–वे व्याधि, मृत्यु और जरा से आकुल इस संसार चक्रवाल में नाना प्रकार के दु:खों का बार–बार अनुभव करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

27. उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संतणंतसो।
णायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ।27। -त्ति बेमि

अनुवाद-वे उच्च और निम्न स्थानों में भ्रमण करते हुए अनन्त बार जन्म लेंगे-ऐसा जिनोत्तम ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा है। -ऐसा मैं कहता हूं।

19वीं गाथा में शास्त्रकार ने अन्य मतवादियों के द्वारा लोगों को अपने मत-पंथ की ओर खींचने की मनोवृत्ति को दर्शाया है। वे सभी मतवादी यही कहते हैं-चाहे तुम गृहस्थ हो, चाहे आरण्यक या पर्वतीयतापसया रोगी हो, चाहे प्रव्रजित हो, यदि हमारे मत को स्वीकार कर लोगे तो समस्त शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दु:खों से मुक्त हो जाओगे अथवा जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भवास आदि के दु:खों से छुटकारा पा जाओगे।

वनवासी तापस, पर्वतनिवासी योगी या परिव्राजक, जो परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वों से हटकर एकान्त साधना करते थे या उन्हें नैतिक धार्मिक मार्गदर्शन देने से दूर रहते थे, उनके लिये भी वे दार्शनिक यही कहते थे कि हमारे दर्शन को स्वीकार करने से झटपट मुक्ति हो जायेगी, इसमें तुम्हें कुछ भी तप-त्याग करने की जरूरत नहीं है। हमारा मत स्वीकार करने मात्र से तुम्हारी सर्वदु:खों से मुक्ति हो जायेगी। इस प्रकार 19वीं गाथा में अन्य दार्शनिकों द्वारा अपने दर्शन को अपना लेने से दु:खमुक्त हो जाने के झूठे आश्वासन का उल्लेख किया गया है।

20वीं गाथा से लेकर 26वीं गाथा तक शास्त्रकार प्राय: एक ही बात को कई तरह दोहराकर कहते हैं कि वे दार्शनिक दु:ख के मूलस्रोत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, चतुर्गतिरूप संसारचक्र, गर्भ में पुन: पुन: आगमन तथा अन्य अज्ञान-मोहादिजनित कष्टों का पार नहीं कर पाते, इसके दो मूल कारण शास्त्रकार ने बताये हैं-

1. संधि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। 2. वे धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ हैं।

इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार 26वीं गाथा में कहते हैं-'नाणाविहाइं दुक्खाइ, अणुभवंति पुणो पुणो' अर्थात् मतवादी पूर्वोक्त नाना दु:खों को बार-बार भोगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक जीवन में मिथ्यात्व, हिंसादि से अविरति, प्रमाण, कषाय और योग रहेगा, तब तक चाहे वह पर्वत पर चला जाये और चाहे घोर जंगल में जाकर ध्यान लगा ले या अन्य क्रियाकाण्ड कर ले तो भी वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि एवं गर्भवास रूप संसारचक्र-परिभ्रमण के महादु:खों को सर्वथा समाप्त नहीं कर पाता। दु:ख से मुक्ति न होने के दो कारणों में से पहला कारण है-संधि का परिज्ञान न होना।

'ते णावि संधिं णच्चा' इस पंक्ति में 'ते' शब्द उन लोगों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिनके मिथ्यावादों के सम्बन्ध में शास्त्रकार पूर्वगाथाओं में कह आए हैं। इस पंक्ति में 'संधि' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत शब्दकोष के अनुसार संधि के यहां प्रसंगवश मुख्यतया छ: अर्थ होते हैं-

1. संयोग 2. जोड़ या मेल 3. उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञान 4. मत या अभिप्राय 5. अवसर तथा 6. विवर-छिद्र। इन अर्थों के संदर्भ में इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए-

1. आत्मा के साथ कर्म का कहां-कहां कैसे-कैसे संयोग, जोड़ या मेल है?
2. आत्मा के साथ कर्मबन्ध की संधि कहां-कहां और किन कारणों से हो जाती है?
3. उत्तरोत्तर अधिक पदार्थों को वे नहीं पहचानते।
4. आत्मा किस प्रकार कर्मबन्धन से रहित हो सकता है, इस मत या अभिप्राय को वे नहीं समझ पाते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. वे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का विवर (रहस्य) नहीं जानते।
6. आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्ति का अवसर कैसे मिल सकता है?

इस प्रकार संधि को जाने बिना ही वे मतवादी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं और दु:ख की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाते।

दु:खों से मुक्त न होने का दूसरा कारण है-उनका धर्म विषयक अज्ञान। जब वे आत्मा को ही नहीं मानते हैं तो उसे कूटस्थ नित्य या क्षणिक मानते हैं, पंचभूतों या चतुर्धातुओं तक ही सीमित मानते हैं तब वे आत्मा के धर्म को, उसके ज्ञान-दर्शन चारित्र गुणों को कैसे जान पाएंगे? नहीं जान पाने के कारण वे संसार परिभ्रमण से भी मुक्त नहीं हो पायेंगे।

27वीं गाथा में 'उच्चावयाणि गच्छंता गब्भमेस्संति पुणो पुणो' यह भविष्यवाणी भगवान् महावीर के द्वारा पूर्वोक्त वादियों के लिये की गई है। इस प्रकार गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से तीर्थंकर महावीर से साक्षात् सुना हुआ वर्णन किया है।

2.4.2 बीओ उद्देसो : दूसरा उद्देशक

प्रथम उद्देशक में स्वसमय और परसमय का निरूपण किया गया। इसी प्रकार दूसरे उद्देशक में भी स्वसमय-परसमय का वर्णन किया जा रहा है। पहले उद्देशक में भूतवादी आदि का मत बताया गया था और दूसरे उद्देशक में अदृष्ट नियतिवादी आदि दार्शनिकों का मत बताया जा रहा है। प्रथम उद्देशयक में **'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा'** आदि बोध सूत्रों के द्वारा यह बताया गया कि जीव को पहले बोध प्राप्त करना चाहिये और आत्मस्वरूप का बोध होते ही बन्धन का स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिये। आत्मस्वरूप के बोध के साथ-साथ 'बन्धन' के सम्बन्ध में किस दार्शनिक ने क्या कहा है? किसने बन्धन को माना है, किसने नहीं? इन सब बातों का बोध करना भी आवश्यक है। इसलिये अब दूसरे उद्देशक में शास्त्रकार नियतिवादी आदि ने क्या कहा है, वह क्रमश: बताते हैं—

2.4.2.1 नियतिवाद

नियति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—**'नियम्यते धर्मा अनया इति नियति:'** अर्थात् नियमन करने वाली शक्ति नियति है। इस मत के अनुसार जगत् में सब कुछ एक प्रकार से नियत है। जीव में वह शक्ति नहीं कि वह इस नियत चक्र में परिवर्तन कर सके। सूत्रकृतांग के दूसरे उद्देशक में प्रारम्भ की लगभग तेरह गाथाओं में इसी मत का प्रतिपादन हुआ है। यथा—

28. आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ।1।

अनुवाद—कुछ दार्शनिक (नियतिवादी) यह निरूपित करते हैं—जीव पृथक्-पृथक उत्पन्न होते हैं, पृथक्-पृथक् सुख-दु:ख का वेदन करते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से च्युत होते हैं—मरते हैं।

29. ण तं सयं कडं दुक्खं, ण य अण्णकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं।2।

अनुवाद—वह दु:ख स्वयंकृत नहीं होता, अन्यकृत भी नहीं होता। सैद्धिक—निर्वाण का सुख हो अथवा असैद्धिक—सांसारिक सुख-दु:ख हो (वह सब नियतिकृत होता है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

30. ण सयं कडं ण अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहियं।3।

अनुवाद—सभी जीव न स्वकृत सुख-दु:ख का वेदन करते हैं और न अन्यकृत सुख-दु:ख का वेदन करते हैं। वह सुख-दु:ख उनके सांगतिक—नियतिजनित होता है, ऐसा कुछ (नियतिवादी) मानते हैं।

31. एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडियमाणिणो।
णिययाणिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया।4।

अनुवाद—इस प्रकार नियतिवाद का प्रतिपादन करने वाले अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं। कुछ सुख-दु:ख नियत होता है और कुछ अनियत—इस सत्य को वे अल्पबुद्धि वाले मनुष्य नहीं जानते।

32. एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिया।
एवंपुवट्ठिया संता, णऽत्तदुक्खविमोयगा।5।

अनुवाद—इस प्रकार कुछ पार्श्वस्थ (नियति का एकांगी आग्रह रखने वाले नियतिवादी) साधना-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। यह उनकी दोहरी धृष्टता है। वे साधना-मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी अपने दु:खों का विमोचन नहीं कर सकते।

33. जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण तज्जिया।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो।6।

अनुवाद—जैसे वेगगामी मृग मृगजाल से भयभीत और श्रान्त (दिग्मूढ़) होकर अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति अशंकित रहते हैं।

34. परिताणियाणि संकंता, पासियाणि असंकिणो।
अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं।7।

अनुवाद—वे बिछे हुए मृगजाल के प्रति शंकित होते हैं और पाशयंत्र के प्रति अशंकित होते हैं। वे अज्ञानवश भय से व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं।

35. अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदो ण देहई।8।

अनुवाद—यदि वे छलांग भरते हुए पदपाश (कूटयंत्र) की बाध को फांद जाएं अथवा उसके नीचे से निकल जाएं तो वे उस पदपाश से मुक्त हो सकते हैं, किन्तु वे मंदमति उस उपाय को नहीं देख पाते।

36. अहियप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागए।
से बद्धे पयपासाइं, तत्थ घायं णियच्छइ।9।

अनुवाद—अपना हित नहीं समझने वाले और हित की बुद्धि से शून्य वे मृग विषमांत—संकरे द्वार वाले पाशयंत्र से जाते हैं और उस बंधन में बंधकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

37. एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो।10।

अनुवाद—इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति शंका नहीं करते।

38. धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढ़गा।
आरंभाइं ण संकंति, अवियत्ता अकोविया।11।

अनुवाद—अव्यक्त, अकोविद और मोहमूढ़ श्रमण जो धर्म की प्रज्ञापना है उसके प्रति शंका करते हैं और आरंभ (हिंसा) के प्रति शंका नहीं करते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

39. सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए।12।

अनुवाद—पूर्ण लोभ, मान, माया और क्रोध को नष्ट कर साधक अकर्मांश (सिद्ध) हो जाता है, किन्तु मृग की भांति अज्ञानी नियतिवादी इस अर्थ (उपलब्धि) से च्युत हो जाता है—अकर्मांश नहीं हो सकता।

40. जे एयं णाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंतऽणंतसो।13।

अनुवाद—जो मिथ्यादृष्टि अनार्य इस (अकर्मांश होने के उपाय) को नहीं जानते, वे पाश से बद्ध मृग की भांति अनन्त बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

दूसरे उद्देशक की प्रथम तीन गाथाओं में नियतिवाद का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है एवं चौथी गाथा से तेरहवीं गाथा तक उसका निराकरण किया गया है।

कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख दु:ख का अनुभव करते हैं तथा यथाप्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता। इन सबका मूल कारण 'नियति' है। जहां, जिस प्रकार तथा जैसा होने का भवितव्य होता है, वहां, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है। उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। जगत् में सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं है। कुछ नियतिवादी दार्शनिक यह निरूपित करते हैं कि जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं; पृथक्-पृथक् सुख दु:ख का वेदन करते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से च्युत होते हैं, मरते हैं। वह दु:ख स्वयंकृत नहीं होता, अन्यकृत भी नहीं होता। निर्वाण का सुख हो चाहे सांसारिक सुख-दु:ख हो सबकुछ नियतिकृत होता है।

बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्ञफल-सुत्त में आजीवक मत प्रवर्तक मंखलिगोशालक के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है—प्राणियों के क्लेश (दु:ख) का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के प्राणी शुद्ध होते हैं। न वे स्वयं कुछ कर सकते हैं और न पराये कुछ कर सकते हैं, कोई पुरुषार्थ नहीं है, बल नहीं, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस नहीं है और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्त्व, समस्त प्राणी, सभी भूत और सभी जीव लाचार हैं, निर्बल हैं, निर्वीर्य हैं, नियति के संयोग से छह जातियों में उत्पन्न होकर सुख-दु:ख भोगते हैं। जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर तथा अनुगमन कर दु:खों का अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूंगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूंगा। सुख और दु:ख तो द्रोण से नपे-तुले (नियत) हैं, संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। भावी घटनायें पूर्व नियत हैं, उसमें परिवर्तन संभव नहीं। जिस प्रकार सूत का गोला गिरने पर खुलता जाता है और सूत बाहर आता जाता है उसी प्रकार कालरूपी गोला खुलता जाता है और पूर्व नियत घटनायें घटित होती रहती हैं।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में नियतिवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है—'चूंकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं, अत: ज्ञात हो जाता है कि ये सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न हैं।' समस्त चराचर-जगत् नियति से बंधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना होता है, वह उससे, उसी समय उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से सिद्ध नियति की गति को कौन रोक सकात है? कौन इसका खण्डन कर सकता है? साथ ही काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी वह युक्तिपूर्वक निराकरण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

काल को त्रिकाल-त्रिलोकव्यापी तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का, यहाँ तक कि प्रत्येक कार्य, सुख-दु:खादि का कारण मानने वाले कालवादियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं—एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा किये जाने वाले एक जैसे कार्य में एक को सफलता और दूसरे को असफलता क्यों मिलती है? एक ही काल में एक को सुख और एक को दु:ख क्यों मिलता है? अत: नियति को माने बिना कोई चारा नहीं।

स्वभाववादी सारे संसार को स्वभाव से निष्पन्न मानते हैं, वे कहते हैं—मिट्टी का ही घड़ा बनने का स्वभाव है, कपड़ा बनने का नहीं, सूत का ही कपड़ा बनने का स्वभाव है, घड़ा नहीं। इस तरह प्रतिनियत कार्य-कारण भाव, स्वभाव के बिना नहीं बन सकता। सभी पदार्थ, स्वत: परिणमन-स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इसमें नियति की क्या आवश्यकता है? इन युक्तियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं कि—भिन्न-भिन्न प्राणियों का, इतना ही नहीं, एक ही जाति के अथवा एक ही माता के उदर से जन्मे दो प्राणियों का पृथक्-पृथक् स्वभाव नियत करने का काम नियति के बिना हो नहीं सकता। नियतिवाद ही इस प्रकार का यथार्थ समाधान कर सकता है। फिर स्वभाव पुरुष से भिन्न न होने के कारण वह सुख-दु:ख का कर्त्ता नहीं हो सकता।

ईश्वर का या पुरुष का (स्वकृत) पुरुषार्थ भी सुख-दु:ख-कर्त्ता या जगत् के सभी पदार्थों का कारण नहीं हो सकता। एक समान पुरुषार्थ करने पर भी दो व्यक्तियों का कार्य एक-सा सफल क्यों नहीं हो पाता? अत: इसमें भी नियति का हाथ है। ईश्वरकृत पदार्थ मानने पर भी अनेक आपत्तियां आती हैं। अब रहा कर्म कर्मवादी कहते हैं—किसान, वणिक् आदि का एक जैसा उद्योग होने पर भी उनके फल में विभिन्नता या फल की अप्राप्ति पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के प्रभाव को सूचित करती है। इसका प्रतिवाद नियतिवादी इस प्रकार करते हैं—'कर्म पुरुष से भिन्न नहीं होता, वह अभिन्न होता है, ऐसी स्थिति में वह पुरुषरूप हो जायेगा और पुरुष पूर्वोक्त युक्तियों से सुख-दु:खादि का कारण नहीं हो सकता। नियति ही एकमात्र ऐसी है, जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण हो सकती है। संसार में जो आकस्मिक और आश्चर्यकारी घटनायें घटित होती हैं, वे वस्तुत: आकस्मिक नहीं होती। जो नियति के रहस्य को नहीं समझ पाते उनके लिये वे आश्चर्यकारी प्रतीत होती हैं।

भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे। उन्होंने कहा व्यक्ति अपने लक्ष्य का निर्धारण करने में स्वतंत्र है। वह अपने पुरुषार्थ से निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। लेकिन नियतिवाद की शरण में जाकर व्यक्ति यह भूल जाता है और यह मानने लगता है कि सबकुछ पूर्व नियत या किसी सत्ता के द्वारा निर्धारित है।

भगवती के 15वें शतक में नियतिवादी गोशालक के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। नियतिवादी सम्बन्धी मान्यता का उपासकदशा के सातवें अध्याय में भी वर्णन उपलब्ध होता है।

भगवान् महावीर सद्दालपुत्त के कुंभकारापण में विहार कर रहे थे। उस समय सद्दालपुत्त घड़ो को धूप में सुखा रहा था। भगवान् महावीर ने पूछा—सद्दालपुत्त! ये घड़े कैसे बनाये जाते हैं? सद्दालपुत्त ने कहा—भंते! पहले मिट्टी मिलाते हैं, फिर उसमें जल मिलाकर रौंदते हैं, फिर उसमें राख मिलाते हैं। फिर मिट्टी का पिण्ड बना उसे चाक पर चढ़ाते हैं। इस प्रकार ये घड़े तैयार किये जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—'सद्दालपुत्त! ये घड़े उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम से किये जाते हैं? या अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किये जाते हैं?' सद्दालपुत्त ने कहा—'भंते! ये सब अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किये जाते हैं। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि से नहीं। सब भाव नियत हैं।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने नियतिवादियों के एक तर्क का उल्लेख किया है। नियतिवादी मानते हैं कि अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फल भोग करता है उसके पीछे कर्तृत्व अवश्य है, किन्तु यह कर्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्तृत्व हो, वह क्रिया करने में स्वतंत्र हो तो वह सब कुछ मनचाहा करेगा। उसे जो इष्ट नहीं है, वह उसे फिर क्यों करेगा? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अनिच्छित कार्य भी करता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि सबकुछ नियति करती है।

समीक्षा

नियतिवाद की मान्यता यहां तक तो ठीक है कि जगत् में सभी जीवों का अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। यह तथ्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्ध है। क्योंकि जब तक आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं मानी जायेगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दु:ख नहीं भोग सकेगा और न ही सुख-दु:ख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति तथा एक योनि को छोड़कर दूसरे शरीर, दूसरी गति तथा योनि को प्राप्त कर सकेगा। जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने पर ही ये सब बातें घटित हो सकती हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त इस युक्ति से भी जीव पृथक्-पृथक् इसलिए सिद्ध है कि संसार में कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई धनी, कोई निर्धन आदि विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। प्रत्येक प्राणी को होने वाले न्यूनाधिक सुख-दु:ख के अनुभव को हम झुठला नहीं सकते, तथा आयुष्य पूर्ण होते ही वर्तमान शरीर को यहीं छोड़कर दूसरे भव में प्राणी चले जाते हैं। कई व्यक्तियों को अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो जाता है, इस अनुभूति को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर पञ्चभूतात्मवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, पञ्चस्कन्धवाद या चातुर्धातुकवाद आदि बातों का खण्डन स्वत: हो जाता है। इस अंश में नियतिवाद का कथन सत्यस्पर्शी है, परन्तु इससे आगे जब नियतिवादी यह कहते हैं कि प्राणियों के द्वारा भोगे जाने वाले सुख-दु:ख आदि न तो स्व-कृत हैं, न पर-कृत हैं, वे तो एकान्त नियतिकृत ही हैं, तब उनका ऐकान्तिक कथन मिथ्या हो जाता है।

द्वितीय उद्देशक की चौथी गाथा में शास्त्रकार नियतिवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं— **'णिययाणिययं संतं अयाणंता अबुद्धिया।'** इसका आशय यह है कि नियतिवादी एकान्त नियतिवाद को पकड़े हुए हैं। वे इस बात को नहीं जानते कि संसार में सुख-दु:ख आदि सभी नियतिकृत नहीं होते, कुछ सुख-दु:ख आदि नियतिकृत होते हैं, जैसे निकाचित कर्म। निकाचित कर्म का फल नियत है उसे पुरुषार्थ के द्वारा बदला नहीं जा सकता। परन्तु कई सुख-दु:ख अनियत भी होते हैं। पुरुषार्थ, काल, स्वभाव आदि के द्वारा उसे बदला जा सकता है। ऐसी स्थिति में केवल नियति को कारण मानना अज्ञान है।

आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' में बताया है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ ये पंच कारण-समवाय हैं। इनके सम्बन्ध में एकान्त कथन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यक्त्व है।

जैनदर्शन सुख-दु:ख आदि को कथञ्चित् पुरुषकृत पुरुषार्थ साध्य भी मानता है, क्योंकि क्रिया से फलोत्पत्ति होती है और क्रिया पुरुषार्थाधीन है। कहीं पुरुषार्थ की भिन्नता फल की भिन्नता का कारण होती है, कहीं दो व्यक्तियों का एक समान पुरुषार्थ होने पर भी किसी को फल नहीं मिलता, वह उसके कर्म का फल है। इस प्रकार कथंचित् काल भी सुखादि का कारण है। जैसे—आम, कटहल, जामुन आदि वृक्षों में विशिष्ट काल आने पर ही फल की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। एक ही समय में विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में बोये हुए बीज में से एक में अन्नादि उग जाता है, दूसरी ऊसर मिट्टी में नहीं उगता, इस कारण स्वभाव को भी कथंचित् कारण माना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, ये पांचों कारण प्रत्येक कार्य में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं, इसे अस्वीकार कर केवल नियति को मानना दोषयुक्त है।

अज्ञानवाद

अज्ञानवाद वह है, जिसमें अज्ञान को ही कल्याणकारी माना जाता है, अतः अज्ञान ही इस दार्शनिकवाद का आधार है। इसका प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार हुआ है, यथा—

41. माहणा समणा एगे, सव्वे णाणं सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा, ण ते जाणंति किंचणं।14।

अनुवाद—कुछ ब्राह्मण और श्रमण—वे सब अपने-अपने ज्ञान की सचाई को स्थापित करते हुए कहते हैं—'समूचे लोक में (हमारे मत से भिन्न)' जो मनुष्य हैं वे कुछ भी नहीं जानते।

42. मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए।
ण हेउं से वियाणाइ, भासियं तऽणुभासए ।15।

अनुवाद—जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ के कथन को दोहराता है, उसके कथन के अभिप्राय को नहीं जानता, किन्तु कथन का पुनः कथन कर देता है।

43. एवमण्णाणिया णाणं, वयंता वि सयं सयं।
णिच्छयत्थं ण जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया।16।

अनुवाद—इसी प्रकार अज्ञानी (पूर्णज्ञान से शून्य) अपने-अपने ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी निश्चय-अर्थ (सत्य) को नहीं जानते, म्लेच्छ की भांति अज्ञानी होने के कारण उसका हार्द नहीं समझ पाते।

44. अण्णाणियाण वीमंसा, अण्णाणे ण णियच्छइ।
अप्पणो य परं णालं, कतो अण्णाणुसासिउं? ।17।

अनुवाद—अज्ञानिकों का उक्त विमर्श अज्ञान के विषय में निश्चय नहीं करा सकता। (संदिग्ध मतिवाले) अज्ञानवादी अपने आपको भी जब अज्ञानवाद का अनुशासन नहीं दे सकते तब दूसरों को उसका अनुशासन कैसे दे सकते हैं?

45. वणे मूढे जहा जंतू, मुढणेयाणुगामिए
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं णियच्छई।18।

अनुवाद—जैसे वन में दिग्मूढ़ बना हुआ मनुष्य दिग्मूढ़ नेता (पथ-दर्शक) का अनुगमन करता है तो वे दोनों मार्ग को नहीं जानते हुए घोर जंगल में चले जाते हैं।

46. अंधो अंधं पहं णेंतो, दूरमद्धाण गच्छई।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए।19।

अनुवाद—जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को मार्ग में ले जाता हुआ (जहां पहुंचना है वहां से) दूर मार्ग में चला जाता है अथवा उत्पथ में चला जाता है अथवा किसी दूसरे मार्ग में चला जाता है।

47. एवमेगे णियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए।20।

अनुवाद—इसी प्रकार कुछ मोक्षार्थी कहते हैं—'हम धर्म के आराधक हैं।' किन्तु (वे धर्म के लिए प्रव्रजित होकर भी) अधर्म के मार्ग पर चलते हैं। वे सबसे सीधे मार्ग (संयम) पर नहीं चलते।

48. एवमेगे वियक्काहिं, णो अण्णं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई।21।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुवाद—कुछ अज्ञानवादी अपने वितर्कों के गर्व से किसी दूसरे (विशिष्ट ज्ञानी) की पर्युपासना नहीं करते। वे अपने वितर्कों के द्वारा यह कहते हैं कि हमारा यह मार्ग ही ऋजु है, शेष दुर्गति है—उत्पथगामी हैं।

49. एवं तक्काए साहेंता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते णातिवट्टंति, सउणी पंजरं जहा।22।

अनुवाद—वे तर्क से (अपने मत को) सिद्ध करते हैं, पर धर्म और अधर्म को नहीं जानते। जैसे पक्षी पिंजरे से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता, वैसे ही वे दु:ख से मुक्त नहीं हो सकते।

50. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया।23।

अनुवाद—अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निंदा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं, वे संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को बढ़ाते हैं।

अज्ञानवादी दर्शन के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है। चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्या करने वाले व्यक्तियों, अटवी में रहकर फल-फूल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को 'अज्ञानवादी' माना है।

सूत्रकृतांग के टीकाकार श्री शीलांकसूरि ने अज्ञानवाद को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है। उन्होंने बौद्धों को भी अज्ञानी माना है। उनके अनुसार जो अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं वे अज्ञानवादी हैं।

अज्ञानवादियों का ऐसा अभिमत है कि संसार में सत्य-असत्य का निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है। सभी अपनी-अपनी मान्यताओं को सत्य बतलाते हैं, उन्हें सिद्ध करने के लिए प्रमाण और युक्तियाँ भी देते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थ पर पहुंच पाना दुष्कर है। इसलिए ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

अज्ञानवाद में निम्नलिखित बातें स्पष्टत: प्रतीत होती हैं—

1. ज्ञान से उन्माद, वाद-विवाद, संघर्ष, वाक्कलह, अहंकार, कषाय आदि पैदा होते हैं।
2. अज्ञान अपराध से बचने का सरल उपाय है।
3. अज्ञान से मन में राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते।
4. संसार में अनेक दर्शन हैं, जो परस्पर विरोधी होने से सत्य का निर्णय नहीं कर सकते हैं।
5. असर्वज्ञ-व्यक्ति 'सर्वज्ञ' की पहचान या निर्णय नहीं कर सकता।
6. मुक्ति-प्राप्ति के लिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है।

'अज्ञानवाद' निर्वाण-प्राप्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं मानता। अज्ञानवादी कहते हैं कि परलोक, स्वर्ग और नरक तथा अच्छे-बुरे कर्मों के फल आदि के विषय में हम कुछ नहीं जान सकते हैं। स्वर्ग आदि का अस्तित्व है—यह भी नहीं कहा जा सकता अथवा 'नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता है।

एकान्तवादी, संशयवादी, अज्ञान एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त अन्य दार्शनिक को वन्यमृग की उपमा देकर बताया है कि वे ऐसे मृग के समान हैं—

1. जो असुरक्षित होते हुए भी सुरक्षित एवं अशंकनीय स्थानों को असुरक्षित व शंकास्पद मान लेते हैं और असुरक्षित एवं शंकनीय स्थानों को सुरक्षित एवं अशंकनीय मानते हैं।
2. वे चाहें तो पैरों में पड़े हुए पाश-बन्धन से छूट सकते हैं, किन्तु वे उस बन्धन को ही नहीं समझते।
3. अन्त में, विषम प्रदेश में पहुँचकर बन्धन में बँधते जाते हैं और वहीं समाप्त हो जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार एकान्तवादी अज्ञान-मिथ्यात्व ग्रस्त कई अनार्य श्रमण हैं, जो स्वयं सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चरित्र से पूर्णतः सुरक्षित नहीं हैं, जो हिंसा-असत्य-मिथ्याग्रह, एकान्तवाद या विषय-कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को निःशंक होकर ग्रहण करते हैं और अधर्म-प्ररूपकों की उपासना करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अहिंसा, सत्य, अनेकान्त अपरिग्रह आदि सत्धर्मों में वे शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं। जो सद्धर्म-प्ररूपक वीतराग, सर्वज्ञ हैं या उनके प्रतिनिधि हैं, उन पर शंका एवं क्षमादि सद्धर्म की प्ररूपणा जिन शास्त्रों में है, उन पर शंका करते हैं और यह कहते हुए ठुकरा देते हैं कि यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इसके विपरीत जिन कथित शास्त्रों में यज्ञीय आरम्भ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की प्ररूपणा है, कामना, आकांक्षा पूर्ण कर्मकाण्डों का विधान है, हिंसाजनक कार्यों की प्रेरणा है, ऐसे पापोपादानभूत आरम्भों से बिल्कुल शंका नहीं करते, उसी अधर्म को धर्म-प्ररूपणा मानकर अन्ततोगत्वा वे एकान्तवादी अज्ञानी एवं मिथ्यावादी लोग घोर पापकर्म के पाश में फंस जाते हैं जिसका परिणाम निश्चित है—बार-बार जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण।

यहाँ पूर्वोक्त अज्ञानियों की मनोदशा के फलस्वरूप तीन प्रक्रियाएँ बतायी हैं—

1. अशंकनीय पर शंका तथा शंकनीय पर अशंका।2. कर्मबन्धन में बद्धता और 3. अन्त में विनाश

2.4.2.2 अज्ञानवादियों के दो रूप

सूत्रकृतांग में दो प्रकार के अज्ञानवादियों का निरूपण है—एक तो वे हैं, जो थोड़ा सा मिथ्याज्ञान पाकर उसमें गर्व से उन्मत्त बने हुए कहते हैं कि जगत् का सारा ज्ञान हमारे पास है, परन्तु उनका ज्ञान केवल ऊपरी, सतही अथवा पल्लवग्राही होता है। वे अन्तर की गहराई में, आत्मानुभूति युक्त ज्ञान नहीं पा सकते। उनका ज्ञान केवल शास्त्रवाक्यों का तोतारटन है, जिसे वे भोले-भाले लोगों के सामने बघारा करते हैं। जैसे देशी भाषा में बोलने वाले आर्य व्यक्ति के आशय को न समझ कर अनार्य जन उसका अनुकरण मात्र कर देते हैं वैसे ही वे तथाकथित शास्त्रज्ञानी, वीतराग सर्वज्ञों की अनेकान्तमयी सापेक्षवाद युक्त वाणी का आशय न समझ कर उच्चारण मात्र कर देते हैं।

दूसरे वे अज्ञानवादी हैं जो कहते हैं कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, संघर्ष, वाक्कलह, अहंकार, कषाय आदि से बचे रहेंगे। जानबूझकर अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानवश अपराध हाने पर दण्ड बहुत ही अल्प मिलता है, कभी नहीं भी मिलता। मन में राग-द्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे सरल उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना। मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

फिर संसार में विभिन्न मत हैं, अनेक पंथ हैं, नाना शास्त्र हैं, बहुत से धर्म-प्रवर्तक हैं, किसका ज्ञान सत्य है, किसका असत्य? इसका निर्णय और विवेक करना बहुत ही कठिन है। किसी ने शास्त्र का उपदेश देते किसी सर्वज्ञ को आंखों से नहीं देखा। ये शास्त्रवचन सर्वज्ञ के हैं या नहीं? शास्त्रोक्तवचन का यही अर्थ है या अन्य कोई? इस प्रकार का निश्चय करना भी टेढ़ी खीर है। अतः इन सब झमेलों से दूर रहने के लिए अज्ञान का सहारा लेना ही हितावह है।

समीक्षा

इन दोनों प्रकार के अज्ञानवादियों का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् शास्त्रकार ने प्रथम प्रकार के ज्ञानगर्व से युक्त अज्ञानवादियों की मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए उनके अज्ञानवाद का दुष्परिणाम अनन्त संसार-परिभ्रमण बताया है। उसका निष्कर्ष यह है कि वे साधुवेष धारण करके मोक्षार्थी बनकर कहते हैं कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हम ही धर्माराधक हैं। किन्तु धर्माराधना का क-ख-ग वे नहीं जानते। वे षट्काय के उपमर्दन-रूप-आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं, दूसरों को भी आरम्भ का उपदेश देते हैं। उस हिंसादि पापारम्भ से रत्नत्रय रूप धर्माराधना तो दूर रही, उलटे वे धर्म-भ्रमवश अधर्म कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे संयम एवं सद्धर्म के मार्ग को ठुकरा देते हैं। न ही ऐसे सद्धर्म-प्ररूपकों की सेवा में बैठकर उनसे धर्म समझते हैं। धर्माधर्म के तत्त्व से अनभिज्ञ वे लोग केवल कुतर्कों के सहारे अपनी मान्यता सिद्ध करते हैं। जैसे पिंजरे में बंद पक्षी उसे तोड़कर बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही अज्ञानवादी अपने मतवादरूपी या संसाररूपी पिंजरे को तोड़कर बाहर नहीं निकल सकते। वे केवल अपने ही मत की प्रशंसा में रत रहते हैं, फलतः अज्ञानवाद रूप मिथ्यात्व के कारण वे संसार के बंधन में दृढ़ता से बंध जाते हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले जो दूसरे प्रकार के अज्ञानवादी हैं, शास्त्रकार उनका भी इस प्रकार निराकरण करते हैं—

अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वे सब विचार-चर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणों तथा तर्क, हेतु, युक्ति) द्वारा करते हैं, यह 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। वे अपने अज्ञानवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ज्ञान का सहारा क्यों लेते हैं?

ज्ञान का आश्रय लेकर वे अपने ही सिद्धान्त का अपने विरुद्ध व्यवहार से खण्डन करते हैं। जब वे स्वयं 'अज्ञानवाद' सिद्धान्त के अनुशासन में नहीं चल सकते, तब दूसरों को कैसे अनुशासन में चलायेंगे तथा ज्ञान की तिलांजलि देकर अज्ञानवाद के शिक्षार्थियों को कैसे शिक्षा दे सकेंगे?

अज्ञानवादग्रस्त जब स्वयं सन्मार्ग से अनभिज्ञ हैं, तब उनके नेतृत्व में बेचारा दिशामूढ़ मार्ग से अनभिज्ञ भी अत्यन्त दुःखी होगा। वहां तो यही कहावत चरितार्थ होगी—**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** अन्धे मार्गदर्शक के नेतृत्व में चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्गभ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही सम्यक् मार्ग से अनभिज्ञ अज्ञानवादी के पीछे चलने वाले नासमझ पथिक का हाल होता है।

शास्त्रकार कहते हैं—**'अण्णाणिया वा कुसला वि संता ..... '** इसका आशय यह है कि अज्ञानवादी अपने आपको कुशल मानते हैं, किन्तु अज्ञान के कारण कोई जीव कुशल-मंगल नहीं होता। अज्ञान के कारण ही जीव नाना दुःखों से पीड़ित होता है, बुरे कर्म करके वह दुर्गति और नीच योनि में जाता है। नरक में कौन से ज्ञानी हैं? अज्ञानी ही तो हैं? यदि अज्ञान ही सुख का कारण होता तो वे परस्पर लड़ते-झगड़ते क्यों हैं? क्यों इतना दुःख पाते हैं? अतः मानना चाहिये ज्ञान कल्याण का साधन है, अज्ञान नहीं।

प्रायः सभी दर्शनों में ज्ञान को महत्त्व दिया गया है। जैनदर्शन में **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'** के रूप में ज्ञान को महत्त्व दिया है। वेदान्त तो ज्ञानवादी है ही। बौद्धदर्शन में प्रज्ञा पारमिता ज्ञान के वैशिष्ट्य की सूचक है। यही कारण है कि आज जगत् में अज्ञानवाद के नाम पर न कोई सम्प्रदाय है और न कोई सुप्रतिष्ठ चिन्तनधारा ही है। अतः अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना बंधन का मुख्य कारण है।

2.4.2.3 कर्मोपचयनिषेधवादः क्रियावादी दर्शन

कर्मोपचयनिषेधवाद क्रियावादी दर्शन है। क्रिया आत्मा की सूचक है, अतः जो वादी आत्मा की स्थिति को स्वीकार करते हैं वे क्रियावादी हैं। जो यह मानते हैं कि जीव नरक में दुःख का अनुभव करते हैं तथा दुःख और उसके सम्पूर्ण नाश का भी जिन्हें ज्ञान है, वे क्रियावाद के व्याख्याता माने जाते हैं। यह बौद्धदर्शन का एक भेद है। यद्यपि बौद्ध अक्रियावादी है किन्तु यहां स्पष्टतः बौद्धदर्शन को क्रियावादी दर्शन बताया है। वह अपेक्षाभेद से समझना चाहिये।

सूत्रकृतांग में क्रियावाद का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

51. अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, दुक्खखंधविवद्धणं।24।

अनुवाद—अज्ञानवादी दर्शन के बाद क्रियावादी दर्शन का निरूपण किया जा रहा है जो प्राचीन काल से निरूपित है। बौद्धों का कर्म-विषयक चिन्तन सम्यक्-इष्ट नहीं है। इसलिए वह दु:ख-स्कंध को बढ़ाने वाला है।

52. जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसइ।
पुट्ठो वेदेइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं।25।

अनुवाद—जो जीव को जानता हुआ (संकल्पपूर्वक) काया से उसे नहीं मारता अथवा अबुध हिंसा करता है—अनजान में किसी को मारता है, उसके अव्यक्त (सूक्ष्म) सावद्य (कर्म) स्पृष्ट होता है। उसी क्षण उसका वेदन हो जाता है—क्षीण होकर पृथग् हो जाता है।

53. संतिमे तओ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया।26।

अनुवाद—ये तीन आदान—मार्ग हैं जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है—

1. अभिक्रम्य—स्वयं जाकर प्राणी की घात करना।
2. प्रेष्य—दूसरे को भेजकर प्राणी की घात करवाना।
3. प्राणी की घात करने वाले का अनुमोदन करना।

54. एए उ तओ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
एवं भावविसोहीए, णिव्वाणमभिगच्छइ।27।

अनुवाद—ये तीन आदान हैं जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है। जो इन तीन आदानों का सेवन नहीं करता वह भावविशुद्धि (राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति) के द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है।

55. पुत्तं पि ता समारंभ, आहारट्ठं असंजए।
भुंजमाणो वि मेहावी, कम्मुणा णोवलिप्पते।28।

अनुवाद—असंयमी गृहस्थ भिक्षु के भोजन के लिए पुत्र (सूअर या बकरे) को मार कर मांस पकाता है, मेधावी भिक्षु उसे खाता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

56. मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ।
अणवज्जं अतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो।29।

अनुवाद—जो मन से प्रद्वेष करते हैं—निर्घृण होते हैं उनके कुशल-चित्त नहीं होता। (केवल काय-व्यापार से) कर्मोपचय नहीं होता—यह उनका सिद्धान्त तथ्यपूर्ण नहीं है। उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले संवृतचारी नहीं होते—कर्म-बंध के हेतुओं में प्रवृत्त रहते हैं।

57. इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं, सायागारवणिस्सिया।
सरणं ति मण्णमाणा, सेवंती पावगं जणा।30।

अनुवाद—इन दृष्टियों को स्वीकार कर वे वादी शारीरिक सुख में आसक्त हो जाते हैं। वे अपने मत को शरण मानते हुए सामान्य व्यक्ति की भांति पाप का सेवन करते हैं।

58. जहा आसाविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं, अंतराले विसीयई।31।

अनुवाद—जैसे जन्मान्ध मनुष्य सच्छिद्र नौका में बैठकर समुद्र का पार पाना चाहता है, (किन्तु उसका पार नहीं पाता), वह बीच में ही डूब जाता है।

59. एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति।32।

अनुवाद—इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संसार का पार पाना चाहते हैं, (किन्तु उसका पार नहीं पाते), वे बार-बार संसार में भ्रमण करते हैं।

51 से 59 तक की गाथाओं में क्रियावादी दार्शनिकों का मत एवं उसकी समीक्षा की गई है। ये एकान्त क्रियावादी क्यों हैं? इसका रहस्य सूत्रकृतांग की 24वीं गाथा में शास्त्रकार इस प्रकार बताते हैं—**'कम्म चिंतापणट्ठाणं'** अर्थात् वे ज्ञानवरणीय आदि की चिन्ता से रहित (दूर) हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म किन-किन कारणों से, किस-किस रूप में बंधते हैं? वे सुख-दु:ख आदि के जनक हैं या नहीं? उनसे छूटने के उपाय क्या-क्या हैं? इत्यादि कर्म सम्बन्धी चिन्ता से एकान्त-क्रियावादी दूर हैं।

'कोई भी क्रिया, भले ही उससे हिंसादि हो, चित्तशुद्धिपूर्वक करने पर कर्मबन्धन नहीं होता।' इस प्रकार की कर्म चिन्ता से दूर रहने के कारण ही संभवत: बौद्धों को एकान्त-क्रियावादी कहा गया होगा। अहिंसा के विषय में चिन्तन की अनेक कोटियां रही हैं। प्रस्तुत प्रकरण में बौद्धों का अहिंसा विषयक चिन्तन प्रस्तुत है। इस संदर्भ में तीन मत हैं—

1. क्या जीव का वध होने पर हिंसा होती है?
2. क्या जीव का वध न होने पर हिंसा होती है?
3. क्या जीव का वध होने पर भी हिंसा नहीं होती?

अहिंसा के चिन्तन में ये तीन मुख्य प्रश्न रहे हैं। इन प्रश्नों का सभी धर्माचार्यों ने अपनी-अपनी शैली से समाधान दिया है। चूर्णिकार ने उक्त मत के संदर्भ में प्रश्न उठाया है कि कर्मोपचय(कर्मबन्धन) कबहोता है?

प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोग: पञ्चभिरापाद्यते हिंसा ॥

अर्थात् इन पांच कारणों से हिंसा होती है। 1. प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, 2. फिर हनन करने वाले को यह ज्ञान हो कि यह प्राणी है, 3. उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारूँ या मारता हूँ, 4. पूर्वोक्त तीन कारणों के रहते हुए यदि वह उस प्राणी को शरीर से मारने की चेष्टा करता है और 5. उस चेष्टा के अनुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है—उसके प्राणों का वियोग कर दिया जाता है, तब हिंसा होती है और तभी कर्म का उपचय होता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक अज्ञान आदि से किये गये चार प्रकार के कर्मोपचय को कर्मबन्धन का कारण नहीं मानते।

1. परिज्ञोपचित—केवल मन से पर्यालोचन करने से किसी प्राणी का वध नहीं होता। इसलिये उससे हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता।
2. अविज्ञोपचित—अनजान में प्राणी का वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता।
3. ईर्यापथ—चलते समय कोई जीव मर जाये तो उससे भी हिंसाजनित कर्म का चय नहीं होता, क्योंकि उसके मारने का अभिप्राय नहीं था।
4. स्वप्नान्तिक—स्वप्न में जीव-वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता।

इन चारों से मात्र कर्म का स्पर्श होता है, जो सूक्ष्म तन्तु के बन्धन की भांति तत्काल छिन्न हो जाता है अथवा सूखी भींत पर गिरने वाली धूली की भांति तत्काल नीचे गिर जाता है। उसका विपाक नहीं होता।

सूत्रकार ने उक्त प्रकरण में तीन कारणों का प्रतिपादन भी किया है जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **अभिक्रम्य**—स्वयं जाकर प्राणी का घात करना।
2. **प्रेष्य**—दूसरे को भेजकर प्राणी का घात करवाना।
3. **अनुमोदन**—प्राणी का घात करने वाले की अनुमोदना करना।

जीव वध के प्रति कृत, कारित और अनुमोदित—इन तीनों का या किसी एक का प्रयोग होने पर कर्म का चय होता है। बौद्ध दृष्टि के अनुसार जहां कृत, कारित और अनुमोदन नहीं होता वहां जीव वध होने पर भी कर्म का चय नहीं होता। इस तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने 55वीं गाथा में मांस-भोजन का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त से यह फलित होता है कि असंकल्पित जीव वध होने पर कर्म का चय नहीं होता।

भावशुद्धि से कर्मोपचय नहीं

सूत्रकृतांग की 54वीं गाथा के अंत में उन्हीं का मत प्ररूपण करते हुए कहा गया है—**'एवं भावविसोहीए णिववाणमभिगच्छइ'** इसका आशय यह है कि जहां राग-द्वेष रहित बुद्धि से कोई प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में वहां केवल विशुद्ध मन से या केवल शरीर से प्राणातिपात हो जाता है, वहां भाव-विशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं होता, इससे जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तपिटक' के 'खुद्दकनिकाय' के 'बालोवाद जातक' में बुद्धवचन मिलता है—'दूसरे के मांस की बात तो जाने दो, यदि कोई असमझ पुरुष अपने पुत्र तथा स्त्री को मारकर उस मांस का दान करे और प्रज्ञावान भिक्षु उस मांस का भक्षण करे तो भी उसे पाप नहीं लगता। यही सिद्धान्त सूत्रकृतांग में बताया गया है।'

समीक्षा

पूर्वोक्त गाथाओं में कर्मोपचय निषेध के सम्बन्ध में जो युक्ति, हेतु एवं दृष्टान्त दिये गये हैं, उन सबका निराकरण 56वीं गाथा द्वारा किया गया है—**मणसा जे ..... संबुडचारिणो।** इसका आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से मन से प्राणी पर द्वेष या हिंसा करता है पर वह भावों से विशुद्ध होता है, इसलिये उसके पापकर्म का बंध (उपचय) नहीं होता है, यह कहना ठीक नहीं है। सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। जानकर हिंसा करने से पहले राग-द्वेष पूर्ण भाव न आयें, यह संभव नहीं है। भाव हिंसा तभी होती है, जब मन में राग-द्वेष, कषाय आदि के भाव आते हैं। वस्तुतः कर्म के उपचय करने में मन ही प्रधान कारण है, जिसे बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में भी माना है, यथा—

मनो पुव्वंगभा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा॥

बौद्धों के द्वारा दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध किया जाना और उसे मारकर स्वयं खा जाना या मेधावी भिक्षु के द्वारा भी उक्त मांस को खाना पापकर्म का कारण नहीं है, ऐसा कहना भी असंगत है, क्योंकि राग-द्वेष से क्लिष्ट चित्त हुए बिना मारने का परिणाम नहीं हो सकता। 'मैं पुत्र को मारता हूँ' ऐसे चित्त परिणाम को असंक्लिष्ट कौन मान सकता है? और उन्होंने भी तो कृत, कारित और अनुमोदित ऐसे तीनों प्रकार से हिंसादि कार्य को पापकर्मबन्ध का आदान कारण माना है। ईर्यापथ में भी बिना उपयोग के गमनागमन करना चित्त की संक्लिष्टता है, उससे कर्मबन्धन होता ही है। पर यदि कोई साधक प्रमाद-रहित होकर सावधानी से उपयोगपूर्वक चर्या करता है, किसी जीव को मारने की मन में भावना नहीं है, तब तो वहां उसे जैन सिद्धान्तानुसार पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परन्तु बिना उपयोग के प्रमादपूर्वक गमन पापकर्मबंध का कारण बनता ही है। इसी प्रकार चित्त संक्लिष्ट होने पर ही स्वप्न में किसी को मारने का उपक्रम होता है। अतः स्वप्नान्तिक कर्म में भी चित्त अशुद्ध होने से कर्मबन्ध होता ही है। इसलिए चतुर्विध कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नहीं होते, यह कहना भी यथार्थ नहीं है। इसीलिये शास्त्रकार ने कर्मोपचय-निषेधवादी बौद्धों पर दो आक्षेप लगाये हैं कि वे 1. कर्म चिन्ता से रहित हैं और 2. संयम और संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। वे जन्मान्ध पुरुष की तरह छिद्रवाली नौका पर चढ़कर अगाध जल वाले समुद्र को पार पाना चाहते हैं किन्तु पानी भर जाने के कारण नौका बीच में ही डूब जाती है। यही दशा उन एकान्त मतवादियों की होती है। अतः यह मत भी समीचीन प्रतीत नहीं होता।

2.4.3 तइओ उद्देसो : तृतीय उद्देशक

यहाँ से प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारम्भ होता है। पहले के दो उद्देशकों में स्वसमय-परसमयवक्तव्यता का अधिकार था, किन्तु वहां मिथ्यादृष्टि पर-मतवादियों की विचारधारा बताकर उनके वैचारिक दोषों का दिग्दर्शन कराया गया था। अब इस उद्देशक में उनकी आचार प्रणाली बताकर उनमें निहित आचार सम्बन्धी दोषों का दिग्दर्शन किया जा रहा है।

इस उद्देशक का पूर्व दो उद्देशकों के साथ सम्बन्ध यह है कि प्रथम उद्देशक के प्रथम श्लोक में बन्धनों को जानकर उसे तोड़ने की बात कही गई थी। कर्मबन्धन के मुख्यतः कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। पूर्वोक्त दो उद्देशकों में मुख्यरूप से अन्य दर्शनों एवं मतों को मिथ्यात्व दोष से दूषित बताकर उसके फलस्वरूप होने वाले कर्मबन्धनों की अव्यक्त रूप से प्रेरणा दी गई है। अब इस तृतीय उद्देशक में आचार दोष के कारण अविरति और प्रमाद से होने वाले कर्मबन्धन को जानने की प्रेरणा है तथा शुद्ध आचार जो बन्धन तोड़ने का उपाय है उसका भी बोध प्राप्त करना चाहिये, यह संकेत भी है।

2.4.3.1 आधाकर्मदोष का प्रतिपादन

शास्त्रकार सर्वप्रथम कर्मबन्धन के कारणभूत एवं श्रमणों, बौद्ध भिक्षुओं एवं निर्ग्रन्थों के लिये असेव्य आधाकर्मी आहार सेवन में दोष और उसका परिणाम बताते हैं—

60. जं किंचि वि पूइकडं, सड्ढी आगंतु ईहियं।
सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवई।1।

अनुवाद—श्रद्धालु गृहस्थ ने आगन्तुक भिक्षुओं के लिए कुछ भोजन निष्पादित किया। उस (आधाकर्म) भोजन में दूसरा भोजन मिश्रित हो गया। वह पूतिकर्म (आधाकर्म से मिश्रित) भोजन यदि भिक्षु हजार घरों के अंतरित हो जाने पर भी लेता है, खाता है, फिर भी वह द्विपक्ष का सेवन करता है—प्रव्रजित होने पर भी भोजन के निमित्त गृहस्थ जैसा आचरण करता है।

61. तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे।2।

अनुवाद—वे पूतिकर्म के सेवन से उत्पन्न दोष को नहीं जानते। वे कर्मबंध के प्रकारों को भी नहीं जानते। जिस प्रकार समुद्र में रहने वाले विशालकाय मत्स्य ज्वार के साथ नदी के मुहाने पर आते हैं।

62. उदगस्स प्पभावेणं, सुक्कम्मि घातमेंति उ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही।3।

अनुवाद—(ज्वार के लौट जाने पर) पानी कम हो जाता है और नदी की बालू सूख जाती है तब मांसार्थी ढंक और कंक पक्षियों के द्वारा नोचे जाने पर वे मत्स्य दुःख का अनुभव करते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

63. एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो।
मच्छा वेसालिया चेव, घायमेसंतणंतसो।4।

अनुवाद—इसी प्रकार वर्तमान सुख की एषणा करने वाले कुछ श्रमण इन विशालकाय मत्स्यों की भांति अनन्त बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

प्रथम चार गाथाओं में शास्त्रकार ने स्वसमय (निर्ग्रन्थ श्रमणाचार) के सन्दर्भ में आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एवं दोषयुक्त आहारसेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है।

शास्त्रकार ने आहार-शुद्धि पर विशेष बल दिया है क्योंकि यदि साधु का आहार आधाकर्मादि दोष से दूषित होगा, तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही तथा उसके विचार, संस्कार एवं अन्तःकरण भी दूषित हो जायेंगे। दूषित आहार से साधु के प्रमादी बन जाने का खतरा है। चौथी गाथा में स्पष्ट कहा गया है—'वहमाण सुहेसिणो।' आशय यह है कि आहार-विहार की निर्दोषिता को ठुकराकर वे साधक वर्तमान में सुख-सुविधाओं को ढूंढ़ते रहते हैं। प्रमादी बनकर क्षणिक वैषयिक सुखों को देखते हैं, भविष्य के महान् सुखों को नहीं देखते।

प्रश्न होता है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का सेवन करने से कौन-से दुःख और कैसे प्राप्त होते हैं? इसके समाधान में भगवतीसूत्र का प्रसंग द्रष्टव्य है—गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से एक प्रश्न पूछा— "भगवन्! आधाकर्मी (दोषयुक्त) आहार का सेवन करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ किस कर्म का बन्ध करता है? कौनसा कर्म प्रबल रूप से करता है। कितने कर्मों का चय-उपचय करता है?"

उत्तर में भगवान् ने कहा—'गौतम' आधाकर्मी आहारकर्त्ता आयुष्य कर्म के सिवाय शेष सात शिथिल हुई कर्म-प्रवृत्तियों को गाढ़-बन्धनों से बद्ध कर लेता है, कर्मों का चय-उपचय करता है और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।

दूसरी गाथा में वैशालिक जाति के मत्स्य से तुलना करते हुये शास्त्रकार ने स्पष्ट बताया है कि जिस प्रकार वैशालिक या विशालकाय मत्स्य समुद्र में तूफान आने पर ऊंची-ऊंची उछलती हुई लहरों के थपेड़े खाकर किनारों पर चले जाते हैं किन्तु प्रबल तरंगों के हटते ही गीले स्थान के सूख जाने पर वे समुद्र तट पर ही पड़े-पड़े तड़फते हैं तथा मांसलोलुप ढंकादि पक्षियों या मनुष्यों द्वारा वे नोंच नोंचकर फाड़ दिये जाते हैं। रक्षक के अभाव में वे वहीं तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। यही हाल आधाकर्मी आहारभोजी का होता है, उन्हें भी गाढ़ कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में जाकर दुःख भोगने पड़ते हैं, नरक में परमाधार्मिक असुर हैं, तिर्यञ्च में मांसलोलुप शिकारी, कसाई आदि हैं, जो उन्हें दुःखी कर देते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिसे आहार-दोष का ज्ञान न हो तो भी क्या वह दोष से दूषित होता है? इसके समाधान में दो शब्द कहे गये—'ते दुही' आहार-दोष के ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी दुःखी होते हैं। जो भी दोषयुक्त आहार का सेवन करेगा, उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा।

वृत्तिकार ने यहाँ निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन किया है कि चाहे आहार दोषविज्ञ जैन श्रमण हो अथवा आजीवक, बौद्ध आदि आहार-दोष से अनभिज्ञ श्रमण हों, जो भी आधाकर्म दोषयुक्त आहार करेगा, उसकी दुर्गति एवं अनन्त बार विनाश निश्चित है। जैसाकि कहा है—**'धातमेस्संतिणंतसो।'**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.4.3.2 आधाकर्म दोषयुक्त आहार की पहचान

आहार आधाकर्म दोष से युक्त है यह कैसे जाना जाये? क्या दूसरे शुद्ध आहार के साथ मिल जाने या मिला देने से वह आहार आधाकर्म दोषयुक्त नहीं रहता? इसके उत्तर में पहली गाथा में स्पष्ट बताया गया है—**'पूतिकडं सड्ढीमागंतुमीहियं'** अर्थात् किसी श्रद्धालु भक्त द्वारा गांव से आये हुये साधु या श्रमणादि के लिये बनाया गया आहार आधाकर्म दोषयुक्त आहार है। विशुद्ध आहार में उसका थोड़ा-सा अंश भी मिल जाये तो वह पूतिकृत आहार कहलाता है और एक-दो नहीं चाहे हजारों घरों का अन्तर देकर साधु को वह दिया गया हो, साधु उसका सेवन करे तो भी वह साधु उक्त दोष से मुक्त नहीं होता। शास्त्रकार कहते हैं—**'दुपक्खं चेव सेवए।'** आशय यह है कि ऐसे आहार का सेवी साधु द्विपक्ष दोष का सेवन करता है।

'दुपक्ख' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ यहां फलित होते हैं—

1. स्वपक्ष में तो आधाकर्मी आहार-सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थ पक्ष के दोष का भी वह भागी हो जाता है, अतः साधु होते हुए भी वह गृहस्थ के समान आरम्भ का समर्थक होने से द्विपक्ष-सेवी है।
2. ईर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों क्रियाओं का सेवन करने के कारण द्विपक्ष-सेवी हो गया। आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है और दोषयुक्त आहार लेने व सेवन करने से माया और लोभ दोनों कषायों के कारण साम्परायिकी क्रिया भी लगती है।
3. दोषयुक्त आहार लेने से पहले शिथिलरूप से बांधी हुई कर्म-प्रवृत्तियों को वह निधत्त और निकाचित रूप से गाढ़ स्थिति में पहुंचा देता है। अतः वह द्विपक्ष-सेवी है।

2.4.3.3 जगत्कर्त्तृत्व के विषय में विभिन्न दर्शनों की चर्चा

दर्शन में जीव-जगत् रूप सृष्टि की रचना कैसे हुई? इस प्रश्न पर विचार किया गया है। जगत्कर्त्तृत्ववाद का प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार हुआ है। यथा—

64. इणमण्णं तु अण्णाणं, इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे।5।

अनुवाद—यह एक अज्ञान है। कुछ प्रावादुकों द्वारा यह निरूपित है कि यह लोक देव द्वारा उप्त है (देव द्वारा इसका बीज-वपन किया हुआ है)। कुछ कहते हैं—यह लोक ब्रह्मा द्वारा उप्त है (ब्रह्मा द्वारा इसका बीज-वपन किया हुआ है)।

65. ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमण्णिए।6।

अनुवाद—कुछ कहते हैं—जीव-अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित यह लोक ईश्वर द्वारा कृत है और कुछ कहते हैं—यह प्रधान (प्रकृति) द्वारा कृत है।

66. सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए।7।

अनुवाद—स्वयंभू ने इस लोक को बनाया—यह महर्षि ने कहा है। उस स्वयंभू ने मृत्यु से युक्त माया की रचना की, इसलिए यह लोक अशाश्वत है।

67. माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वए।8।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुवाद—कुछ ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है। उस ब्रह्मा ने सब तत्त्वों की रचना की है। जो इसे नहीं जानते वे मिथ्यावादी हैं।

68. सएहिं परियाएहिं, लोगं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण वियाणंति, णायं णाऽऽसी कयाइ वि।9।

अनुवाद—अपने पर्यायों से लोक कृत है—ऐसा कहना चाहिए। (लोक किसी कर्त्ता की कृति है ऐसा मानने वाले) तत्त्व को नहीं जानते। लोक कभी नहीं था—ऐसा नहीं है।

69. अमणुण्णसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, किह णाहिंति संवरं?।10।

अनुवाद—दु:ख असंयम की उत्पत्ति है—यह ज्ञातव्य है। जो दु:ख की उत्पत्ति को नहीं जानते वे संवर (दु:ख-निरोध) को कैसे जानेंगे?

गाथा 64 से 69 तक शास्त्रकार ने इसे अज्ञानवादियों का दूसरा अज्ञान बताकर लोक-रचना के सम्बन्ध में उनके विभिन्न मतों को प्रदर्शित किया है। इन सब मतों के बीज उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों तथा सांख्यादि दर्शनों में मिलते हैं। यहाँ शास्त्रकार ने लोक रचना के विषय में मुख्य सात प्रचलित मत प्रदर्शित किये हैं—

1. यह किसी देव द्वारा कृत है, गुप्त (रक्षित) है, उप्त (बोया हुआ) है।
2. ब्रह्मा द्वारा रचित है, रक्षित है या उत्पन्न किया गया है।
3. ईश्वर द्वारा यह सृष्टि रची हुई है।
4. प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा लोक कृत है।
5. स्वयम्भू (विष्णु) के द्वारा यह लोक बनाया गया है।
6. यमराज (मार या मृत्यु) ने यह माया बनायी है, इसलिए लोक अनित्य है।
7. यह लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

1. देवकृत लोक

वैदिक युग में मनुष्यों का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत्, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक था। प्रकृति को ही देव मानता था। मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ, जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके? देव ही शक्तिशाली है, इस धारणा से देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। इसलिए कहा गया है—'देवउत्ते।' इसके संस्कृत में तीन रूप हो सकते हैं—देव-उप्त, देव-गुप्त और देव-पुत्र। 'देव-उप्त' का अर्थ है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया गया। ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि में इसके प्रमाण मिलते हैं। देवगुप्त का अर्थ देवों द्वारा रक्षित। सारा जगत् किसी देव द्वारा रक्षित है। देवपुत्र का अर्थ है—यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र यानी संतान है, जिसने संसार को उत्पन्न किया है।

2. ब्रह्म-रचित लोक

कोई, प्रजापति-ब्रह्मा द्वारा लोक की रचना मानते हैं। उनका कहना है—मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ कि इतनी विशाल सृष्टि की रचना और सुरक्षा कर सके और देव भले ही मनुष्यों से भौतिक शक्ति में बढ़े-चढ़े हों, लेकिन विशाल ब्रह्माण्ड को रचने में कहाँ समर्थ हो सकते हैं? वही सारे संसार को देख सकते हैं। जैसाकि उपनिषद् में कहा है—सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा है—विश्व का कर्त्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—उसने कामना की—"मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।" उसने तप तथा तपश्चरण करके यह सब रचा सृजन किया। प्रश्नोपनिषद् में भी इसी का समर्थन मिलता है। इसी तरह छान्दोग्य-उपनिषद् में पाठ है। बृहदारण्यक में ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि-रचना की विचित्र कल्पना बतायी गयी है और क्रम भी। ब्रह्मा अकेला रमण नहीं करता था। उसने दूसरे की इच्छा की। जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होते हैं, वैसे ब्रह्मा ने अपने आपके दो भाग किये और वे पति-पत्नी के रूप में हो गये। ..... पहले मनुष्य, फिर गाय, बैल, गर्दभी, गर्दभ, बकरी, बकरा, पशु-पक्षी आदि से लेकर चींटी तक सबके जोड़े बनाये। उसे विचार हुआ कि मैं सृष्टि का रूप हूँ, मैंने ही यह सब सृजन किया है ..... इस प्रकार सृष्टि हुई। एक वैदिक पुराण में सृष्टिक्रम बताया है कि पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिल्कुल अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य और अविज्ञेय। मानों वह बिल्कुल सोया हुआ था। वह एक समुद्र के रूप में था। उसमें स्थावर-जङ्ग.म, देव, मानव, राक्षस, उरग और भुजङ्ग. आदि सब प्राणी नष्ट हो गये थे। केवल गड्ढा-सा बना हुआ था, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से रहित था। मन से भी अचिन्त्य विभु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्यबिम्ब के समान तेजस्वी, मनोरम और स्वर्ण-कर्णिका वाला था। उस कमल से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने वही आठ जगन्माताएँ बनायीं—1. दिति, 2. अदिति, 3. मनु, 4. विनता, 5. कद्रु, 6. सुलसा, 7. सुरभि और 8. इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियों को, कद्रु ने सभी प्रकार के सरीसृपों (साँपों) को, सुलसा ने नागजातीय प्राणियों को, सुरभि ने चौपाये जानवरों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।

इस प्रकार ब्रह्मा द्वारा सृष्टिवाद के विविध पक्षों का निरूपण वैदिक और श्रमण साहित्य में मिलता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा— **"बंभ उत्ते ति आवरे।"** 'देव उत्ते' की तरह 'बंभ उत्ते' के भी तीन संस्कृत रूप होते हैं।

3. ईश्वरकृत लोक

उस युग में ईश्वरकर्तृत्ववादी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—1. वेदान्ती, 2. नैयायिक और 3. वैशेषिक। वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्मा) को ही जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त मानते हैं, उनके द्वारा अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—पहले एकमात्र यह ब्रह्म ही था, वही एक सत् था, जिसने इतने श्रेयों रूप क्षेत्र का सर्जन किया, फिर क्षत्राणी का, जिसने वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि देवता उत्पन्न किये। फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्त में सबके पोषक शूद्र वर्ण का सृजन किया।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—जिस ब्रह्म ईश्वर से ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति) करते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उन सबका तादात्म्य-उपादान-कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है।

बृहदारण्यक में ही आगे कहा है—उस ब्रह्म के दो रूप हैं। मूर्त्त और अमूर्त्त अथवा मर्त्य और अमृत, जिसे यत् और त्यत् कहते हैं। वही एक ईश्वर सब प्राणियों के अन्तर में छिपा हुआ है। बादरायण व्यास-रचित 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र में बताया है—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वेदान्ती अनुमान प्रमाण का प्रयोग भी करते हैं—ईश्वर जगत् का कर्त्ता है, क्योंकि वह चेतन है, जो-जो चेतन होता है, वह-वह कर्त्ता होता है। जैसे कुम्हार घट का कर्त्ता है।

दूसरे कर्तृत्ववादी नैयायिक हैं। इस मत के आराध्य देव महेश्वर हैं। महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा संहार करते हैं। नैयायिक जगत् को महेश्वर-कृत सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं—'पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ किसी-न-किसी बुद्धिमान कर्त्ता के द्वारा किये जाते हैं, यथा- घट।' यह जगत् भी कार्य है अतः यह भी किसी बृद्धिमान द्वारा निर्मित होना चाहिये। वह बृद्धिमान जगत् का रचयिता ईश्वर ही है। जो बुद्धिमान द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं, वे कार्य नहीं है, जैसे-आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने के साथ-साथ वे उसे एक, सर्वव्यापी, नित्य, स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् भी मानते हैं। संसारी प्राणियों को कर्मफल भुगतवाने वाला भी ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। नैयायिक, वेदान्तियों की तरह ईश्वर को उपादान कारण या समवायीकारण नहीं मानते, वे उसे निमित्त कारण मानते हैं। ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वैशेषिकों की मान्यता भी लगभग ऐसी ही है।

4. प्रधानादिकृत लोक

इस विशाल जगत् का मूल कारण क्या है, इस विषय में सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन प्रस्तुत किया है। सांख्य दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। ये दोनों अनादि और सर्वथा स्वतंत्र हैं। चेतन, अचेतन का अथवा अचेतन चेतन का कार्य या कारण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सांख्यदर्शन सृष्टिवादी नहीं है। वह सत्कार्यवादी है। अचेतन जगत् का विस्तार 'प्रधान' (प्रकृति) से होता है, इस अपेक्षा से सूत्रकार ने सांख्यदर्शन को सृष्टिवाद की कोटि में परिगणित किया है।

प्रकृति की विकार रहित अवस्था मूल प्रकृति है। उससे महत्-बुद्धि नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन, दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां) और पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उत्पन्न होती है। इन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त तन्मात्रा से तेज उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं से युक्त रस तन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओं से युक्त गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

इन चौबीस तत्त्वों में प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती, वह अनादि है। उसका कोई मूल नहीं है। इसलिये उसे मूल भी कहा जाता है। मूल प्रकृति अविकृति अर्थात् किसी का विकार नहीं होती। महत् अहंकार और पांच तन्मात्राएं—ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों में होते हैं। इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं इसलिये ये प्रकृति हैं और ये किसी-न-किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिये विकृति भी है। सोलह तत्त्व (दस इन्द्रियां, पांच महाभूत और मन) केवल विकृति हैं। पुरुष किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिए वह प्रकृति नहीं है। और वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, इसलिये वह विकृति भी नहीं है। मूल प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। यही प्रधानकृत सांख्य-सृष्टि का स्वरूप है।

'पहाणाइ' शब्द में प्रयुक्त आदि शब्द से स्वभाव आदि का ग्रहण किया है। कुछ लोग कहते हैं—जैसे कांटों की तीक्ष्णता स्वभाव से होती है, वैसे ही यह लोक भी स्वभाव से बना है। कुछ कहते हैं—मयूर की पांखों की तरह यह लोक भी नियति द्वारा कृत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न होता है—पूर्वोक्त विभिन्न जगत् कर्तृत्ववादियों के मत से उन-उन कारणों (कर्त्ताओं) द्वारा उत्पन्न जगत् कैसा है? इस शंका के समाधान में शास्त्रकार उनकी ओर से लोक के दो विशेषण प्रयुक्त करते हैं—**'जीवाजीवसमाउत्ते'** और **'सुहदुक्खसमन्निए'** अर्थात् यह लोक जीव और अजीव दोनों से युक्त है तथा सुख और दु:ख से ओतप्रोत है।

5. स्वयम्भू द्वारा कृत लोक

महर्षि का कहना है—यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है। महर्षि के दो अर्थ चूर्णिकार प्रस्तुत करते हैं—

1. महर्षि अथवा ब्रह्मा 2. व्यास-आदि ऋषि-महर्षि हैं।

स्वयम्भू शब्द का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—विष्णु या अन्य कोई। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और विष्णु के अर्थ में भी। 'नारायणोपनिषद्' में कहा है—अन्त: और बाह्य जो भी जगत् दिखायी देता है, सुना जाता है, नारायण (विष्णु) उस सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित है। नारायणाथर्वशिर उपनिषद् में कहा है कि पुरुष-नारायण (विष्णु) ने चाहा कि मैं प्रजाओं का सृजन करूँ। उससे प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्मा, रुद्र, वसु यहाँ तक कि सारा जगत नारायण से ही उत्पन्न होता है।

पुराण में वर्णित ब्रह्मा द्वारा सृष्टि-रचना के क्रम की तरह 'मनुस्मृति' में भी उसी का वर्णन मिलता है। यह 'जगत्' सर्वत्र अन्धकारमय था, सुषुप्त-सा था। उसके पश्चात् महाभूतादि से ओज का वरण करके अन्धकार को हटाते हुए अव्यक्त स्वयम्भू इस (जगत्) को व्यक्त करते हुए स्वयं प्रादुर्भूत हुए। वे अतीन्द्रिय द्वारा ग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय एवं अचिन्त्य स्वयम्भू स्वत: उत्पन्न हुए। ध्यान करके अपने शरीर से विविध प्रजाओं की सृष्टि की। उसने सर्वप्रथम पानी बनाया और फिर उसमें बीज उत्पन्न किया।

6. मार द्वारा रचित माया संसार-प्रलयकर्त्ता मार अथवा मृत्यु से युक्त माया की रचना

"मारेण संथुता माया, तेण लोए असासए" अर्थात् मार ने माया की रचना की। इस कारण यह जगत् अशाश्वत .... अनित्य है।

वृत्तिकार ने मार के दो अर्थ किये हैं—जो मारता है, नष्ट करता है, वह मार—मृत्यु या यमराज है। पौराणिक कहते हैं—स्वयम्भू ने लोक को उत्पन्न करके अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारने वाला 'मार' अर्थात् 'मृत्यु' यमराज बनाया। मार (यम)ने माया रची, उस माया से प्राणी मरते हैं।मार का अर्थ चूर्णिकार 'विष्णु' करते हैं।

"मारेण संथुता माया" प्रस्तुत चरण में वैदिक साहित्य में उल्लिखित मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत है—ब्रह्मा ने जीवाकुल सृष्टि की रचना की। पृथ्वी जीवों के भार से आक्रान्त हो गई। वह और अधिक भार-वहन करने में असमर्थ थी। वह दौड़ी-दौड़ी ब्रह्मा के पास आकर बोली—प्रभो! यदि सृष्टि का यही क्रम रहा तो मैं भार कैसे सहन कर सकूंगी? यदि सब जीवित ही रहेंगे तो भार कैसे कम होगा? उस समय परिषद् में नारद और रुद्र भी थे। ब्रह्मा ने कहा—मैं अपनी सृष्टि का विनाश कैसे कर सकता हूँ? उन्होंने विश्व-प्रकाश से एक स्त्री का निर्माण किया। वह दक्षिण दिशा से उत्पन्न हुई, इसलिए उसका नाम 'मृत्यु' रखा। उसे कहा—तुम प्राणियों का विनाश करो। यह सुनते ही मृत्यु काँप उठी। वह रोने लगी। अरे, मुझे ऐसा जघन्य कार्य करना होगा। उसकी आँखों से आँसू पड़ने लगे। ब्रह्मा ने सारे आँसू इकट्ठे किये। मृत्यु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने पुनः तपस्या की। ब्रह्मा ने कहा—ये तुम्हारे जितने आँसू हैं उतनी ही व्याधियाँ-रोग हो जायेंगे। इनसे प्राणियों का स्वतः विनाश होगा। वह धर्म के विपरीत नहीं होगा। मृत्यु ने बात मान ली।

चूर्णिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—विष्णु ने सृष्टि की रचना की। अजरामर होने के कारण सारी पृथ्वी जीवाकुल हो गई। भार से आक्रान्त हो पृथ्वी, प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुई। प्रजापति ने प्रलय की बात सोची। प्रलय होगा ..... यह देखकर पृथ्वी भयभीत होकर काँपने लगी। प्रजापति ने उस पर अनुकम्पा कर व्याधियों के साथ मृत्यु का सर्जन किया। उसके पश्चात् धार्मिक तथा सहज-सरल प्रकृति वाले सभी मनुष्य देवलोक में उत्पन्न होने लगे। सारा स्वर्ग उनके अत्यधिक भार से आक्रान्त हो गया। स्वर्ग प्रजापति के पास उपस्थित हुआ। तब प्रजापति ने मृत्यु के साथ माया का सर्जन किया। लोग मायाप्रधान होने लगे। वे नरक में उत्पन्न होने लगे। प्रजापति ने स्वर्ग से कहा—लोग शास्त्रों को जानते हुए तथा अपने संशयों को नष्ट करते हुए भी शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। (इसके अभाव में वे स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होंगे) इसलिए हे स्वर्ग! तुम जाओ। अब तुम्हें कोई भय नहीं है।

आचार्य नागार्जुन ने इस संदर्भ को मान्य किया है, वह अक्षरशः इस कथानक का द्योतक है। वह श्लोक इस प्रकार है—

"अतिवड्ढीय जीवाणं मही विष्णव ते प्रभुं।
त तो से माया संजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्द वा ॥"

अर्थात् पृथ्वी अपने पर जीवों का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु विष्णु से विनती करती है। इस पर उस प्रभु ने लोक का विनाश (संहार) करने के लिए उसे (लोक को) माया से युक्त बनाया।

वैदिक ग्रन्थों में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

"विष्णौर्माया भगवती, यया सम्मोहितं जगत्।"

7. अण्डे से उत्पन्न जगत्

"कुछ (त्रिदण्डी आदि) श्रमणों-ब्राह्मणों ने या कुछ पौराणिकों ने अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानी है।" ब्रह्माण्डपुराण में बताया गया है कि पहले केवल जलाकार समुद्र ही था, उसमें से एक विशाल अण्डा प्रकट हुआ, जो चिरकाल तक लहरों से इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा तो उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़े से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बना। फिर उसमें देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदि के रूप में सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। फिर जल, तेज, वायु, समुद्र, नदी, पहाड़ आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) अण्डे से बना हुआ है। ब्रह्माण्ड शब्द स्वयं इसका द्योतक है, जो ब्रह्मा+अण्ड=ब्रह्माण्ड इन दो शब्दों में निष्पन्न है।

मनुस्मृति में भी इसी से मिलता-जुलता कथानक है—वह अण्डा स्वर्णमय और सूर्य के समान अत्यन्त प्रभावान् हो गया। उसमें से सर्वलोक पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उस अण्डे में भगवान परिवत्सर (काफी वर्षों) तक रहे, फिर स्वयं आत्मा का ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। उन दोनों टुकड़ों से आकाश और भूमि का निर्माण किया।

समीक्षा (लोक-कर्तृत्व के सम्बन्ध में ये सब कल्पनाएँ मिथ्या एवं असंगत)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूत्रकृतांग गाथा 67 के उत्तरार्द्ध तथा 68वीं सम्पूर्ण गाथा में पूर्वोक्त जगत्-कर्तृत्ववादियों को परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी, अपने-अपने कृतवाद को अपनी-अपनी युक्तियों या स्वशास्त्रोक्तियों को सच्ची बताने वाले कथञ्चित् नित्य-अविनाशी लोक को एकान्त अनित्य-विनाशी बताने वाला कहा है। मूल गाथाओं में केवल इतना-सा संकेत अवश्य किया है कि वे अविनाशी लोक को कृत-अर्थात् विनाशी कहते हैं। वे लोक के यथार्थ स्वभाव (वस्तुतत्त्व) को नहीं जानते। वृत्तिकार ने इसी पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—वास्तव में, यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थित रहता है। यह लोक अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। अतः यह लोक पहले-पहले किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु, शिव आदि के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। कृत (बनाया हुआ) होता तो सदैव सर्वथा नाशवान होता—परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है। अतः लोक, देव आदि के द्वारा भी बनाया हुआ नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे विभिन्न कृतवादी अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सकें। ईश्वर-कर्तृत्ववादियों ने लोक के विभिन्न पदार्थों को कार्य बताकर कुम्हार के घटरूप कार्य के कर्त्ता की तरह ईश्वर को जगत् का कर्त्ता माना है।

कृतवादियों के समक्ष दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका सृष्टिकर्त्ता इस सृष्टि को स्वयं उत्पन्न होकर बनाता है या उत्पन्न हुए बिना बनाता है? स्वयं उत्पन्न हुए बिना तो दूसरे को कैसे बना सकता है? यदि उत्पन्न होकर बनाता है तो स्वयं उत्पन्न होता है या दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जाता है? यदि माता-पिता के बिना स्वयमेव उत्पन्न होता है तब तो इस जगत् को भी स्वयं उत्पन्न क्यों नहीं मानते। यदि दूसरे से उत्पन्न होकर लोक को बनाता है, तो यह बतायें कि उस दूसरे को कौन उत्पन्न करता है? वह भी तीसरे से उत्पन्न होगा और तीसरा चौथे से उत्पन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रश्न खड़ा रहने पर 'अनवस्था-दोष' आ जायेगा। इसका कृतवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है।

तीसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह सृष्टिकर्त्ता नित्य है या अनित्य? नित्य तो एक साथ या क्रमशः भी अर्थक्रिया कर नहीं सकता, क्योंकि वह तो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकता और न उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि वह अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण नष्ट हो सकता है, अतः उसका कोई भरोसा नहीं है कि वह जगत् को बनायेगा, क्योंकि नाशवान होने से जो अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो, वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापार-चिन्ता क्या कर सकता है?

अब प्रश्न यह है कि वह सृष्टिकर्त्ता मूर्त्त है या अमूर्त्त? यदि वह अमूर्त्त है तो आकाश की तरह वह भी अकर्त्ता है, यदि मूर्तिमान् है, तब कार्य करने के लिए उसे साधारण पुरुष की तरह उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। उपकरण बनायेगा तो उनके लिए दूसरे उपकरण चाहिए। वे उपकरण कहाँ से आयेंगे? पहले किसी ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानने से उसमें अन्यायी, अबुद्धिमान्, अशक्तिमान्, पक्षपाती, इच्छा, राग-द्वेष आदि अनेक दोषों का प्रसंग होता है। इसलिए भगवद्गीता में कहा गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

ईश्वर न तो लोक का सृजन करता है, न ही कर्मों का और न लोकगत जीवों के शुभाशुभ कर्मफल का संयोग करता है। लोक तो स्वभावतः स्वयं प्रवर्तित है—चल रहा है।

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र की तथा अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानना एक तरह की असङ्ग.ति है, अयुक्ति है। जब ईश्वर आदि भी जगत् के कर्त्ता न हो सके तो स्वयम्भू द्वारा मार की रचना, अण्डे की उत्पत्ति (पञ्चभूतों के बिना) आदि तथा अव्यक्त, अमूर्त, अचेतन प्रकृति से व्यक्त, मूर्त एवं सचेतन की रचना आदि सब निरर्थक कल्पनाएँ हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. लोक का अकर्त्ता—दु:ख-सुख का कर्त्ता कैसे?

सूत्रकृतांग गाथा 69 भी लोककर्तृत्ववाद से सम्बन्धित है। पहले 65वीं गाथा में यह बताया गया था कि **'जीवाजीवसमाउत्ते'**—ईश्वर या प्रधानादि जीवाजीव एवं सुख-दु:ख से युक्त लोक का निर्माण करते हैं। उसी संदर्भ में यहाँ उत्तर दिया गया है कि ये लोग 'मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग दु:ख की उत्पत्ति के कारण हैं' यह नहीं जानते तथा 'सम्यक्त्व, हिंसादि से विरति आदि की साधना-आराधना करना दु:ख-निवारण का उपाय है,' ऐसा भी नहीं जानते-मानते हैं। इसलिए 69वीं गाथा में कहा गया है—**'अमणुण्णसमुप्पादं .... नहि नाहिंति संवरं,'** इसका आशय यह है ..... 'अपने द्वारा किये गये अशुभ अनुष्ठान (पापाचरण या अधर्माचरण) से दु:ख की उत्पत्ति होती है, इसके विपरीत अपने द्वारा किये गये शुद्ध धर्मानुष्ठान (रत्नत्रयाचरण) से ही सुख की उत्पत्ति होती है।' दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या ईश्वर किसी को सुख या दु:ख से युक्त नहीं कर सकता। अगर ऐसा कर देता तो वह सारे जगत् को सुखी ही कर देता, दु:खी क्यों रहने देता? जो लोग सुख-दु:ख की उत्पत्ति के कारणों को स्वयं नहीं जानते, वे दूसरों को सुख-दु:ख दे पायेंगे? अथवा दूसरों को सुख-दु:ख प्राप्त करने का उपाय भी कहाँ से बतायेंगे?

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने **'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य'** (आत्मा ही अपने सुखों और दु:खों का कर्त्ता एवं भोक्ता है) के सिद्धान्त को ध्वनित कर दिया है तथा दु:ख रूप कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए किसी देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या परमात्मा के समक्ष याचना करने का खण्डन करके 'स्वकर्तृत्ववाद'—स्वयं पुरुषार्थ द्वारा आत्मशक्ति प्रकट करने का श्रमण-संस्कृति का मूलभूत सिद्धान्त व्यक्त कर दिया है।

अवतारवाद

कोई जीव मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी अपने धर्म-शासन की अपूजा देखकर अप्रसन्न होता है और अपने धर्म शासन की पूजा देखकर प्रसन्न होता है। इस प्रकार वह राग-द्वेष के वशीभूत होकर पुन: मनुष्य-भव में जन्म लेता है। यही अवतारवाद है। सूत्रकृतांग में इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है। यथा—

70. सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं।
पुणो कीडापदोसेणं, से तत्थ अवरज्झई ।11।

अनुवाद—कुछ वादियों ने यह निरूपित किया है—आत्मा शुद्ध होकर अपापक—कर्म-मल रहित या मुक्त हो जाता है। वह फिर क्रीड़ा और प्रद्वेष (राग-द्वेष) से युक्त होकर मोक्ष में भी कर्म से बंध जाता है। (फलत: अनन्तकाल के बाद फिर अवतार लेता है।)

71. इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए।
वियडं व जहा भुज्जो, णीरयं सरयं तहा।12।

अनुवाद—मनुष्य जीवनकाल में संवृत मुनि होकर अपाप (कर्म-मल से रहित) होता है। फिर जैसे पानी स्वच्छ होकर पुन: मलिन हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा निर्मल होकर पुन: मलिन हो जाता है।

त्रैराशिकवाद: अवतारवाद

वृत्तिकार के अनुसार दोनों गाथाओं में गोशालक मतानुसारी (आजीवक) मत की मान्यता का दिग्दर्शन कराया गया है। समवायाङ्ग.वृत्ति और इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आजीवक या गोशालक मतानुसारी बताया है। त्रैराशिक का अर्थ है जो मत या वाद सर्वत्र तीन राशियाँ मानता है, जैसे जीव-राशि, अजीव-राशि और नो जीव-राशि। यहां आत्मा की तीन राशियों का कथन किया गया है। वे तीन अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

1. राग-द्वेष सहित कर्म-बन्धन से युक्त पापसहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था।
2. अशुद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिये शुद्ध आचरण करके शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना, तदनुसार मुक्ति में पहुंच जाना।
3. इसके पश्चात् शुद्ध-निष्पाप आत्मा जब क्रीड़ा राग-द्वेष अथवा प्रद्वेष के कारण पुनः कर्मरज से लिप्त (अशुद्ध) हो जाता है, वह तीसरी अवस्था है। तीन अवस्थाओं की मान्यता के कारण इन्हें त्रैराशिक कहा जाता है। इन दोनों गाथाओं में इसी मत का निदर्शन किया गया है।

शुद्ध निष्पाप आत्मा पुनः अशुद्ध और सपाप क्यों?

प्रश्न होता है, जो आत्मा एक बार कर्मफल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, निष्पाप हो चुका है, वह पुनः अशुद्ध, कर्मफलयुक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असंभव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर संसाररूपी (जन्म-मरणयुक्त) अंकुर का फूटना असंभव हे। गीता में इसी तथ्य का समर्थन अनेक बार किया गया है। यथा—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथादग्धे न रोहति भवांकुरः ॥

जितनी भी अध्यात्म-साधनाएं की जाती हैं, उन सबका उद्देश्य पाप से, कर्मबन्ध से, राग-द्वेष-कषायादि विकारों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध एवं निष्पाप होना है। भला कौन ऐसा साधक होगा, जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के बाद पुनः अशुद्धि और राग-द्वेष की मलिनता में आत्मा को डालना चाहेगा? यदि ऐसा हुआ, तब तो सारा काता-पींजा कपास हो जायेगा। इतनी की हुई साधना मिट्टी में मिल जायेगी। परन्तु त्रैराशिक-मतवादी इन सब युक्तियों की परवाह न करके मुक्त एवं शुद्ध आत्मा के पुनः प्रकट होने या पुनः कर्मरज से मलिन होकर कर्मबन्ध में जकड़ने के दो मुख्य कारण बताते हैं—**'पुणो कीडापदोसेणं'** इसका आशय यह है कि उस मुक्तात्मा को अपने शासन की पूजा और पर-शासन (अन्य-धर्मसंघ) का अनादर देखकर (क्रीड़ा) प्रमोद उत्पन्न होता है, तथा स्वशासन का पराभव और परशासन का अभ्युदय देखकर द्वेष होता है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा राग-द्वेष से लिप्त हो जाता है, राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इस कारण पुनः अशुद्ध-सापराध हो जाता है। वह आत्मा कैसे पुनः मलिन हो जाता है? इसके लिए वे एक दृष्टान्त देकर अपने मत का समर्थन करते हैं—**'वियडम्बु जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा।'** इसका आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को फिटकरी आदि से स्वच्छ कर निर्मल बना लिया जाता है, किन्तु वही निर्मल पानी, आंधी, तूफान आदि के द्वारा उड़ायी गयी रेत, मिट्टी, कचरा आदि के कारण पुनः मलिन हो जाता है, वैसे ही कोई जीव मनुष्य-जन्म पाकर राग-द्वेष से, कषायादि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनि बनकर संयम-नियमादि की साधना करके विशुद्ध बना लेता है, एक दिन वह आत्मा समस्त कर्म-रहित होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाती है, किन्तु पुनः पूर्वोक्त कारणवश राग-द्वेष की आंधी या तूफान आने से वह विशुद्धात्मा पुनः अशुद्ध एवं कर्म-मलिन हो जाती है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार 70वीं गाथा (सूत्रकृतांग) के उत्तरार्द्ध में **'कीलावणप्प दोसेणा रजसा अवतारते'** इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अवतारवाद की झांकी प्रस्तुत करते हैं—वह आत्मा मोक्ष प्राप्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(मुक्त) होकर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण कर्म रज से लिप्त होने से संसार में अवतरित होता है। इस कारण वह अपने धर्म-शासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजो-गुण युक्त होकर अथवा उस कर्म-रज से श्लिष्ट होकर अवतार लेता है।

कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता बौद्धधर्म के एक सम्प्रदाय की तथा अन्य धर्मसम्प्रदायों की भी है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) और धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थकर्त्ता अवतार परमपद (मोक्षावस्था) को प्राप्त करके भी जब अपने तीर्थ (धर्मसंघ) का तिरस्कार (अप्रतिष्ठा या अवनति) देखते हैं तो (उसका उद्धार करने के लिए) पुनः संसार में आते हैं।

धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान (प्रतिष्ठान) होता देखकर मुक्त आत्मा के अवतरित होने की मान्यता वैदिक-परम्परा में प्रसिद्ध है तथा गीता आदि ग्रन्थों में अवतारवाद का स्पष्ट वर्णन है—'जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि-उन्नति होने लगती है, तब-तब मैं (मुक्त आत्मा) ही अपने रूप को रचता हूँ—प्रकट करता हूँ।' साधु-पुरुषों की रक्षा तथा दूषित-कर्म करने वालों का नाश करने के लिए मैं युग-युग में जन्म (अवतार) लेता हूँ। अतः इसे 'अवतारवाद' या 'पुनरागमनवाद' भी कहा जा सकता है।

सूत्रकृतांग गाथा 70 में शुद्ध आत्मा के पुनः अशुद्ध एवं कर्मलिप्त होने के दो कारण—क्रीड़ा एवं प्रद्वेष बताये गये हैं, वे इस अवतारवाद में संगत होते हैं। क्रीड़ा का अर्थ जो भक्तिवादी सम्प्रदायों में प्रचलित है, वह है 'लीला'। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् अपनी लीला दिखाने के लिए अवतरित होते हैं। अथवा सज्जनों की रक्षा एवं दुर्जनों के संहार के रूप में अपनी लीला करते हैं। ऐसी लीला के समय जब वे दुष्टों का नाश करते हैं, तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करते हैं, ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है। इसीलिए इस गाथा में उक्त 'कीडापदोसेण' के साथ अर्थ-संगति बैठ जाती है।

स्व-स्व-प्रवाद-प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा

अंतिम गाथा 72-75 में स्व-स्वमत की प्रशंसा एवं सिद्धि का उल्लेख किया गया है। इसका विवेचन सूत्रकृतांग सूत्र में इस प्रकार है—

72. एयाणुवीइ मेहावी, बंभचेरं ण तं वसे।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं।13।

अनुवाद—इन वादों का अनुचिन्तन कर मेधावी मुनि उनके गुरुकुल में निवास न करे। भिन्न-भिन्न मत वाले वे सब प्रावादुक अपने-अपने मत का आख्यान करते हैं—प्रशंसा करते हैं।

73. सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव ण अण्णहा।
अधो वि होति वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ।14।

अनुवाद—(वे कहते हैं) अपने-अपने सांप्रदायिक अनुष्ठान में ही सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं होती। सिद्धि (मोक्ष) से पूर्व इस जन्म में भी जितेन्द्रिय मनुष्य के प्रति सब कामनाएं समर्पित हो जाती हैं—उसे आठों सिद्धियां उपलब्ध होती हैं।

74. सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसि आहियं।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया णरा।15।

अनुवाद—कुछ दार्शनिकों का यह निरूपण है कि (सिद्धि-प्राप्त मनुष्य शरीरधारी होने पर भी) सिद्ध ही होते हैं। वे रोगग्रस्त होकर नहीं मरते। (किन्तु वे स्वेच्छा से शरीर-त्याग कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।) इस प्रकार सिद्धि को ही प्रधान मानने वाले हिंसा आदि प्रवृत्तियों में आसक्त रहते हैं।

75. असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो-पुणो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुरकिब्बिसिय।16। —त्ति बेमि।।

अनुवाद—वे असंवृत मनुष्य अनादि संसार में बार-बार भ्रमण करेंगे। वे कल्प-परिमित काल तक आसुर और किल्विषिक स्थानों में उत्पन्न होते रहेंगे। —ऐसा मैं कहता हूं।

अन्यतीर्थिक मतवादी प्रावादुक और स्वमत-प्रशंसक को 72वीं गाथा में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त जगत्कर्तृत्ववादियों, अवतारवादियों की तरह 'पृथक् प्रावादुक' कहकर उल्लिखित किया है, वही प्रावादुक होने के दो कारण शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं—1. कार्य-कारण विहीन तथा युक्ति रहित अपने ही मत की प्रशंसा करते हैं और 2. वे आत्मभावों के विचार में स्थित नहीं हैं। इन्हीं दो कारणों को स्पष्ट करने के लिये शास्त्रकार ने अगली दो गाथायें (73-74वीं) प्रस्तुत की है।

इन भ्रान्त मान्यताओं के कारण राग-द्वेष-मुक्त एवं कर्मबीजरहित मुक्तजीवों का पुनः राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्मलिप्त बनना कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब मुक्त जीवों के जन्म-मरणरूप संसार के कारण कर्मबीज ही जल गये हैं, तब वे कर्म के बिना कैसे राग-द्वेष से लिपटेंगे और कैसे संसार में अवतरित होंगे?

वास्तव में इन भ्रान्त धारणाओं का कारण यह है कि वे अपने अवतारवाद के प्रवाह में इतने बह जाते हैं कि आत्मा की ऊर्ध्वगामिता के सिद्धान्त पर विचार करना भूल जाते हैं। जब एक आत्मा इतने उत्कर्ष पर पहुंच चुकी है, जहां से उसका पुनः नीचे गिरना असंभव है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव कर्मलेप से रहित होने पर अग्नि की लौ की तरह ऊर्ध्वगमन करना है, नीचे गिरना नहीं, ऐसी स्थिति में पूर्णसिद्ध-मुक्तात्मा क्यों वापस संसार में आयेगी। आचार्य सिद्धसेन ने अवतारवादी अन्य तैर्थिकों की मोहवृत्ति को प्रकट करते हुये लिखा—

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्यं, निर्वाणमप्यनवधारित-भीरुनिष्ठम्।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरम्, त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम्॥

अर्थात् हे वीतराग प्रभो! आपके शासन को ठुकराने वाले व्यक्तियों पर मोह का प्रबल सम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते हैं—जिस आत्मा ने कर्मरूपी ईंधन (कारण) को जलाकर संसार (जन्म-मरण) का नाश कर दिया है, वह भी मोक्ष को छोड़कर पुनः संसारी बनता है, केवल दूसरों को मुक्ति दिलाने में शूरवीर बनकर वह कार्यकारण-सिद्धान्त का विचार किये बिना ही लोक-भीरू बनता है। यह है अपनी शुद्ध आत्मा का विचार किये बिना ही दूसरों की आत्माओं का उद्धार या सुधार करने की मूढ़ता।

यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि मुक्त जीवों को राग-द्वेष नहीं हो सकता। उनके लिये स्वशासन या परशासन का भेद भी नहीं रहता। वे सारे संसार को एकत्वदृष्टि से देखते हैं, निन्दा-स्तुति में सम रहते हैं, ऐसी शुद्ध आत्मा के कर्मबन्धन कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता और कर्मबन्धन के अभाव में उनका संसार में पुनरागमन भी नहीं हो सकता।

दूसरा कारण है—उन तीर्थिकों का अपने ही ब्रह्मैकत्व विचार में स्थित न रहना। जब वे संसार की समस्त आत्माओं को सम मानते हैं, तब उनके लिये कौन अपना और कौन पराया रहा? फिर वे अपने-अपने भूतपूर्व शासन के उत्थान-पतन का विचार क्यों करेंगे? ऐसा मानना ब्रह्मैकत्व-विचार से हटना है।

निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शन के अनुसार सिद्ध का स्वरूप है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं' अर्थात् वे शिव, अचल, अरुज, अनन्त अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति (संसार में आवागमन रहित) सिद्धिगति नामक स्थान को सम्प्राप्त होते हैं।

यहाँ अपुनरावृत्ति शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि सिद्ध (मोक्ष) में जाने के बाद वहां से पुनः जीव लौटकर नहीं आता। भगवद्गीता में भी कहा है—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'** अर्थात् जहां पर जाकर जीव पुनः लौटते नहीं हैं, वही मेरा परमधाम है। अन्यतीर्थी ऐसा नहीं मानते। उनमें से प्रायः कई तो सिद्ध को पुनरागमनयुक्त मानते हैं तथा सिद्धि का अर्थ कई मतवादी मुक्ति या मोक्ष मानते हैं, लेकिन सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्र-तप से या ज्ञान क्रिया दोनों से अथवा समस्त कर्मक्षय से मोक्ष या सिद्धि न मानकर स्वकल्पित एकान्तज्ञान से, क्रिया से, सिद्धि मानते हैं या योगविद्या से अणिमादि अष्टसिद्धि की प्राप्ति या रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की रसायनसिद्धि) को अथवा स्वकीयमतानुवर्ती होने या जितेन्द्रिय होने मात्र से यहां सर्वकामसिद्ध मानते हैं। ऐसे लौकिक सिद्धों की पहचान नीरोग होने मात्र से हो जाती है, ऐसा वे कहते हैं।

इसलिये शास्त्रकार कहते हैं—**'सिद्धिमेव-गढिया नरा'** अर्थात् वे सिद्धिवादी अपनी पूर्वोक्त युक्तिविरुद्ध स्वकल्पित सिद्धि को ही सामने रखकर चलते हैं, उसी की प्रशंसा करते हैं, उसी से ही ऐहिक और पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिये युक्तियों की खींचतान करते हैं, इस प्रकार वे अपने-अपने आशय में आसक्त हैं। वीतराग पुरुष की युक्तियुक्त बात को स्वीकार नहीं करते।

2.4.4 चउत्थो उद्देसो : चौथा उद्देशक

तृतीय उद्देशक में अन्य तीर्थिकों द्वारा प्ररूपित आग्रहरूप विचारधारा एवं आचार पद्धति का विभिन्न पहलुओं से विवेचन किया गया। इस चतुर्थ उद्देशक में भी तथाकथित अन्यतीर्थिकों की आचार-विचारधारा का विवेचन करते हुये निर्ग्रन्थ श्रमण के कर्त्तव्यों का संक्षेप में निर्देश किया गया है। अध्ययन के नाम के अनुरूप इस उद्देशक में भी स्व-पर समय का विवेचन किया गया है।

2.4.4.1 याचना का सिद्धान्त

प्रारम्भ की चार गाथाओं में अन्यतीर्थिक तथाकथित संन्यासियों का गृहस्थ के सावद्य कर्मों के उपदेशरूप शिथिलाचार का तथा उसे याचना किस प्रकार करनी चाहिये, इसका विवेचन किया गया है—

76. एते जिया भो! ण सरणं, बाला पंडियमाणिणो।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सितकिच्चोवएसगा।1।

अनुवाद—हे शिष्य! विषय और कषाय से पराजित वे प्रावादुक शरण नहीं हो सकते। वे अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं। वे पूर्व संयोगों (स्वजन, धन आदि) को छोड़कर पुनः गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देते हैं।

77. तं च भिक्खू परिण्णाय, विज्जं तेसु ण मुच्छए।
अणुक्कस्से अणवलीणे, मज्झेण मुणि जावए।2।

अनुवाद—विद्वान् भिक्षु उनके मतवादों को जानकर उनमें मूर्च्छित न बने। वह मुनि अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष न दिखाए। इन दोनों से बचकर मध्यमार्ग (तटस्थ भाव) से जीवन यापन करे।

78. सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं।
अपरिग्गहेअणारंभे, भिक्खु जाणं परिव्वए।3।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुवाद—कुछ दर्शनों में यह व्याख्यात है कि परिग्रही और आरम्भ (पचन-पाचन आदि) करने वाले भी मुनि हो सकते हैं। किन्तु ज्ञानी भिक्षु अपरिग्रह और अनारंभ के पथ पर चले।

79. कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए।4।

अनुवाद—विद्वान् भिक्षु गृहस्थों द्वारा अपने लिए कृत आहार की एषणा (याचना) करे और प्रदत्त आहार का भोजन करे। वह आहार में अनासक्त और अप्रतिबद्ध होकर अवमान संखडी (विशेष प्रकार के भोज) में न जाए।

चौथे उद्देशक की इन प्रथम चार गाथाओं में निर्ग्रन्थ भिक्षु को संयमधर्म का अथवा स्वकर्त्तव्य का बोध दिया गया है। वह इस प्रकार है—

1. पूर्व सम्बन्ध त्यागी अन्ययूथिक साधु सावद्य-कृत्योपदेशक होने से शरण ग्रहण करने योग्य नहीं है।
2. विद्वान् मुनि उन्हें भलीभांति जानकर उनसे आसक्तिजनक संसर्ग न रखे, मध्यस्थभाव में रहे।
3. परिग्रह एवं हिंसा से मोक्ष मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संग छोड़कर अपरिग्रही और अहिंसक महात्माओं की शरण में जाये।
4. आहार सम्बन्धी गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा अनासक्त भावों से करे। इस प्रकार चार गाथाओं में चार कर्त्तव्य बोध की चर्चा है।

1. प्रथम कर्त्तव्यबोध: ये साधु शरण योग्य नहीं है

प्रथम गाथा में 'भो' शब्द से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ शिष्यों का ध्यान इस ओर केन्द्रित किया है कि वे तथाकथित साधुओं की शरण में न जायें क्योंकि वे शरण (आत्मरक्षण) देने में असमर्थ हैं। वे शरण के अयोग्य क्यों हैं? इसके लिये उन्होंने पांच कारण बताये हैं—

1. वे बाल-अज्ञानी हैं। मुक्ति के वास्तविक मार्ग से अनभिज्ञ हैं।
2. पण्डित न होने पर भी अपने आपको पण्डित मानते हैं।
3. साधु जीवन में आने वाले परीषहों एवं उपसर्गों से पराजित हैं अथवा काम क्रोधादि शत्रुओं द्वारा पराजित हारे हुये हैं।
4. वे बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद तथा प्रपञ्चरूप पूर्व सम्बन्ध को छोड़कर भी पुनः दूसरे प्रकार के परिग्रह में आसक्त हैं।
5. गृहस्थ को सावद्य अर्थात् हिंसायुक्त कृत्यों का उपदेश देते हैं।

2. दूसरा कर्त्तव्यबोध : आसक्तिजनक संसर्ग न रखे

पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक साधु के मिल जाने पर उसे भली-भांति जान-परख लेने के बाद यदि विज्ञ साधु को ऐसा प्रतीत हो कि यह मिथ्याभिमानी है, उसका आचार-विचार सम्यक् नहीं है तो उसके साथ व्यवहार करने के लिये शास्त्रकार ने तीन सावधानियां बताई हैं—**1. 'विज्जं तेसु ण मुच्छाए', 2. अणुक्कसं अणवलीणे, 3. 'मज्जेण मुणि जावए'** अर्थात् उसमें आसक्त न बने, उत्कर्ष-अपकर्ष के भाव न रखे तथा मध्यस्थभाव से वस्तुस्वरूप का विचार करे। यहां 'अणुक्कसं अणवलीणं' शब्द का आशय समझने योग्य है। उत्कर्ष का अर्थ है मद या अहंकार। मद के आठ स्थान हैं—जाति, कुल, रूप, बल, जाति आदि। जो इन मद स्थानों का सेवन नहीं करता वह अनुत्कर्ष होता है। 'अणवलीणं' उत्कर्ष का विरोधी भाव है। उस युग में जातिवाद उच्चता और हीनता का एक मुख्य मानदण्ड था, इसलिये उच्च मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति उत्कर्ष का और तुच्छ मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति हीनता का अनुभव करता था। भगवान् महावीर ने समता धर्म का प्रतिपादन कर दोनों प्रकार की मनोवृत्ति वाले भिक्षुओं के सामने यह शिक्षापद प्रस्तुत किया कि आत्म-विकास का मार्ग उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों से परे है, इसलिये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समता की साधना करने वाले व्यक्ति को मध्यम मार्ग से चलना चाहिये। प्रस्तुत श्लोक का यह भाव आचारांग के इस सूत्र से मिलता है—**'णो हीणे णो अइरित्ते।'**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. तृतीय कर्त्तव्यबोधः अपरिग्रही एवं अहिंसक की शरण में जाये

कुछ धार्मिक पुरुष यह घोषणा करते हैं कि निर्वाण के लिये परिग्रह और हिंसा को छोड़ना आवश्यक नहीं। हिंसा और परिग्रह में आसक्त पुरुष भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन श्रमण का आचार ठीक इससे विपरीत है। उनके अनुसार निर्वाण की प्राप्ति के लिये अपरिग्रही और अहिंसक होना अनिवार्य है। अपरिग्रही एवं अहिंसक व्यक्ति ही शरण लेने योग्य है। सहज ही प्रश्न होता है कि अपरिग्रही और अहिंसक व्यक्ति शरीरयापन कैसे कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर चतुर्थ कर्त्तव्यबोध में स्वयं शास्त्रकार देते हैं।

4. चतुर्थ कर्त्तव्यबोधः आसक्ति से मुक्त एवं त्रिविध एषणा से युक्त आहार करे

मुनि के लिए कहा गया कि वह अपरिग्रही और अहिंसक होकर जीवन यापन करे। प्रश्न होता है कि पचन-पाचन आदि हिंसायुक्त क्रियाओं को किये बिना तथा परिग्रह (धन) के बिना भोजन की उत्पत्ति और प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। शरीर धर्म का साधन है, अतः इसके निर्वाह के लिये हिंसा और परिग्रह आवश्यक है। इसका समाधान सूत्रकार ने पांच विवेक सूत्रों से दिया है—

1. गृहस्थ ने जो भोजन अपने लिये बनाया है, उस भोजन की एषणा या याचना करे। यह गवेषणा है।
2. गृहस्थ के द्वारा भोजन दिये जाने पर उस प्रदत्त भोजन की एषणा करे। यह ग्रहणैषणा है।
3. प्राप्त भोजन को अनासक्त भाव से खाए। यह परिभोगैषणा है।
4. विप्रमुक्त रहे—आहार के प्रति मूर्च्छा न करे। जहां इष्ट आहार मिले उस कुल या ग्राम से प्रतिबद्ध न बने।
5. भोजन कम हो अर्थात् भोजन लेने पर दूसरों को कठिनाई का अनुभव हो तो वैसे भोजन का वर्जन करे।

ये सारे विवेक सूत्र साधु को अहिंसक तरीके से भोजन प्राप्त करने के लिये बताये हैं।

2.4.4.2 लोकवाद

विश्व के सभी दर्शन किसी न किसी रूप में लोक का स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं। दार्शनिक खोज के पीछे प्रायः एक ही हेतु होता है और वह हेतु है सम्पूर्ण लोक। कोई भी दार्शनिक धारा क्यों न हो, वह विश्व का स्वरूप समझने के लिये ही निरन्तर बढ़ती रहती है। यह ठीक है कि कोई विचारधारा किसी एक पक्ष पर अधिक बल देती है और कोई किसी दूसरे पक्ष पर। पक्षभेद रहते हुये भी सबका विषय लोक ही होता है। जैनदर्शन के अनुसार 'पञ्चास्तिकाय' लोक का स्वरूप है। लोकवाद का प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार हुआ है—

80. लोगवायं णिसामेज्जा, इहमेगेसिमाहियं।
विवरीयपण्णसंभूयं, अण्णवुत्त-तयाणुगं।5।

अनुवाद—कुछ वादियों द्वारा निरूपित लोकवाद को सुनो, जो विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है और जो दूसरे की कही हुई बात का अनुगमन मात्र है।

81. अणंते णितिए लोए, सासए ण विणस्सई।
अंतवं णितिए लोए, इह धीरोऽतिपासई।6।

अनुवाद—कुछ मानते हैं कि लोक नित्य, शाश्वत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। किन्तु धीर पुरुष देखता है कि लोक नित्य होने पर भी सान्त है।

82. अपरिमाणं वियाणाइ, इहमेगेसिं आहियं।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इइ धीरोऽतिपासई।7।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुवाद—ज्ञात हो रहा है कि लोक अपरिमित है, वह कुछ धार्मिकों द्वारा आख्यात है, किन्तु धीर पुरुष सर्वत्र (सब अवस्थाओं में) उसे परिमित देखता है।

प्रस्तुत तीन गाथाओं में लोकवाद सम्बन्धी मीमांसा है। जिसमें सूत्रकार ने 'लोकवाद' को सुनने और जानने का निर्देश दिया है। सूत्रकार ने इन चारों गाथाओं में निम्नोक्त समीक्षा की है—

1. लोकवाद कितना हेय, ज्ञेय या उपादेय है।
2. कुछ कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है तो कुछ कहते हैं लोक अन्तवान् है।
3. पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है, जो अपरिमित ज्ञाता है।
4. त्रस हमेशा त्रस ही रहते हैं और स्थावर हमेशा स्थावर रहते हैं।

लोकवाद क्यों और कब से

शास्त्रार ने लोकवाद की चर्चा इसलिये छेड़ी है कि उस युग में पौराणिकों का बहुत प्रभाव था। लोग उन पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते थे और उनसे लोक-परलोक की, मरणोत्तर लोक के रहस्य की, प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की चर्चाएं करते थे। उस युग में कुछ वाचाल व्यक्ति तर्क-युक्तिपूर्वक ढंग से लोकमानस में अपनी बात बिठा देते और लोग उन्हें अन्धविश्वासपूर्वक अवतारी, सर्वज्ञ या पुराण-पुरुष मान लेते। वे अपनी सर्वज्ञता प्रमाणित करने के लिये आश्चर्यजनक विसंगत एवं विचित्र मान्यताएं फैला देते थे।

लोकवादः परस्पर विरुद्ध विचार

प्राचीन काल में लोक सान्त है या अनन्त, यह बहुचर्चित प्रश्न था। पिंगलक निर्ग्रन्थ ने स्कन्धक से यह पूछा—मागध! लोक सान्त है या अनन्त? स्कन्धक इसका समाधान नहीं दे सका। वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा। उसने उस प्रश्न का समाधान चाहा। भगवान् महावीर ने प्रश्न के उत्तर में कहा—स्कन्धक! मैंने लोक को चार दृष्टियों से प्रज्ञप्त किया है। द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है।

भगवान् महावीर ने एक-दूसरे प्रसंग में कहा—जमाली! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। इस प्रसंग में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों की दृष्टि से विचार किया गया है। प्रस्तुत श्लोकों की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र आदि चार दृष्टियों तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से की जा सकती है। केवल अनन्तवाली दृष्टि के सामने यह दृष्टि प्रस्तुत की गई कि लोक अनन्त ही नहीं, सान्त भी है। अपरिमाण वाली दृष्टि के सामने सपरिमाण दृष्टि प्रस्तुत की गई। उसका हार्द यह है कि कोई भी अवस्था असीम नहीं है। प्रत्येक अवस्था ससीम है।

चूर्णिकार के अनुसार सांख्य मतावलम्बी लोक को अनन्त और नित्य मानते हैं, क्योंकि उनके द्वारा मान्य 'पुरुष' तत्त्व सर्वव्यापी और कूटस्थ है, अपरिणमनशील है।

उन्होंने वैशेषिकों की मान्यता का उल्लेख करते हुये कहा है कि वे परमाणु को शाश्वत मानते हुये भी क्रियाशील मानते हैं। वे कभी न नष्ट होते हैं और न कभी उत्पन्न।

'अंतवं णितिए लोए'—यह पौराणिकों की मान्यता है। पौराणिक मानते हैं कि क्षेत्र की दृष्टि से लोक सात द्वीप और सात समुद्र परिमाण वाला है। वह काल की दृष्टि से नित्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वृत्तिकार ने अनन्त के दो अर्थ किये हैं। अनन्त वह होता है जिसका निरन्वय नाश नहीं होता। जिस भव में जो जिस रूप में रहता है, अगले भव में भी वह उसी रूप में उत्पन्न होता है। पुरुष पुरुष ही रहता है और स्त्री-स्त्री ही।

अनन्त का दूसरा अर्थ है—अपरिमित, अवधि से शून्य। इसके अतिरिक्त लोकवादी मन्तव्य के कुछ नमूने और भी हैं। जैसे वे प्ररूपणा करते हैं—**'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च।'** अर्थात् पुत्रहीन की गति (लोक) नहीं होती, स्वर्ग तो उन्हें मिलता ही नहीं।

'गोभिर्हतस्य गोहनस्य वा न सन्ति लोकाः।' अर्थात् गाय के द्वारा मारे हुये पुरुष को या गोहत्या करने वाले को लोक नहीं मिलते। ये कुछ ऐकान्तिक और युक्तिरहित लोकवाद के मन्तव्य हैं। व्यास आदि ने पुराणों में इस प्रकार के लोकवाद का निरूपण किया है।

पौराणिक आदि लोकवादियों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने यहां दो मान्यताएं प्रस्तुत की हैं—

1. कुछ सर्वज्ञवादी कहते हैं कि सर्वज्ञ अनन्त ज्ञान का धारक होता है। वह सबकुछ जानता है, उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहत होता है।
2. कुछ सर्वज्ञवादी मानते हैं कि सर्वज्ञ, तिर्यग्, ऊर्ध्व और अधोलोक को क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमितरूप से ही जानता है।

वृत्तिकार के अनुसार इस 82वें श्लोक में दो मतों का निर्देश है। कुछ मतावलम्बी मानते हैं कि कोई सर्वज्ञ नहीं होता। हमारे अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि क्षेत्र की दृष्टि से अपरिमित क्षेत्र को जानते हैं और काल की दृष्टि से अपरिमित काल को जानते हैं, किन्तु वे सर्वज्ञ नहीं हैं। 'अपरिमित' शब्द का यह एक तात्पर्य है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि हमारे ऋषि आवश्यक तत्त्व को जानने वाले अतीन्द्रियद्रष्टा हैं। यह प्रसिद्ध श्लोक है।

सर्वं पश्यतु वा मा वा इष्टमर्थं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते॥

अर्थात् कोई सबकुछ देखने वाला (सर्वज्ञ) हो या न हो, कोई बात नहीं है। जो इष्ट अर्थ है उसको देखना आवश्यक है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान से किसी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

दूसरा मत यह है—कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सर्वज्ञ कोई होता ही नहीं। क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित को ही जाना जा सकता है। ब्रह्मा हजार दिव्य वर्ष तक सोता रहता है। उस अवस्था में वह कुछ भी नहीं देखता। फिर जागृत होता है और हजार दिव्य वर्ष तक जागता रहता है। उस अवस्था में वह देखता है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं—

'धीराऽतिपासई' अर्थात् धीर ब्रह्मा का यह अतिदर्शन है। इस प्रकार की ये सारी धारणाएं लोकवाद है तथा यह लोकवाद युक्ति-प्रमाणसिद्ध है।

समीक्षा

सूत्रकृतांग की 83वीं गाथा में लोकवाद के रूप में प्रचलित युक्ति-प्रमाण-विरुद्ध मान्यताओं का निराकरण किया गया है। यथा—लोकवादी यह कहते हैं कि यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत और अविनाशी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। इस विषय में जैनदर्शन यह कहता है कि अगर लोकगत पदार्थों को उत्पत्ति, विनाशरहित, स्थिर, एक स्वभाववाला कूटस्थ नित्य मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। क्योंकि इस जगत् में जड़-चेतन कोई भी पदार्थ ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जो क्षण-क्षण में उत्पन्न न हो और नष्ट न होता हो। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता दिखाई देता है। अतः लोकगत पदार्थ सर्वथा पर्याय-रहित, कूटस्थनित्य कैसे हो सकते हैं? लोकवाद की इसी कूटस्थ नित्य की मान्यता को लेकर जो यह कहा जाता है कि त्रस सदैव त्रस-पर्याय में ही होता है, स्थावर सदैव स्थावर-पर्याय में ही होता है तथा पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर पुनः स्त्री ही होती है, यह लोकवाद भी सत्य नहीं है। आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये कहा—स्थावर पृथ्वीकाय आदि जीव, त्रस द्वीन्द्रियादि के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रस जीव स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि इस लोकवाद को सत्य मान लें कि जो मनुष्य इस जन्म में जैसा है अगले जन्म में भी वह वैसा ही होता है, तब तो दान, तप, जप, यम, नियम आदि समस्त अनुष्ठान ही व्यर्थ हो जायेंगे। फिर क्यों कोई दान देगा, यम-नियमादि की साधना करेगा? क्योंकि उस साधना से कुछ भी परिवर्तन होने वाला नहीं है। किन्तु देखा जाये तो स्वयं लोकवाद के समर्थकों ने जीवों का एक पर्याय से दूसरे पर्याय में उत्पन्न होना स्वीकार किया है, यथा—**'स वै एष शृगालो जायते, यः सपुरीषो दह्यते'** अर्थात् वह पुरुष अवश्य ही सियार होता है, जो पुरुष विष्ठासहित जलाया जाता है। तथा—

गुरुं तुंकृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः, कंक-गृध्रोपसेवितः॥

अर्थात् जो गुरु के प्रति 'तुं' या 'हुं' कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है और ब्राह्मणों को वाद में हरा देता है, वह मरकर श्मशान में वृक्ष होता है, जो कंक, गिद्ध आदि नीच पक्षियों द्वारा सेवित होता है। इसलिये पूर्वोक्त लोकवाद का खण्डन उन्हीं के वचनों से हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि त्रस हो या स्थावर, सभी प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न गतियों में परिवर्तन होता रहता है।

लोक को अन्तवान् सिद्ध करने के लिये पृथ्वी को सात द्वीपों से युक्त कहना भी प्रमाण-विरुद्ध है, क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

लोकवादियों द्वारा मान्य अवतार या भगवान् अपरिमितदर्शी होते हुये भी सर्वज्ञ नहीं है, यह कथन भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो पुरुष अपरिमित पदार्थदर्शी होकर भी सर्वज्ञ नहीं है, वे हेय-उपादेय का उपदेश देने में भी समर्थ नहीं हैं, अतीन्द्रिय पदार्थों का उपदेश देना तो दूर रहा।

लोकवादियों का यह कथन भी कोई अपूर्व नहीं है कि 'ब्रह्म सोते समय कुछ नहीं जानता है, जागते समय सब कुछ जानता है' क्योंकि यह तो सभी प्राणियों के लिये कहा जा सकता है तथा ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उत्पाद होता है, यह कथन भी प्रमाण-शून्य होने से उपादेय नहीं है।

अतः वास्तव में लोक का न तो एकान्त रूप से उत्पाद होता है और न ही सर्वथा विनाश। द्रव्यरूप से लोक सदैव बना रहता है और पर्यायरूप से वह बदलता रहता है।

लोकवादियों का यह कथन भी हास्यास्पद ही प्रतीत होता है कि पुत्रहीन की कोई गति (लोक) नहीं। अगर पुत्र के होने मात्र से विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो बहुपुत्रवान् कुत्तों और सुअरों से लोक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिपूर्ण हो जायेगा। अत: कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध, प्रमाण से विरुद्ध लोकवादीय कथन कथमपि उपादेय नहीं है।

2.4.4.3 अहिंसा का स्वरूप

अविरतिरूप कर्मबन्ध के कारण से बचने के लिये अहिंसा का प्रतिपादन सूत्रकृतांग में इस प्रकार किया गया है—

83. जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंतदुव थावरा।
परियाए अत्थि से अंजू, जेण ते तसथावरा।8।

अनुवाद—इस लोक में कुछ प्राणी त्रस हैं और कुछ स्थावर हैं। यह उनकी व्यक्त पर्याय है। (अपने-अपने व्यक्त पर्याय के कारण) कुछ त्रस होते हैं और कुछ स्थावर होते हैं।

84. उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलेंति य।
सव्वे अकंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसगा।9।

अनुवाद—जगत् में घटित होने वाली विभिन्न अवस्थाएं हमारे सामने हैं। दूसरी विपरीत अवस्था के आने पर पहली अवस्था विलीन हो जाती है। कोई भी जीव दु:ख नहीं चाहता, इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं—हिंसा करने योग्य नहीं हैं।

85. एयं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया।10।

अनुवाद—ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

प्रस्तुत गाथाओं में स्वसमय के संदर्भ में अहिंसा के सिद्धान्त एवं आचार का प्रतिपादन किया गया है।

लोकवाद के संदर्भ में कहा गया था कि उसकी यह मान्यता है कि त्रस या स्थावर स्त्री या पुरुष, जो इस लोक में जैसा है, अगले लोकों में भी वह वैसा ही होता है। कोई श्रमण अहिंसादि के आचरण से विरत न हो जाये, इसीलिये सूत्रकार ने इन गाथाओं को प्रस्तुत किया है।

इन गाथाओं में संसार के समस्त जीव अहिंस्य क्यों है? अर्थात् जीव हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये? इसके तीन कारण बताये हैं—

1. इस दृश्यमान् त्रस-स्थावर जीव रूप जगत् की मन-वचन-काया की प्रवृत्तियां (योग) अथवा बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि अवस्थाएं स्थूल हैं।
2. त्रस-स्थावर सभी प्राणियों की पर्याय सदैव एक-सी नहीं रहती।
3. सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय है अथवा सभी प्राणी जीना चाहते हैं।

बहुत से मतवादियों का कथन है कि आत्मा कूटस्थ, उत्पत्ति-विनाश से रहित है, आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएं नहीं होती और न कभी सुख-दु:ख आदि होते है, इसलिये किसी जीव को मारने, पीटने अथवा सताने से हिंसा नहीं होती। इस मिथ्यात्वग्रस्त पर-समय का निराकरण करने हेतु आत्मा की कथंचित् अनित्यता, परिणामधर्मिता तथा तदनुसार सुख-दु:ख प्राप्ति आदि स्वसमय का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि प्राणिजगत्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की विविध चेष्टाएं तथा बाल्यादि अवस्थाएं सदा एक-सी नहीं रहती, प्राणिमात्र मरणधर्मा है। उसे मारने, पीटने, सताने पर कष्ट होता है अत: किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

दसवैकालिक एवं आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि समस्त जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, इसलिये निर्ग्रन्थ प्राणिवध को घोर पाप समझकर उसका त्याग करे।

प्राणिहिंसा निषेध के पूर्वोक्त विवेकसूत्र को और अधिक स्पष्ट करते हुये सूत्रकार कहते हैं—**'एयं खु णाणिणो सार'** अर्थात् ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। यहां ज्ञानी से तात्पर्य भौतिक विद्याओं के जानकार से नहीं है अपितु आत्मा से सम्बन्धित पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष आदि का सम्यक् ज्ञाता होने से है। उपलक्षण से पाप कर्मबन्ध के अन्य कारण—मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन सेवन, परिग्रहवृत्ति से भी दूर रहे।

'अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणिया'—ज्ञानी के लिये सारभूत दूसरा तथ्य यह बताया गया है। इसके तीन अर्थ यहां फलित होते हैं।

1. अहिंसा से समता को जाने,इतना ही सार है।
2. अहिंसा रूप समता को विशेषरूप से जाने, इतना ही सार है।
3. यही अहिंसा का सिद्धान्त या आचार है, यह जाने।

तीनों अर्थों का आशय यह है कि साधु ने दीक्षा ग्रहण करते समय 'करेमि भंते सामाइयं' के पाठ से समता की प्रतिज्ञा ली है। अहिंसा भी एक प्रकार की समता है अथवा समता का कारण है, क्योंकि साधक अहिंसा का पालन तभी कर सकता है जब वह प्राणिमात्र के प्रति समभाव आत्मौपम्य भाव रखे। इस प्रकार समतानुभूति आने पर ही अहिंसा का आचरण हो सकता है।

निष्कर्ष यही है कि इस प्रकार की समता का जीवन में आ जाना ही अहिंसा है। इसे भलीभांति हृदयंगम कर लेना ही ज्ञानी होने का सार है अत: ज्ञानी पुरुष के लिये यही न्यायोचित है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का भाव रखकर अहिंसा का आचरण करे।

2.4.4.4 भिक्षुक की चर्या: चारित्रशुद्धि के लिये उपदेश

सूत्रकृतांग सूत्र में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये चारित्र-विशुद्धि का भी उपदेश दिया गया है। वास्तव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र यह रत्नत्रय मिलकर मोक्षमार्ग के साधन बनते हैं। ज्ञान और दर्शन की विशुद्धि के लिये पिछली गाथाओं में सूत्रकार ने सुन्दर ढंग से निर्देश किया। अब इन तीन गाथाओं में चारित्र-शुद्धि पर बल दिया है।

86. वुसिते विगयगिद्धी य, आयाणं सारक्खए।
चरियासणसेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो।11।

अनुवाद—संयमी धर्म में स्थित रहे, किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने, आत्मा का संरक्षण करे और जीवन पर्यन्त चर्या, आसन, शय्या और भक्तपान के विषय में होने वाले असंयम से अपने आपको बचाए।

87. एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सययं मुणी।
उक्कसं जलणं णूममज्झत्थं च विगिंचए।12।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुवाद—मुनि इन तीन स्थानों—ईर्या समिति, आसन-शयन और भक्त-पान में सतत संयत रहे। वह मान, क्रोध, माया और लोभ का विवेक करे—उन्हें आत्मा से पृथक् करे।

88. समिए तु सया साहू, पंचसंवरसंवुडे।
सितेहिं असिते भिक्खू, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।13। —त्ति बेमि।।

अनुवाद—पांच समितियों से सदा समित, पांच संवरों से संवृत भिक्षु (नाना प्रकार की आसक्तियों और मतवादों से) बंधे हुए लोगों के बीच में अप्रतिबद्ध रहता हुआ अंतिम क्षण तक मोक्ष के लिए परिव्रजन करे।-ऐसा मैं कहता हूं।

चारित्रशुद्धि से ही आत्म-शुद्धि होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने चारित्रशुद्धि के लिये समिति, गुप्ति, दसधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप की आराधना बतायी है। चारित्रशुद्धि के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रकार ने प्रस्तुत तीन गाथाओं में 10 विवेकसूत्र बताये हैं—

1. दस प्रकार की सामाचारी में स्थित रहे।
2. आहार आदि में आसक्ति न रखे।
3. अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का संरक्षण करे।
4. गमनागमन, आसन, शयन, खान-पान में विवेक रखे।
5. गुप्ति की साधना करे।
6. क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का त्याग करे।
7. साधु सदा सीमत होकर रहे।
8. प्राणातिपात विरमण रूप पंच महाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे।
9. गृहस्थों से आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध न रखे।
10. मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान सम्बन्ध में लगा रहे।

इस प्रकार चारित्रशुद्धि के लिये साधु को दस विवेकसूत्रों का उपदेश शास्त्रकार ने प्रस्तुत प्रसंग में दिया है—

1. सामाचारी

चारित्र शुद्धि के लिये यह प्रथम विवेकसूत्र है। सामाचारी साधु-संस्था की आचारसंहिता है। सामाचारी के दस प्रकार हैं—

(1) **आवश्यकी**—उपाश्रय से बाहर जाते समय आवश्यकी-आवश्यक कार्य के लिये बाहर जाता हूँ, का उच्चारण करना।

(2) **नैषिधिकी**—कार्य से निवृत्त हो उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषिधिकी-में निवृत्त हो चुका हूँ, का उच्चारण करना।

(3) **आप्रच्छना**—कार्य करने से पूर्व गुरु की अनुमति लेना।

(4) **प्रतिप्रच्छना**—किसी कार्य के लिये गुरु से अनुमति ली, उसे तत्काल नहीं कर पाये। एक अन्तराल के बाद करते समय पुनः अनुमति लेना। एक कार्य के बीच दूसरे कार्य का प्रसंग आने पर पुनः अनुमति लेना अथवा दूसरे व्यक्ति का कार्य करने की अनुमति लेना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(5) **छन्दना**—आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमंत्रित करना।

(6) **इच्छाकार**—काम करने और कराने में 'इच्छाकार' का प्रयोग करना—आपकी इच्छा हो तो आप मेरे अमुक कार्य करें।

(7) **मिथ्याकार**—अपनी त्रुटि को सहजभाव से स्वीकार करना, भूल हो जाने पर मिथ्याकार 'मिच्छामि दुक्कडं' का प्रयोग करना।

(8) **तथाकार**—गुरु आदि द्वारा प्राप्त निर्देश की स्वीकृति के लिये तथाकार 'तहत्' शब्द का प्रयोग करना।

(9) **अभ्युत्थान**—गुरु आदि का आदर करना, उनको आहार आदि लाकर देना।

(10) **उपसम्पदा**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष प्राप्ति के लिये कुछ समय तक दूसरे गण के आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करना।

ये दस सामाचारी चारित्रशुद्धि के महत्त्वपूर्ण अंग हैं-

2. आहारादि में अनासक्ति

'विगयगिद्धी' अर्थात् मनोज्ञ, अभीष्ट पदार्थों में आसक्त नहीं होना।

3. आत्मा का संरक्षण करे

'आयाणं संक्खए' अर्थात् आत्मा के संरक्षण के लिये रत्नत्रय की सम्यग् आराधना करे।

4. समिति का पालन करे

समिति पांच हैं—

(1) **ईर्या समिति**—युग प्रमित-गाड़ी का जुआ जितनी भूमि को देखते हुए चलना। शरीर प्रमाण भूमि को देखते हुये अथवा नासाग्र पर दृष्टि टिकाकर चलना।

(2) **भाषा समिति**—विचारपूर्वक निरवद्य, मधुर और सीमित भाषा का प्रयोग करना।

(3) **एषणा समिति**—भिक्षा के दोषों से रहित आहार-पानी आदि का ग्रहण करना।

(4) **आदान निक्षेप समिति**—वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को देखकर एवं प्रमार्जन कर उपयोगपूर्वक लेना और रखना।

(5) **उत्सर्ग समिति**—मल-मूत्र तथा परिष्ठापन के योग्य वस्त्र, पात्र आदि को विधिवत् उपयोगपूर्वक परिष्ठापित करना।

5. **गुप्ति की साधना**—गुप्ति तीन हैं—

(1) **मनोगुप्ति**—मन को संकल्प-विकल्पों के जाल से मुक्त कर समत्व में प्रतिष्ठित करना।

(2) **वाक्गुप्ति**—वाणी का संयम कर मौन का अभ्यास करना।

(3) **कायगुप्ति**—कायोत्सर्ग करना, शरीर की चेष्टाओं का परिहार करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. **कषाय चतुष्टय का परित्याग**—कषाय भी कर्मबन्धन का एक प्रमुख कारण है। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारों का त्याग करना।

7. **साधु सदा समित होकर रहे**—'समिते सदा साहू' इसका सम्बन्ध पांच समितियों से ही है।

8. **पंच महाव्रत का पालन**— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करे।

9. **गृहस्थों में आसक्त न हो**

10. **मोक्ष होने तक संयम में उद्यम करे**—यह अंतिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विवेकसूत्र है। साधनाकाल में कोई परीषह, उपसर्ग, संकट आ जाये तो साधु अपने संयम में गति-प्रगति करे। संयम (चारित्र) को छोड़ने का विचार न करे। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं। **'आमोक्खाए परिव्वएज्जासि'** अर्थात् जब तक समस्त कर्मों का क्षय न हो तब तक सतत् संयम में पराक्रम करता रहे। ऐसा करना चारित्रशुद्धि के लिये आवश्यक है।

2.5 सारांश

अस्तु सूत्रकृतांग के विभिन्न वादों की स्पष्ट विवेचना से यह सिद्ध होता है कि यह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

2.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. सूत्रकृतांग का परिचयात्मक विश्लेषण करें।
2. सूत्रकृतांग के अनुसार बंधन और बंधनमुक्ति का विवेचन करें।
3. सूत्रकृतांग में आये प्रमुख वादों में से किन्हीं चार वादों का स्वरूप बताते हुये जैनदृष्टि से उनकी समीक्षा करें?
4. चारित्र विशुद्धि के लिये श्रमण को किन आचारों का पालन करना चाहिये, समझायें?
5. जगत्कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों का क्या दृष्टिकोण रहा है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सूत्रकृतांग के व्याख्या ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दें।
2. नियतिवादियों का मंतव्य जैनदृष्टि से कहां तक उचित है?
3. सूत्रकृतांग में श्रमण के लिये चार कर्त्तव्यबोध कौन-से बताये हैं?
4. बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा ..... किं वा जाणं तिउट्टइ? इस श्लोक की व्याख्या करें।
5. क्या जैनदर्शन अवतारवाद में विश्वास करता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सूत्रकृतांग अंग प्रविष्ट का कौनसा अंग है?
2. निर्युक्तिकार ने सूत्रकृतांग के लिये किन नामों का प्रयोग किया है?
3. 'जगत् में सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है' यह किसका मन्तव्य है?
4. बौद्धों के अनुसार पंच स्कन्ध कौन से हैं?
5. जैनदर्शन के अनुसार पांच समवाय कौनसे हैं?
6. 'अविज्ञोपचित' से क्या तात्पर्य है?
7. सआधाकर्मी दोष किसे कहते हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. सृष्टि ईश्वर ने बनाई है, यह किसका मन्तव्य है?
9. मिथ्याकार सामाचारी का क्या तात्पर्य है?
10.जैनदृष्टि के अनुसार लोक का स्वरूप क्या है?

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. सूयगड़ो-1 — संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रका. जैन विश्व भारती
2. सूत्रकृतांग—संपा. अमरमुनि
3. सूत्रकृतांग—संपा. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

लेखिका- समणी ऋजुप्रज्ञा

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : भगवती : चयनित अंश

संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 भगवती का परिचयात्मक अध्ययन

- 3.2.1 विभाग और अवान्तर विभाग
- 3.2.2 रचना शैली
- 3.2.3 रचनाकार एवं रचनाकाल
- 3.2.4 ग्रंथ परिमाण
- 3.2.5 व्याख्या ग्रंथ

3.3 मंगल पाठ

- 3.3.1 मंगलाचरण की परम्परा विमर्श
- 3.3.2 नमस्कार महामंत्र पाठ–भेद
- 3.3.3 पाठान्तर विमर्श
- 3.3.4 नमस्कार महामंत्र : मूलस्रोत और कर्त्ता

3.4 जीव और शरीर का सम्बन्ध

- 3.4.1 जीव और पुद्गल की त्रैकालिकता
- 3.4.2 लोक स्थिति एवं प्रकार
- 3.4.3 जीव और पुद्गल का सम्बन्ध
- 3.4.4 शरीर और मनस् का सम्बन्ध
- 3.4.5 जीव की देह परिमितता

3.5 कर्म वेदना

- 3.5.1 कर्म वेदना की स्थिति
- 3.5.2 कर्मों की उदीरणा

3.6 आत्मकर्तृत्ववाद एवं पुरुषार्थ का विवेचन

- 3.6.1 उदीरणा
- 3.6.2 उदीर्ण
- 3.6.3 अनुदीर्ण
- 3.6.4 अनुदीर्ण उदीरणामभव् कर्म
- 3.6.5 प्रकृति उदीरणा की योग्यता
- 3.6.6 स्थिति उदीरणा की योग्यता
- 3.6.7 उदयान्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म

3.7 कांक्षामोहनीय कर्म

- 3.7.1 जीव कर्मों को ग्रहण करता है
- 3.7.2 कांक्षामोहनीय का अर्थ
- 3.7.3 कृत, चित, उपचित
- 3.7.4 कांक्षामोहनीय कर्म वेदन के हेतु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7.5 कांक्षामोहनीय : बन्ध एवं कारण
3.7.6 कर्मबन्ध विमर्श
3.7.6.1 तर्क
3.7.6.2 संज्ञा
3.7.6.3 प्रज्ञा
3.7.7 श्रमण निर्ग्रन्थ के भी कांक्षामोहनीय का वेदन
3.8 प्रमाण : स्वरूप एवं भेद
3.8.1 ज्ञान स्वरूप एवं भेद
3.8.2 दर्शनान्तर
3.8.3 चारित्रान्तर
3.8.4 लिंगान्तर
3.8.5 प्रवचनान्तर और प्रवचनी-अन्तर
3.8.6 कल्पनान्तर
3.8.7 मार्गान्तर
3.8.8 मतान्तर
3.8.9 भंगान्तर
3.8.10 नयान्तर
3.8.11 नियमान्तर
3.8.12 प्रमाणान्तर
3.9 कर्मवेदना एवं निर्जरा का स्वरूप
3.9.1 निर्जरा के हेतु
3.9.2 महावेदना और निर्जरा के स्वामी
3.9.3 वेदना एवं निर्जरा का स्वरूप
3.10 सारांश
3.11 शब्द-विमर्श
3.12 प्रश्नावली
3.13 सन्दर्भ-ग्रंथ

3.0 प्रस्तावना

भगवान् महावीर की वाणी द्वादशांगी में संकलित है। द्वादशांगी के पांचवे अंग का नाम है—'विआहपण्णत्ती' अर्थात् 'व्याख्याप्रज्ञप्ति'। प्रश्नोत्तर की शैली में लिखा जाने वाला ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है। व्याख्या का अर्थ है—विवेचन करना और प्रज्ञप्ति का अर्थ है—समझना, जिसमें विवेचनपूर्वक तत्त्व समझाया जाता है, उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। टीकाकार अभयदेव के अनुसार पंचम अंग में गौतम आदि शिष्यों एवं अन्य मतावलम्बियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में महावीर ने जो प्रतिपादन किया, उसका निर्वचन है। इसलिए इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। प्रस्तुत आगम का दूसरा नाम 'भगवती' है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग की अपनी विशिष्टता थी, इसलिए 'भगवती' इसका एक विशेषण था, जिसका संकेत समवायांग (चतुर्थ अंग) में मिलता है। आगे चलकर यह विशेषण नाम बन गया। इस सहस्राब्दी में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम अधिक प्रचलित है।

3.1 उद्देश्य

भगवती अर्थात् व्याख्या प्रज्ञप्ति जैन परम्परा का आकर ग्रंथ है। यह द्वादशांगी का पांचवा अंग है तथा तत्त्व विद्या का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक अनुपम ग्रंथ होने के साथ-साथ इसमें जीवन और लोक से संबंधित सभी निगूढ़ तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के माध्यम से हम जीव और शरीर कासम्बन्ध, आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व तथा कांक्षामोहनीय के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

3.2 भगवती का परिचयात्मक अध्ययन

समवायांग और नंदी के अनुसार प्रस्तुत आगम में 36 हजार प्रश्नों का व्याकरण (प्रतिपादन) है तथा प्रस्तुत आगम के सौ से अधिक अध्ययन, दस हजार उद्देशक और दस हजार समुद्देशक हैं। इसका वर्तमान आकार उक्त विवरण से भिन्न है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्तमान में प्रस्तुत आगम सहित सभी आगम लुप्त हो गए हैं। उसी परम्परा के ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक, षट्खण्डागम और कषायपाहुड के अनुसार प्रकृत आगम में 70 हजार प्रश्नों का व्याकरण था।

यह आगम 41 श्लोकों में विभक्त है। इसमें दार्शनिक, आचार-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी, तार्किक, लोक-सम्बन्धी, गणित-सम्बन्धी, राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अनेक विषयों पर सामग्री उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर, गोशालक, जमालि आदि अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ की इस महनीयता पर टिप्पणी करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि—''वर्तमान ज्ञान की अनेक शाखाओं ने अनेक नए रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम प्रस्तुत आगम की गहराइयों में जाते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि इन रहस्यों का उद्घाटन अतीत में भी हो चुका था। प्रस्तुत आगम तत्त्वविद्या का आकर ग्रंथ है। इसमें चेतन और अचेतन—इन दोनों तत्त्वों की विशद जानकारी उपलब्ध है। संभवत: विश्व-विद्या की कोई भी ऐसी शाखा नहीं होगी, जिसकी इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में चर्चा न हो। तत्त्वविद्या का इतना विशाल ग्रंथ अभी तक ज्ञात नहीं है। इसके प्रतिपाद्य विषय का आकलन करना एक जटिल कार्य है।''

प्रस्तुत आगम में अनेक ऐसे विषय हैं, जो आगम-प्रमाण द्वारा ग्राह्य हैं, उदाहरणार्थ—षड्जीवनिकाय, लोक-अलोकवाद, पंचास्तिकाय, परमाणुवाद, तमस्काय, कृष्णराजि इत्यादि। इनमें से कुछ विषय अब विज्ञान की नई शोधों द्वारा ग्राह्य हो चुके हैं। भगवान् महावीर ने जीवों के छह निकाय बतलाए। उनमें त्रस-निकाय के जीव अनुभवसिद्ध हैं। वनस्पति-निकाय के जीव अब विज्ञान द्वारा भी सम्मत हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार निकायों के जीव-विज्ञान द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकृत नहीं हुए। भगवान् महावीर ने पृथ्वी आदि जीवों का केवल अस्तित्व ही नहीं बतलाया, उनका जीवनमान्, आहार, श्वास, चैतन्य-विकास, संज्ञाएँ आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। परमाणु के विषय में तो आधुनिक विज्ञान में नए-नए नियम और सिद्धान्त स्थापित हो रहे हैं। तमस्काय अथवा कृष्णराजि के समानान्तर 'ब्लेक होल' (Black Hole) की अवधारणा आज विज्ञान की चर्चा का मुख्य विषय बनी हुई है। इनके अतिरिक्त भगवती में कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिन्हें विज्ञान द्वारा एक वस्तु के हजारों प्रतिरूपों का निर्माण, भावितात्मा द्वारा आकाशगमन, पृथ्वी आदि स्थावर-जीवों का श्वास-उच्छ्वास, सार्वभौम धर्म का प्रवचन, परमाणु की गति, दूरसंचार आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं, जिनका वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है।

स्पष्ट है, भगवती सूत्र भगवान् महावीर के दर्शन या तत्त्वविद्या का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसमें महावीर का व्यक्तित्व जितना प्रस्फुटित हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। डॉ. डेल्यू ने लिखा है—''निष्कर्ष रूप में कहना चाहूंगा कि 'अन्यतीर्थिक आगम पाठों में अनेक विविधतापूर्ण विषयों की जो चर्चा की गई है; वे महावीर के व्यक्तित्व को एक चिन्तक एवं एक प्रणेता के रूप में प्ररूपित करते हैं तथा उस अद्भुत युग का चित्रण भी करते हैं, जब धर्म और दर्शन का सर्जनात्मक दौर चल रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर उस युग के अन्य किसी भी दार्शनिक की तुलना में यहां तक कि बुद्ध की तुलना में भी अपने समय के आध्यात्मिक उत्साह एवं उत्कटता से अधिक प्रेरित थे।'' जैनदर्शन की प्रतिपादनशैली अनेकान्तिक है। भगवती में अनेकान्त दृष्टि का पूरा उपयोग किया गया है। उदाहरणत: ग्रंथ का प्रारम्भ 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न से होता है। 'चलमाणे चलिए' से तात्पर्य है—जिसने चलना प्रारम्भ कर दिया, वह चल दिया। वस्तुत: चलने का प्रारम्भ और पूर्णता एक क्षण में असंभव है। किन्तु अनेकान्तवाद के अनुसार चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में होते हैं। कोई भी क्रिया प्रारम्भ होती है तो आंशिक रूप में पूर्ण भी होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाए तो क्रिया का अंत होने पर भी कार्य निष्पन्न नहीं होगी। अभयदेवसूरि ने उपर्युक्त प्रश्न का समाधान निश्चयनय से देते हुए कहा कि—व्यवहारनय के अनुसार चलित को ही चलित कहा जा सकता है किन्तु निश्चयनय से चलमान को भी चलित कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि उत्पत्ति और निष्पत्ति का क्षण एक ही है। जिस क्षण में उत्पत्ति (चलने की क्रिया प्रारम्भ होती है) उसी क्षण में निष्पत्ति (उसकी पूर्णता) हो जाती है। उत्पत्ति निष्पत्ति की शृंखला चालू रहती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.2.1 विभाग और अवान्तर विभाग

वर्तमान में भगवती के एक सौ अड़तीस शत या शतक अध्याय और उन्नीस उद्देशक मिलते हैं। प्रथम बत्तीस शतक स्वतंत्र हैं। तैतीस से उनचालीस तक के सात शतक इक्कीस शतकों का समवाय है। इकतालीसवां शतक स्वतंत्र है। कुल मिलाकर एक सौ अड़तीस शतक होते हैं। उनमें इकतालीस मुख्य और शेष अवान्तर शतक हैं।

3.2.2 रचनाशैली

प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध इस आगम में प्रश्न की भाषा संक्षिप्त है और उनके उत्तर की भाषा भी संक्षिप्त है। सामान्यतः **'से नूणं भंते'** इस भाषा में प्रश्न का और **'हंता गोयमा'** इस भाषा में उत्तर का प्रारम्भ होता है। उदाहरणार्थ—

'से नूणं भंते! चलमाणे चलिए।
हंता गोयमा! चलमाणे चलिए।'

उद्देशक की पूर्ति पर भगवान् महावीर द्वारा दिये गए उत्तर का स्वीकृति सूचक 'सेवं भंते' का प्रयोग और विनम्र वंदना का उल्लेख मिलता है।

प्रश्न और उत्तर की भाषा सहज सरल है। अनेक स्थलों पर गद्यकाव्य जैसी छटा दृष्टिगोचर होती है—

'पुव्विं भंते! अंडए, पच्छा कुक्कुडी?
पुव्विं कुक्कुडी, पच्छा अंडए? इत्यादि।'

विषय की दृष्टि से कहीं-कहीं उत्तर विस्तार से भी दिये गए हैं। कहीं-कहीं प्रश्न विस्तृत है और उत्तर संक्षिप्त, इसलिए प्रतिप्रश्न भी मिलता है। 'से केणट्ठेण भंते!' इस भाषा में प्रतिप्रश्न प्रारम्भ होता है और विषय की पूर्णता 'से तेणट्ठेणं' इस भाषा में होती है।

अधिकांशतया प्रश्नोत्तर पद्धति में प्रत्यक्ष शैली का प्रयोग किया गया है। प्रश्नकर्त्ता प्रश्न पूछता है और भगवान् महावीर उत्तर देते हैं। कहीं-कहीं रचनाकार ने परोक्ष-शैली का भी प्रयोग किया है। परोक्ष शैली में महावीर का नाम लेकर कोई अन्य ही उत्तर देता है, जैसे—**'समणे भगवं महावीरे वागरेइ—उववज्जमाणे उववन्नेति वत्तव्वं सिया।'** शतक के प्रारम्भ में संग्रहणी गाथा होती है। उसमें उस शतक के सभी उद्देशकों की सूची मिल जाती है। गद्य के मध्य में भी संग्रहणी गाथाएं प्रचुरता से मिलती हैं।

3.2.3 रचनाकार एवं रचनाकाल

जैसा कि ज्ञात है प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का पांचवां अंग है। इसमें भगवान् महावीर की वाणी गणधर सुधर्मा के द्वारा संकलित है, इसलिए इसके रचनाकार गणधर सुधर्मा हैं। इसका प्रस्तुत संस्करण देवर्द्धिगणी की वाचना के समय का है। ई.पू. पांच सौ से ई. सन् पांच सौ तक के सूत्र इसमें मिलते हैं।

वस्तुतः यह सूत्र संकलनाकालीन रचना है। सामयिक स्थिति का आकलन करने वाला यह सूत्र देवर्द्धिगणी की वाचना के समय जोड़ा गया प्रतीत होता है। समर्पण-सूत्रों या निर्देश-सूत्रों के अध्ययन से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत आगम में अनेक शताब्दियों की रचना का संकलन किया गया है। उदाहरणार्थ—गणिपिटक की जानकारी के लिए नंदीसूत्र का निर्देश किया गया है इत्यादि।

3.2.4 ग्रंथ परिमाण

प्रस्तुत आगम का ग्रंथमान् अनुष्टुप श्लोक के अनुपात से 16 हजार श्लोक प्रमाण माना जाता है। जैन विश्वभारती से प्रकाशित प्रस्तुत आगम के संस्करण में अनेक स्थलों पर आचार्य तुलसी व आचार्य महाप्रज्ञ ने 'जाव' शब्द से अधूरे छोड़े गए सूत्रों की पूर्ति की है। उससे इसका ग्रंथमान 19289½ श्लोक प्रमाण हो गया है।

3.2.5 व्याख्याग्रंथ

भगवती की व्याख्या हेतु निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि लिखे गए। वर्तमान में प्रस्तुत आगम की निर्युक्ति उपलब्ध नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चूर्णि अभी मुद्रित नही है। वह हस्तलिखित मिलती है। उसकी पत्र संख्या 80 है। उसका ग्रंथमान् 3590 श्लोक परिमाण है। उसके रचनाकार और रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। चूर्णि की भाषा प्राकृत प्रधान है। विद्वानों के अनुसार भगवती चूर्णि के रचनाकार जिनदास महत्तर है। इसके अतिरिक्त भगवती पर नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि की टीका (वृत्ति) उपलब्ध है। सं. 1128 अणहिलपाटक नगर में इस वृत्ति का निर्माण हुआ। इसका ग्रंथमान् अनुष्टुप श्लोक के अनुपात से 18616 है।

3.3 मंगल-पद

नमो अरहंताणं,

नमो सिद्धाणं,

नमो आयरियाणं,

नमो उवज्झायाणं,

नमो सव्वसाहूणं।।

अर्हतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, सब साधुओं को नमस्कार।

प्रस्तुत आगम मंगल-पद के साथ प्रारम्भ होता है। इसमें तीन मंगल-सूत्र हैं। प्रथम मंगल में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि को नमस्कार किया गया है और दूसरे मंगल में ब्राह्मी लिपि को। इसके बाद संग्रहणी गाथा है और फिर तीसरे मंगल में श्रुत को नमस्कार किया गया है। मंगल का प्रयोजन है—इष्ट अर्थ की प्राप्ति। निर्विघ्न रूप से शास्त्र या लौकिक कार्यों की परिसमाप्ति तथा वांछित अभिसिद्धि के लिए जो किया जाता है, वह मंगल है; इसीलिए शास्त्र के आदि, मध्य तथा अंत में मंगल करने का विधान किया गया है। आदि मंगल से शत्रुओं के द्वारा आने वाले विघ्नों का विघात, मध्य मंगल से बिना किसी विक्षेप के शास्त्र की सम्पन्नता तथा अंत मंगल से आयुष्मान् श्रोता की उपलब्धि होती है।

मुख्य रूप में मंगल दो प्रकार का होता है—द्रव्य मंगल और भाव मंगल। लौकिक कार्यों में अक्षत, कुंकुम, दही, नारियल आदि पदार्थ मंगल माने जाते हैं। लोकोत्तर कार्यों में अपने इष्ट देवता का स्मरण ही मंगल है।

3.3.1 मंगलाचरण की परम्परा विमर्श

प्राचीन आगम-साहित्य में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल-विन्यास करने की पद्धति नहीं है। उत्तरकाल में इस पद्धति का विकास हुआ। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि का अभिमत है कि आगम स्वयं एक मंगल है। उसमें दूसरे-दूसरे मंगलों का समावेश करने का कोई औचित्य नहीं बनता। इससे अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। फिर भी शिष्य की मति को मंगलमय बनाने तथा शिष्ट परम्परा के निर्वाह के लिए प्रस्तुत सूत्र में ऐसा प्रयत्न किया गया। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि प्रस्तुत नहीं की, केवल प्राचीन परम्परा की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित किया है उन्होंने लिखा है **''पूर्व वृत्तिकार ने पूर्वव्याख्यात नमस्कार आदि ग्रन्थ की व्याख्या नहीं की। उनके सामने इसका कोई कारण रहा है।''** यह कारण क्या रहा होगा, इस पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। हमारे अभिमत से इसका कारण यह है कि मंगल-सूत्र रचनाकालिक नहीं हैं, वे उत्तरकाल में जुड़े हैं। इसीलिए चूर्णि और मूलवृत्ति में वे व्याख्यात नहीं हैं।

प्रस्तुत सूत्र के पन्द्रहवें शतक के प्रारम्भ में भी मंगल-काव्य उपलब्ध होता है—**नमो सुयदेवयाए भगवईए।** अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या नहीं की है, इससे लगता है कि प्रारम्भ में मंगल-वाक्य, लिपिकारों या अन्य किसी आचार्य ने, वृत्ति की रचना से पूर्व जोड़ दिये थे और मध्यवर्ती-मंगल वृत्ति की रचना के बाद जुड़ा। पन्द्रहवें शतक का पाठ विघ्नकारक माना जाता था, इसलिए इस अध्ययन के साथ मंगलवाक्य जोड़ा गया, यह बहुत संभव है। मंगलवाक्य के प्रक्षिप्त होने की बात अन्य आगमों से भी पुष्ट होती है।

दशाश्रुतस्कंध की वृत्ति में मंगल-वाक्य के रूप में नमस्कार-मंत्र व्याख्यात है, किन्तु चूर्णि में वह व्याख्यात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि चूर्णि के रचनाकाल में वह प्रतियों में उपलब्ध नहीं था और वृत्ति की रचना से पूर्व वह उनमें जुड़ गया था। **पज्जोसणाकप्पो (कल्पसूत्र) दसाओ** का आठवां अध्ययन है। उसके प्रारम्भ में भी नमस्कार-मंत्र लिखा हुआ मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आगम-अनुसंधाता मुनि पुण्यविजयजी ने इसे प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है और वृत्ति में भी व्याख्यात नहीं है। यह अष्टम् अध्ययन होने के कारण इसमें मध्य मंगल भी नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रक्षिप्त है। **पण्णवणा** के प्रारंभ में भी नमस्कार-मंत्र लिखा हुआ है, किन्तु हरिभद्रसूरि और मलयगिरि—इन दोनों व्याख्याकारों के द्वारा यह व्याख्यात नहीं है।

पण्णवणा के रचनाकार श्री श्यामार्य ने मंगल-वाक्य-पूर्वक रचना का प्रारम्भ किया है। इससे ज्ञात होता है कि ई.पू. पहली शताब्दी के आस-पास आगम-रचना से पूर्व मंगल-वाक्य लिखने की पद्धति प्रचलित हो गयी। प्रज्ञापनाकार का मंगल-वाक्य उनके द्वारा रचित है। इसे 'निबद्ध-मंगल' कहा जाता है। दूसरों के द्वारा रचे हुए मंगल-वाक्य उद्धृत करने को 'अनिबद्ध-मंगल' कहा जाता है। प्रति-लेखकों ने अपने प्रति-लेखन में कहीं-कहीं 'अनिबद्ध-मंगल' का प्रयोग किया है। इसीलिए मंगल-वाक्य लिखने की परम्परा का सही समय खोज निकालना कुछ जटिल हो गया।

प्रस्तुत आगम पांचवां अंग है। उपलब्ध **आयारो** आदि ग्यारह अंगों में प्रस्तुत आगम को छोड़कर किसी भी अंग-सूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार-मंगल उपलब्ध नहीं हैं—

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। (आयारो, 1.1)

बुज्झेज्ज तिउटेज्जा, बंधणं परिजाणिया। (सूयगडो, 1.1.1)

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। (ठाणं, 1.1)

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। (समवाओ, 1.1)

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। (नायाधम्मकहाओ, 1.1.1)

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी। (उवासगदसाओ, 1.1)

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी। (अंतगडदसाओ, 1.1)

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे। (अणुत्तरोववाइयदसाओ, 1.1)

जंबू! इणमो अण्हय-संवर-विणिच्छयं पवयणस्स निस्संदं। (पण्हावागरणाइं, 1.1)

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। (विवागसुयं, 1.1)

आयारो आदि अंगों के प्रारम्भिक सूत्रों का अध्ययन करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवल प्रस्तुत अंग के प्रारम्भ में ही नमस्कार-मंगल का विन्यास क्यों? इसका उत्तर पाना कठिन नहीं है। लगता है, रचनाकाल में प्रस्तुत आगम का प्रारम्भ भी **'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था'** इस वाक्य से ही था, किन्तु लिपिकारों द्वारा लिखित नमस्कार-मंगल-सूत्र मूल के साथ जुड़ गये और उन्हें मौलिक अंग मान लिया गया।

3.3.2 नमस्कार महामंत्र पाठ-भेद

नमस्कार महामंत्र का बहुत प्रचलित पाठ यह है—

णमो अरहंताणं,

णमो सिद्धाणं,

णमो आयरियाणं,

णमो उवज्झायाणं,

णमो लोए सव्वसाहूणं।

प्राचीन ग्रंथों में इसके अनेक पदों एवं वाक्यों के पाठान्तर मिलते हैं—

णमो—नमो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अरहंताणं—अरिहंताणं, अरुहंताणं।

आयरियाणं—आइरियाणं।

णमो लोए सव्वसाहूणं—णमो सव्वसाहूणं।

नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं।

3.3.3 पाठान्तर-विमर्श

णमो, नमो—प्राकृत में आदि में 'न' का 'ण' विकल्प से होता है, इसलिये नमो, णमो—ये दोनों रूप मिलते हैं।

अरहंताणं, अरिहंताणं—प्राकृत में 'अर्ह' धातु के दोनों रूप बनते हैं—अरहइ, अरिहइ। अरहंताणं और अरिहंताणं—ये दोनों 'अर्ह' धातु के शतृ प्रत्ययांत रूप हैं। अरहंत और अरिहंत—इन दोनों में कोई अर्थ-भेद नहीं है। व्याख्याकारों ने अरिहंत शब्द को संस्कृत की दृष्टि से देखकर उसमें अर्थ-भेद किया है। अरि+हन्त = शत्रु का हनन करने वाला। यह अर्थ शब्द-साम्य के कारण किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति में यह अर्थ उपलब्ध है। अर्हता का अर्थ इसके बाद किया गया है। इस अर्थभेद के होने पर अरहंत और अरिहंत ये एक ही धातु के दो रूपों में निष्पन्न दो शब्द नहीं होते, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो शब्द बन जाते हैं।

आवश्यक सूत्र के निर्युक्तिकार ने अरहंत, अरिहंत के तीन अर्थ किये हैं—

1. पूजा की अर्हता होने के कारण **अरहंत**।
2. अरि का हनन करने के कारण **अरिहंत**।
3. रज-कर्म का हनन करने के कारण **अरिहंत**।

वीरसेनाचार्य ने **अरिहंताणं** पद के चार अर्थ किये हैं—

1. अरि का हनन करने के कारण **अरिहंत**।
2. रज का हनन करने के कारण **अरिहंत**।
3. रहस्य के अभाव से **अरिहंत**।
4. अतिशय पूजा की अर्हता होने के कारण **अरिहंत**।

प्रथम तीन अर्थ अरि+हंता—इन दो पदों के आधार पर किये गये हैं और चौथा अर्थ अर्ह् धातु के अर्हता पद के आधार पर किया गया है।

भाषा की दृष्टि से नमो और णमो तथा अरहंताणं और अरिहंताणं—इन दो में मात्र रूपभेद है, किन्तु मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से 'न' और 'ण' के उच्चारण की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। 'ण' मूर्धन्य वर्ण है। उसके उच्चारण से जो घर्षण होता है, जो मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् का संचार होता है, वह 'न' के उच्चारण से नहीं होता।

अरहंताणं के अकार और **अरिहंताणं** के इकार का भी मंत्रशास्त्रीय अर्थ एक नहीं है। मंत्रशास्त्र के अनुसार अकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद नमकीन होता है तथा इकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद कषैला होता है। अकार पुल्लिंग और इकार नपुंसकलिंग होता है।

अरुहंताणं—यह पाठ-भेद **भगवती सूत्र** की **वृत्ति** में व्याख्यात है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ 'अपुनर्भव' किया है। जैसे बीज के अत्यनत दग्ध होने पर इससे अंकुर नहीं फूटता, वैसे ही कर्म-बीज के अत्यनत दग्ध हो जाने पर भवांकुर नहीं फूटता।

आवश्यक निर्युक्ति और धवला में अरुहंत पाठ व्याख्यात नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि यह पाठान्तर उनके उत्तरकाल में बना है। ऐसी अनुश्रुति भी है कि यह पाठान्तर तमिल और कन्नड़ भाषा के प्रभाव में हुआ है। किन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अरुह शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलता है। उन्होंने **अरुहंत** और **अरहंत** का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। वे दक्षिण के थे, इसलिए अरहंत के अर्थ में अरुह का प्रयोग दक्षिण के उच्चारण से प्रभावित है, इस उपपत्ति की पुष्टि होती है। बोधपाहुड में उन्होंने **'अर्हत्'** का वर्णन किया है। उसमें 28, 29, 30, 32—इन चार गाथाओं में **अरहंत** का प्रयोग है और 31, 34, 36, 39, 41—इन पांच गाथाओं में **अरुह** का प्रयोग है।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपलब्ध प्रयोगों के आधार पर अर्हत् शब्द के तीन रूप सिद्ध किये हैं—अरुहो, अरहो, अरिहो, अरुहन्तो, अरहन्तो, अरिहंतो।

डॉ. पिशेल ने **अरहा, अरिहा, अरुहा** और **अरिहन्त** का विभिन्न भाषाओं की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है—

अरहा, अरहन्त—अर्द्धमागधी

अरिहा—शौरसेनी

अरुहा—जैन महाराष्ट्री

अलिहंताणं—मागधी।

आयरियाणं, आइरियाणं—आगम साहित्य में यकार के स्थान में इकार के प्रयोग मिलते हैं—**वयगुत्तर—वइगुत्त**। **वयर—वइर**। इस प्रकार **आयरिय** और **आइरिय** में रूपभेद हैं।

णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो सव्वसाहूणं—अभयदेवसूरि के अनुसार भगवती सूत्र के मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध नमस्कार मंत्र का पांचवां पद **'णमो सव्वसाहूणं'** है। **'णमो लोए सव्वसाहूणं'** का उन्होंने पाठान्तर के रूप में उल्लेख किया है—**णमो लोए सव्वसाहूणं ति क्वचित्पाठः**। इस पाठान्तर की व्याख्या में उन्होंने बताया है कि 'सर्व' शब्द आंशिक सर्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः परिपूर्ण सर्व का बोध कराने के लिए इस पाठान्तर में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'लोक' और 'सर्व'—इन दोनों शब्दों के होने पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है और अभयदेवसूरि ने इसी का समाधान किया है।

दशाश्रुतस्कंध के वृत्तिकार ब्रह्मऋषि ने भी **णमो लोए सव्वसाहूणं** को पाठान्तर के रूप में व्याख्यात किया है। इसकी व्याख्या में वे अभयदेवसूरि का अक्षरशः अनुसरण करते हैं।

अभयदेवसूरि की वृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र में **णमो सव्वसाहूणं** को मूल पाठ और **णमो लोए सव्वसाहूणं** को पाठान्तर स्वीकृत किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि **णमो लोए सव्वसाहूणं** को ही मूल पाठ माना है। आगम-अनुसंधान की जो पद्धति निर्धारित की है, उसके अनुसार हम प्राचीनतम प्रति या चूर्णि, वृत्ति आदि व्याख्या में उपलब्ध पाठ को प्राथमिकता देते हैं। सबसे अधिक प्राथमिकता आगम में उपलब्ध पाठ को देते हैं। आगम के द्वारा आगम के पाठ- संशोधन में सर्वाधिक प्रामाणिकता प्रतीत होती है। इस पद्धति के अनुसार हमें सर्वत्र 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इसे मूल पाठ के रूप में स्वीकृत करना चाहिए था, किन्तु नमस्कार मन्त्र किस आगम का मूल पाठ है, इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। यह जहां कहीं उपलब्ध है, वहां ग्रन्थ के अवयव के रूप में उपलब्ध नहीं है, मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध है। **आवस्सयं** के प्रारंभ में नमस्कार मन्त्र मिलता है। किन्तु वह **आवस्सयं** का अंग नहीं है। **आवस्सयं** के मूल अंग सामायिक, चतुर्विंशस्तव आदि हैं। इस दृष्टि से भगवती सूत्र में नमस्कार मंत्र का जो प्राचीन रूप मिला, वही मूल रूप में स्वीकृत किया गया है। अभयदेवसूरि की व्याख्या से प्राचीन या उसके समकालीन कोई भी प्रति प्राप्त नहीं है। यह वृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इसलिए वृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ और पाठान्तर को स्वीकार करना ही उचित प्रतीत हुआ।

नमो अरहंताणं, नमो सव-सिधानं—यह पाठान्तर खारवेल के हाथीगुंफा लेख में मिलता है। इसमें अंतिम नकार भी णकार नहीं है, सिद्ध के साथ सर्व शब्द का योग है और **'सिधानं'** में द्वित्व 'ध' प्रयुक्त नहीं है। यह पाठ भी बहुत पुराना है, इसलिए इसे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.4 नमस्कार महामंत्र : मूल स्रोत और कर्त्ता

नमस्कार महामन्त्र आदि-मंगल के रूप में अनेक आगमों और ग्रंथों में उपलब्ध होता है, किन्तु इससे उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलता। **महानिशीथ** में लिखा है कि पंचमंगल- महाश्रुतस्कंध का व्याख्यान सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में किया गया था और वह व्याख्यान तीर्थंकरों के द्वारा प्राप्त हुआ था। कालदोष से वे **निर्युक्ति, भाष्य** और **चूर्णियां** विच्छिन्न हो गयीं। फिर कुछ समय बाद वज्रस्वामी ने नमस्कार महामंत्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह बात वृद्ध सम्प्रदाय के आधार पर लिखी गई है। इससे भी नमस्कार मंत्र के मूल स्रोत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

आवश्यक निर्युक्ति में वज्रसूरि के प्रकरण में उक्त घटना का उल्लेख भी नहीं है। वज्रसूरि दस पूर्वधर हुए हैं। उनका अस्तित्वकाल ई.पू. पहली शताब्दी है। शय्यंभवसूरि चतुर्दशपूर्वधर हुए हैं और उनका अस्तित्वकाल ई.पू. 5-6 शताब्दी है। उन्होंने कायोत्सर्ग को नमस्कार के द्वारा पूर्ण करने का निर्देश किया है। **दशवैकालिक** सूत्र की दोनों चूर्णियों और **हारिभद्रीय वृत्ति** में नमस्कार की व्याख्या **'णमो अरहंताणं'** मंत्र के रूप में की है।

आचार्य वीरसेन ने **षट्खण्डागम** के प्रारम्भ में दिये गए नमस्कार मंत्र को निबद्धमंगल बतलाया है। इसका फलित यह होता है कि नमस्कार महामंत्र के कर्त्ता **षट्खण्डागम** के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं। आचार्य वीरसेन ने यह किस आधार पर लिखा, इसका कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसे **भगवती सूत्र** की प्रतियों के प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र लिखा हुआ था और अभयदेवसूरि ने उसे सूत्र का अंग मानकर उसकी व्याख्या की, वैसे ही आचार्य पुष्पदन्त को उसका कर्ता बतला दिया। आचार्य पुष्पदन्त का अस्तित्व-काल वीर-निर्वाण की सातवीं शताब्दी (ई. पहली शताब्दी) है। खारवेल का शिलालेख ई.पू. 152 का है। उसमें **नमो अरहंताणं नमो सवसियानं**—ये पद मिलते हैं। इससे नमस्कार महामंत्र का अस्तित्व-काल आचार्य पुष्पदन्त से बहुत पहले चला जाता है। शय्यंभवसूरि का **दसवेआलियं** में प्राप्त निर्देश भी इसी ओर संकेत करता है। भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया था। **उत्तरज्झयणाणि** के बीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में **सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाण च भावओ**—सिद्धों और साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार की परिपाटी बहुत पुरानी है, किन्तु भगवान् महावीर के काल में पंच मंगलात्मक नमस्कार मंत्र प्रचलित था या नहीं—इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना सरल नहीं है। **महानिशीथ** के उक्त प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान स्वरूप वाला नमस्कार महामंत्र भगवान् महावीर के समय में प्रचलित था। किन्तु उसकी पुष्टि के लिए कोई दूसरा प्रमाण अपेक्षित है। **आवश्यक निर्युक्ति** में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। निर्युक्तिकार ने लिखा है—पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए। यह पंचनमस्कार सामायिक का ही एक अंग है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार महामंत्र उतना ही पुराना है, जितना सामायिक सूत्र। सामायिक **आवस्सयं** का प्रथम अध्ययन है। नंदी में आई हुई आगम की सूची में उसका उल्लेख है। नमस्कार महामंत्र का वहां एक श्रुतस्कन्ध या महाश्रुतस्कन्ध के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि यह सामायिक अध्ययन का एक अंगभूत रहा है। सामायिक के प्रारंभ में और उसके अन्त में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अन्त में भी पंचनमस्कार की पद्धति प्रचलित थी। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार नंदी और अणुओदाराइं को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र का प्रारम्भ किया जाता है। संभव है इसीलिए अनेक आगमसूत्रों के प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र लिखने की पद्धति प्रचलित हुई। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उसी आधार पर नमस्कार महामंत्र को सर्वश्रुतान्तर्गत बतलाया। उनके अनुसार पंचनमस्कार करने पर ही आचार्य सामायिक आदि आवश्यक और क्रमशः शेष श्रुत शिष्यों को पढ़ाते थे। प्रारम्भ में नमस्कार मंत्र का पाठ देने और उसके बाद आवस्सयं का पाठ देने की पद्धति थी। इस प्रकार अन्य सूत्रों के प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र का पाठ किया जाता था। इस दृष्टि से उसे सर्वश्रुताभ्यन्तरवर्ती कहा गया। फिर भी नमस्कार मंत्र को जैसे सामायिक का अंग बतलाया है, वैसे किसी अन्य आगम का अंग नहीं बताया गया है। इस दृष्टि से नमस्कार महामंत्र का मूल स्रोत सामायिक अध्ययन ही सिद्ध होता है। **आवस्सयं** या सामायिक अध्ययन के कर्त्ता यदि गौतम गणधर को माना जाए तो पंचमंगलं रूप नमस्कार महामंत्र के कर्त्ता भी गौतम गणधर ही ठहरते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.4 जीव और शरीर का सम्बन्ध

जैनदर्शन विश्व के मूल में छः तत्त्वों को स्वीकार करता है। दृश्यमान् जागतिक विचित्रता छः तत्त्वों में से जीव और पुद्गल इन दो तत्त्वों के विविध संयोग का ही परिणाम है। स्वभावतः दोनों ही तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न हैं। जीव चेतनावान् है जबकि जड़ (पुद्गल) में चेतना का सर्वथा अभाव है। त्रिकाल में भी इस स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता है। जीव पुद्गल नहीं बनता और न पुद्गल में चेतना का कभी प्रवेश होता है। इस स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इनमें पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? दो सर्वथा भिन्न स्वभाव वाली वस्तुएँ एक-दूसरे को प्रभावित कैसे कर सकती हैं? अवश्य ही इन दोनों में कोई ऐसी विशेषता होनी चाहिये जिससे इनका सम्बन्ध होता है और पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है।

उपर्युक्त समस्या भगवान् महावीर के समक्ष भी उपस्थित हुई और उन्होंने स्वमनीषा से उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। प्रश्न किया गया है—

अत्थि णं भंते! जीवा य पोग्गला व अण्णमण्णबद्धा, अण्णण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति? हंता अत्थि।

—क्या जीव और पुद्गल परस्पर संबद्ध, स्पृष्ट (स्पर्श किये हुए), अवगाढ़, स्नेहप्रतिबद्ध और एक घटक (एकीभूत) के रूप में रहते हैं?

उत्तर—हां रहते हैं।

उपर्युक्त सूत्र से यह प्रमाणित होता है कि जीव और पुद्गल में गहरा सम्बन्ध है। किन्तु सभी जीव पुद्गल से सम्बद्ध हैं—ऐसा नहीं है। फलतः सम्बन्ध और विसम्बन्ध के आधार पर जीव दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं—संसारी और मुक्त (संसारिणो मुक्ताश्च)। जो जीव पुद्गल के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो चुके हैं, उन्हें मुक्त अथवा सिद्ध जीव कहा जाता है। जिन जीवों का सम्बन्ध पुद्गल के साथ है। पुद्गल के बिना जिनका कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता है, वे बद्ध अथवा संसारी कहलाते हैं।

संसारी जीव पुद्गल से इतने अधिक संयुक्त हैं कि पुद्गल को छोड़कर उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मति-तर्क-प्रकरण' में जीव और पुद्गल के सम्बन्ध पर अनेकान्तिक दृष्टि से विचार किया है। उनका कथन है कि दूध और पानी की तरह मिले होने से 'यह जीव है' और 'यह पुद्गल है'—ऐसा विभाग करना उचित नहीं है। दोनों का नुबन्ध दोनों में अभेद को स्थापित करता है। रूप आदि तथा बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ शरीर से संबंधित हैं। किन्तु इन पर जीव का प्रभाव नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते। इसी प्रकार इन्द्रियजन्य-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि केवल जीव से सम्बद्ध हैं, शरीर का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। इस दृष्टि से जीव और पुद्गल का परस्पर गहरा सम्बन्ध है—यह तथ्य स्वतः प्रमाणित हो जाता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि तात्त्विक दृष्टि से जीव और पुद्गल सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं—यह भी उतना ही सत्य है जितना यह कि—संसारी आत्मा और पुद्गल का परस्पर अनुबंध होने से दोनों में अभेद है। इस प्रकार जीव और पुद्गल का अनेकान्तिक दृष्टि से भेदाभेदपरक सम्बन्ध सिद्ध होता है।

जीव और पुद्गल का सम्बन्ध भौतिक होता है या अभौतिक? यह एक प्रश्न है। भगवती सूत्र से यह प्रमाणित होता है कि संसारदशा में जीव सर्वथा अभौतिक (अमूर्त्त) नहीं होता है। सतरहवें अध्याय में भगवान् महावीर से यह जिज्ञासा की गई कि क्या अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न देव पहले मूर्त्त (रूपी) बनकर भी अमूर्त्त (अरूपी) हो सकता है। महावीर ने निषेधात्मक उत्तर देते हुए कहा कि मूर्त्त (भौतिक) जीव जिनका सम्बन्ध कर्म, लेश्या, शरीर आदि भौतिक तत्त्वों से होता है, वे उन-उन तत्त्वों के संयोग के कारण मूर्त्त ही होते हैं—अतः उनके लिए अमूर्त्त होना अशक्य है। इसी प्रकार अमूर्त्त बने हुए महर्द्धिक देव का मूर्त्त होने का प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता क्योंकि मूर्त्त बनने में हेतुभूत कर्मादि का योग अमूर्त्त (मुक्त) आत्माओं के साथ नहीं रहता है—**देवे णं भंते महिड्ढिए जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूविं विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए? णो इणट्ठे समट्ठे।**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त चर्चा से यह प्रमाणित होता है कि जीव की कथंचित् मूर्त्तता ही पुद्गलों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का मुख्य हेतु है। अतः जीव और पुद्गल के सम्बन्ध को भौतिक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। 'भगवती' के अनुसार यह सम्बन्ध केवल जीव अथवा केवल पुद्गल की ओर से नहीं होता है अपितु दोनों ओर से होता है। इसका आधार 'स्नेहप्रतिबद्धता' (सिणेहपडिबद्धा) है। जीव में स्नेह है—आश्रव, पुद्गल को आकृष्ट करने की योग्यता। पुद्गल में स्नेह है—ग्रहणगुण, आकृष्ट होने की योग्यता। इस उभयाश्रित स्नेह के कारण परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। नौका में छिद्र होने पर पानी का प्रवेश सुगम हो जाता है। जीव में आश्रव रूपी छिद्र है अतः कर्मरूपी पुद्गलों के प्रवेश में सुगमता हो जाती है। जीव और पुद्गल के इस क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध को ही बन्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़, स्नेह-प्रतिबद्ध और घटा (एकीभूत होना) इन पांच रूपों में अभिव्यक्त किया गया है।

3.4.1 जीव और पुद्गल की त्रैकालिकता

एस णं भंते! पोग्गले तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! एस णं पोग्गले तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह परमाणु अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हाँ गौतम! यह परमाणु अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! पोग्गले पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! एस णं पोग्गले पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह परमाणु वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हां, गौतम! यह परमाणु वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! पोग्गले अणामयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया?
हंतो गोयमा! एस णं पोग्गले अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह परमाणु अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हां, गौतम! यह परमाणु अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! खंधे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! एस णं खंधे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह स्कन्ध अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हां, गौतम! यह स्कन्ध अनन्त अतीत काल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! खंधे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया?
हंतो गोयमा! एस णं खंधे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह स्कन्ध वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हां, गौतम! यह स्कन्ध वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! खंधे अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! एस णं खंधे अणागयं अणंतं सासयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह स्कन्ध अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है?
हां, गौतम! यह स्कन्ध अनन्त अतीत काल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! जीवे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! एस णं जीवे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भन्ते! यह जीव अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है?

हां, गौतम! यह जीव अनन्त अतीत काल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है।

एस णं भंते! जीवे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया?

हंता गोयमा! एस णं जीवे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया।।

भन्ते! यह जीव अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, क्या ऐसा कहा जा सकता है?

हां, गौतम! यह जीव अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है।

(भगवती 1/4/191-198)

पुद्गल और जीव की त्रैकालिकता का प्रतिपादन किया गया है। यह त्रैकालिकता अनन्त अतीत और अनन्त भविष्य से जुड़ी हुई त्रैकालिकता है। 'वह प्रातःकाल था, मध्याह्न में है और शाम को होगा'—यह भी त्रैकालिकता है यहां यह विवक्षित नहीं है, इसलिए यहां अतीत और अनागत के साथ 'अनन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। द्रव्य त्रैकालिक होता है। पर्याय अल्पकालिक और दीर्घकालिक हो सकता है, किन्तु अनन्तकालिक नहीं होता; इसीलिए द्रव्य निरपेक्ष सत्य और पर्याय सापेक्ष सत्य हैं।

सत्य के दो अर्थ हैं—1. अस्तित्व, 2. वार्तमानिक अभिव्यक्ति। यहां अस्तित्व-सत्य प्रतिपादित है। सत्य वह है, जो अनन्त अतीत में था, वर्तमान में है और अनन्त अनागत में रहेगा।

उमास्वाति के अनुसार जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, वह सत् या सत्य है। इस सूत्र में 'उत्पाद और व्यय' यह वाक्यांश सापेक्ष शब्द का प्रतिपादक है और 'ध्रौव्य' यह वाक्यांश निरपेक्ष सत्य का।

अस्तिकाय के प्रकरण में पांच अस्तिकायों की त्रैकालिकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत आलापक में केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की त्रैकालिकता का प्रतिपादन है। धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनों द्रव्यों का अस्तित्व है, पर स्थूल सृष्टि से इनका संबंध नहीं है। जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों का सृष्टिगत परिवर्तन के साथ सीधा सम्बन्ध है। ये दोनों सृष्टि के मूल घटक माने जा सकते हैं; इसलिए इन दो का ही उल्लेख किया गया है। अनुसंधान की दृष्टि से प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है—जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों को मानने की कोई प्राचीन परम्परा रही हो, उसके पश्चात् भगवान् महावीर ने पंचास्तिकाय तथा छह द्रव्यों का प्रतिपादन किया हो। प्रस्तुत आगम में उन दोनों परम्पराओं का समावेश कर लिया गया हो।

3.4.2 लोक की स्थिति एवं प्रकार

कतिविहा णं भंते! लोयट्ठिती पण्णत्ता?

गोयमा! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा—1. आगासपइट्ठिए वाए। 2. वायपइट्ठिए उदही। 3. उदहिपइट्ठिया पुढवी। 4. पुढवीपइट्ठिया तसथावरा पाणा। 5. अजीवा जीवपइट्ठिया। 6. जीवा कम्मपइट्ठिया। 7. अजीवा जीवसंगहिया। 8. जीवा कम्मसंगहिया।।

भन्ते! लोकस्थिति कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?

गौतम! लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—1. वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है। 2. समुद्र वायु पर प्रतिष्ठित है। 3. पृथ्वी समुद्र पर प्रतिष्ठित है। 4. त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं। 5. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं। 6. जीव कर्म से प्रतिष्ठित हैं। 7. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं। 8. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

से केणट्ठेणं भंते! एवं चुच्चइ—अट्ठविहा लोयट्ठिती जाव जीवा कम्मसंगहिया?

गोयमा! से जहाणामए केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेइ, वत्थिमाडोवेत्ता उप्पिं सितं बंधइ, बंधित्ता मज्झे गंठिं बंधइ, बंधित्ता उवरिल्लं गंठिं मुयइ, मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेइ, वामेत्ता उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ, पूरेत्ता उप्पिं सितं बंधइ, बंधित्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयइ। से नूणं गोयमा! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरिमतले चिट्ठइ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं?

गौतम! जैसे कोई पुरुष किसी मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर ऊपर (मुंह के स्थान पर) गांठ देता है। फिर मशक के मध्य भाग में गांठ लगाता है, वहां गांठ लगाकर ऊपर की गांठ को खोलता है। उसे खोलकर ऊपर के भाग की हवा को बाहर निकाल देता है। उसे निकाल कर ऊपर के भाग को जल से भरता है। उसे जल से भरकर ऊपर गांठ देता है, वहां गांठ देकर फिर मध्य भाग की गांठ खोलता है। गौतम! क्या वह पानी उस वायु के ऊपर-ऊपर ठहरता है?

हंता चिट्ठइ।

से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—अट्ठविहा लोयट्ठिती जाव जीवा कम्मसंगहिया।

हां, ठहरता है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

से जहा वा केई पुरिसे वत्थिमाडोवेइ, वत्थि-माडोवेत्ता कडीए बंधइ, बंधित्ता अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि ओगाहेज्जा। से नूणं गोयमा! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठइ?

जैसे कोई पुरुष मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर उसे अपने कटि-प्रदेश में बांधता है, वहां बांधकर अथाह, अतर तथा अपौरुषेय जल में अवगाहन करता है। गौतम! क्या वह पुरुष जल के ऊपर-ऊपर ठहरता है?

हंता चिट्ठइ।

एवं वा अट्ठविहा लोयट्ठिती जाव जीवा कम्मसंगहिया।।

हां, ठहरता है।

इसी प्रकार लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

आकाश प्रतिष्ठित—आकाश स्व-प्रतिष्ठित है, इसलिए उसका किसी पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख नहीं है। उदधि-प्रतिष्ठित पृथ्वी है। पृथ्वी उदधि पर प्रतिष्ठित है, यह सापेक्ष वचन है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी आकाश पर प्रतिष्ठित है। पृथ्वी-प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर प्राणी हैं। यह भी सापेक्ष वचन है। त्रस-स्थावर प्राणी आकाश, पर्वत और विमान पर प्रतिष्ठित भी होते हैं।

जीव-प्रतिष्ठित अजीव—वृत्तिकार ने अजीव का अर्थ 'शरीर आदि पुद्गल' किया है। इसका तात्पर्य यह है कि अजीव-सृष्टि का जो नानात्व है, जितने दृश्य-परिवर्तन और परिणमन हैं, वे जीव के द्वारा कृत हैं। जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह या तो जीवच्छरीर है या जीव-मुक्त शरीर है। इस अपेक्षा से अजीव जीव पर प्रतिष्ठित है।

कर्म-प्रतिष्ठित जीव—जीव का जितना नानात्व है, उसके जितने परिवर्तन और विविध रूप हैं, वे सब कर्म के द्वारा निष्पन्न हैं। इस अपेक्षा से जीव को कर्म-प्रतिष्ठित कहा गया है। इस सन्दर्भ में जीव के विभक्ति-भाव का सूत्र द्रष्टव्य है।

जीव-संगृहीत अजीव—अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं, उनमें कथंचित् एकात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है; इसलिए उनमें परिवर्तन घटित होता है।

कर्म-संगृहीत जीव—कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है; इसलिए उनके द्वारा जीव में परिवर्तन घटित होता है। वृत्तिकार ने 'प्रतिष्ठित' की व्याख्या आधाराधेय भाव के साथ तथा 'संगृहीत' की व्याख्या संग्राह्य-संग्राहक भाव के साथ की है।

3.4.3 जीव-पोग्गल का सम्बन्ध

अत्थि णं भंते! जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति?

हंता अत्थि।।

भन्ते! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्यबद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?

हां बने हुए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति?

गोयमा! से जहाणामए हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे बोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठइ।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?

गौतम! जैसे कोई द्रह (नद) है। वह जल से पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाला, छलकता हुआ, हिलोरे लेता हुआ चारों ओर से जलजलाकार हो रहा है।

अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं सयछिद्दं ओगाहेज्जा। से नूणं गोयमा! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी-आपूरमाणी पुण्ण पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठइ?

हंता चिट्ठइ।

से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति।।

कोई व्यक्ति उस द्रह में एक बहुत बड़ी सैकड़ों आश्रवों और सैकड़ों छिद्रों वाली नौका को उतारे। गौतम! वह नौका उन आश्रव-द्वारों के द्वारा जल से भरती हुई-भरती हुई, पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाली, छलकती हुई, हिलोरें लेती हुई, चारों ओर से जलजलाकार हो जाती है?

हां, हो जाती है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं।

जीव और पुद्गल दोनों में अत्यन्ताभाव है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता, अचेतन कभी चेतन नहीं बनता। अस्तित्व की त्रैकालिक स्वतन्त्रता होने पर भी क्या इनमें कोई सम्बन्ध हो सकता है? प्रस्तुत सूत्र में इस विषय पर विमर्श किया गया है कि क्या जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ, स्नेह-प्रतिबद्ध और एक घटक के रूप में रहते हैं?

इन दोनों तत्त्वों में प्रगाढ संबंध है। संबंध और विसंबंध के आधार पर जीव दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। जो जीव पुद्गल के साथ घुले-मिले होते हैं, वे संसारी या बद्ध कहलाते हैं। पुद्गल से अस्पृष्ट जीव मुक्त या सिद्ध कहलाते हैं।

संसारी जीव पुद्गल से इतने घुले-मिले हैं कि पुद्गल को छोड़कर उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य सिद्धसेन ने जीव और पुद्गल के संबंध पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने बताया है—जीव और पुद्गल दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत हैं; इसीलिए उनमें 'यह जीव' और 'वह पुद्गल' है—ऐसा विभाग करना उचित नहीं है। यह जीव और पुद्गल का अभेदात्मक प्रतिपादन है। रूप आदि तथा बाल्य, यौवन आदि पर्याय शरीरगत होते हैं, पर वे जीव से अप्रभावित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। जीव में इन्द्रिय-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि के पर्याय होते हैं, उन्हें भी पुद्गल से अप्रभावित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से जीव और पुद्गल में प्रगाढ संबंध स्थापित होता है। उनका तात्त्विक स्वरूप भिन्न है, इसलिए उनमें स्वरूपगत भेद भी है। यह जीव और पुद्गल के भेदाभेद की अनेकान्त दुष्टि है।

जीव और पुद्गल का संबंध भौतिक होता है या अभौतिक? यह एक प्रश्न है। संसारी अवस्था में जीव सर्वथा अभौतिक नहीं होता; इसलिए जीव और पुद्गल के संबंध को भौतिक माना जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह संबंध केवल जीव या पुद्गल की ओर से ही नहीं होता, किन्तु दोनों ओर से होता है। इसकी जानकारी हमें **'स्नेह-प्रतिबद्ध'** से मिलती है। जीव में स्नेह है—आश्रव और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस उभयात्मक स्नेह के द्वारा परस्पर संबंध स्थापित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हो जाता है। नौका में छिद्र है तो पानी अपने आप उसमें भर जाएगा। प्रस्तुत सूत्र में इस संबंध को बन्ध, स्पर्श, अवगाह, स्नेह-प्रतिबद्ध और 'घटा' (एकीभूत अवस्था) इन पांच रूपों में प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव में होने वाले स्निग्ध परिणाम का प्रतिपादन किया है।

3.4.4 शरीर और मनस् का सम्बन्ध

जैन दर्शन के अनुसार चित्त चैतन्य स्वरूप और मनस् अचेतन होता है। फिर भी व्यावहारिक परिभाषा के अनुसार हम चित्त के स्थान पर मन का प्रयोग कर रहे हैं। मन चेतन है और शरीर अचेतन है, फिर इन दोनों में सम्बन्ध कैसे हो सकता है और ये एक-दूसरे को प्रभावित कैसे कर सकते हैं? इस विषय में जैन दर्शन का स्पष्ट अभिमत है कि संसारी जीव स्वरूपत: चेतन होते हुए भी पुद्गल या शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इन दोनों में नैसर्गिक सम्बन्ध चला आ रहा है। ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं; इसलिए इनमें अन्त:क्रिया होती है और इसलिए वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मन और शरीर के सम्बन्ध की समस्या बहुत दिनों से चली आ रही है। **देकार्ते** ने मन की धारणा को नए रूप में प्रस्तुत किया। उससे पहले दार्शनिकों ने मन और शरीर को एक ही तत्त्व के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया था। परन्तु **देकार्ते** ने मन को शरीर से भिन्न माना। पहले मन तथा शरीर सापेक्ष माने जाते थे, परन्तु देकार्ते ने निरपेक्ष रूप से दोनों की सत्ता स्वीकार की। देकार्ते के अनुसार शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है और मन में चेतन तत्त्व वर्तमान है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शरीर का मन पर और मन का शरीर पर कैसे प्रभाव पड़ता है? जब हम कोई कार्य अपनी इच्छा से करते हैं तो जान पड़ता है कि मन का शरीर पर प्रभाव है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव होता है।

3.4.5 जीव की देह परिमितता

जीवत्थिकाए णं भंते! के महालए पण्णत्ते?

गोयमा! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ।।

भन्ते! जीवास्तिकाय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है?

गौतम! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही स्पर्श कर अवस्थित है।

3.5 कर्म वेदना

जीवे णं भंते! सयंकडं दुक्खं वेदेइ?

गोयमा! अत्थेगइयं वेदेइ, अत्थेगइयं नो वेदेइ।।

भन्ते! क्या जीव स्वयंकृत दु:ख का वेदन करता है?

गौतम! जीव किसी दु:ख का वेदन करता है, किसी दु:ख का वेदन नहीं करता।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेइ? अत्थेगइयं नो वेदेइ?

गोयमा! उदिण्णं वेदेइ, नो अणुदिण्णं वेदेइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेइ, अत्थेगइयं नो वेदेइ।।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव किसी दु:ख का वेदन करता है, किसी दु:खका वेदन नहीं करता?

गौतम! जीव उदीर्ण (उदय-प्राप्त) दु:ख का वेदन करता है, अनुदीर्ण (अनुदय-प्राप्त) दु:ख का वेदन नहीं करता। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव किसी दु:ख का वेदन करता है, किसी दु:ख का वेदन नहीं करता।

एवं जाव वेमाणिए।।

(नैरयिक से लेकर) वैमानिक तक इसी प्रकार वक्तव्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवा णं भंते! सयंकडं दुक्खं वेदेंति?

गोयमा! अत्थेगइयं वेदेंति? अत्थेगइयं नो वेदेंति।।

भन्ते क्या जीव स्वयंकृत दु:ख का वेदन करते हैं?

गौतम! जव किसी दु:ख का वेदन करते हैं, किसी दु:ख का वेदन नहीं करते।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेंति? अत्थेगइयं नो वेदेंति?

गोयमा! उदिण्णं गोयमा! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं नो वेदेंति।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव किसी दु:ख का वेदन करते हैं, सिकी दु:ख का वेदन नहीं करते?

गौतम! जीव उदीर्ण दु:ख का वेदन करते हैं, अनुदीर्ण दु:ख का वेदन नहीं करते। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव किसी दु:ख का वेदन करते हैं, किसी दु:ख का वेदन नहीं करते।

एवं जाव वेमाणिया।।

(नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक इसी प्रकार वक्तव्य है।

जीवे णं भंते! सयंकडं आउयं वेदेइ?

गोयमा! अत्थेगइयं वेदेइ, अत्थेगाइयं नो वेदेइ। जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा—एगत्त-पोहत्तिया।।

भन्ते! क्या जीव स्वयंकृत आयुष्य का वेदन करता है?

गौतम! जीव किसी आयुष्य का वेदन करता है, किसी आयुष्य का वेदन नही करता। जैसे—दु:ख के दो दण्डक (वाक्य-रचना विकल्प) बतलाये गए हैं, वैसे ही आयुष्य के भी दो दण्डक वक्तव्य हैं—एकवचन वाला और बहुवचन वाला।

(भगवई 1/53-59)

3.5.1 कर्म वेदना की स्थिति

दार्शनिक क्षेत्र में कर्मवेदन के विषय में तीन धारणाएँ प्रचलित हैं—ईश्वरकर्तृत्ववाद, अज्ञेयवाद और कर्मवाद। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि प्राणी को सुख-दु:ख का फल ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है, यह ईश्वरकर्तृत्ववाद है। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सुख-दु:ख के फल-भोग का हेतु अज्ञात है, यह अज्ञेयवाद है। सुख-दु:ख का फल अपने किये हुए कर्मों के द्वारा प्राप्त होता है, यह कर्मवाद है। जैन दर्शन कर्मवादी दर्शन है। वह प्रत्येक वेदन को अपने किये हुए कर्म का फल मानता है। इसीलिए स्वयंकृत कर्म का प्रश्न उपस्थित किया गया है। इसी से जुड़ा प्रश्न वेदन का, कर्म के भोग का है। क्या कोई जीव एक जन्म में अपने किये हुए सारे कर्मों का वेदन कर लेता है? यदि कर लेता है तो पहले किसका करेगा और बाद में किसका? यह पौर्वापर्य का निर्धारण कौन करेगा? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि कर्म के वेदन की एक व्यवस्था है, वह स्वयंकृत है, उस व्यवस्था का नाम है काल-मर्यादा। कर्म-बन्ध के समय उसकी स्थिति और फल देने की क्षमता का निर्धारण हो जाता है। जैसे ही स्थिति का परिपाक होता है, वैसे ही कर्म विपाकाभिमुखी होकर उदय में आता है। जिसका उदय होता है, उसी का वेदन होता है। जिसका उदय नहीं होता, उसका वेदन नहीं होता। इसी कर्मवाद के रहस्य को अभिव्यक्ति देने के लिए भगवान् ने कहा—किसी कर्म का वेदन होता है, किसी का नहीं होता।

यहां दु:ख का अर्थ कर्म लिया गया है। सांसारिक सुख भी वस्तुत: दु:ख रूप ही होता है, दु:ख का हेतु कर्म होता है। इसलिए वहां दु:ख का अर्थ कर्म है। किन्तु यहां दु:ख और वेदन दो पदों का योग है; इसलिए वहां दु:ख का अर्थ वेदनीय कर्म तक सीमित रखना संगत लगता है।

यहां दूसरा प्रश्न आयुष्य से संबंधित है। आयुष्य का बन्ध पूर्वजन्म में हो जाता है, किन्तु उसका वेदन नए जन्म के साथ ही प्रारम्भ होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सुख-दु:ख और आयु के वेदन में नया जन्म नियामक की भूमिका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निभाता है। पातंजल योगदर्शन के **'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** सूत्र के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। वृत्तिकार ने आयुष्य के विषय में वृद्धोक्तभावना का उल्लेख किया है। उसके अनुसार कोई जीव सातवीं नारकी (नरक भूमि) के योग्य आयु कर्म का बन्ध कर लेता है और कालान्तर में परिणामधारा के परिवर्तन के साथ तीसरे नरक के योग्य कर्म का निर्वर्तन कर लेता है। इस प्रकार की घटना के आधार पर कहा जाता है कि कोई जीव अनुदीर्ण, पूर्वबद्ध आयु का वेदन नहीं करता। जिस स्थान का आयु-बन्ध करता है, वहीं पैदा होता है, तब वह उदीर्ण आयु का वेदन करता है।

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि प्रस्तुत आलापक में एकवचन और बहुवचन का प्रयोग क्यों? इसके उत्तर में उन्होंने लिखा है कि कुछ स्थलों में एकवचन और बहुवचन का विषय बदल जाता है। उदाहरणस्वरूप—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति एक जीव की अपेक्षा साधिक 66 सागर की है और नाना जीवों की अपेक्षा उसकी स्थिति सर्वकालिक है। किन्तु यहां ऐसा भेद नहीं है। दु:ख और आयुष्य के वेदन का नियम जो एक जीव के लिए है, वही सब जीवों के लिए है। सांख्यिकी (statistics) के अनुसार समष्टि और व्यष्टि में सर्वथा समान नियम लागू हो, यह आवश्यक नहीं है। पर यहां समानता का नियम लागू हो रहा है, यह उसका उदाहरण है।

3.5.2 कर्मों की उदीरणा

जीव कर्मों की अपने आप ही उदीरणा करता है—

से नूणं भंते! अप्पणा चेव उदीरेति? अप्पणा चेव गरहति? अप्पणा चेव संवरेति?

हंता गोयमा! अप्पणा चेव उदीरेति। अप्पणा चेव गरहति। अप्पणा चेव संवरेति।।

भन्ते! क्या जीव अपने आप ही उदीरणा करता है? अपने आप ही गर्हा करता है? अपने आप ही संवरण करता है?

हां, गौतम! जीव अपने आप ही उदीरणा करता है, अपने आप ही गर्हा करता है और अपने आप ही संवरण करता है।

जं णं भंते! अप्पणा चेव गरहति, अप्पणा चेव संवरेति, तं किं—1. उदिण्णं उदीरेति? 2. अणुदिण्णं उदीरेति? 3. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति? 4. उदयाणंतर-पच्छाकडं कम्मं उदीरेति?

गोयमा! 1. नो उदिण्णं उदीरेति। 2. नो अणुदिण्णं उदीरेति। 3. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति। 4. नो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेति।।

भन्ते! जीव अपने आप ही जो उदीरणा करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, अपने आप ही जो संवरण करता है, वह क्या—1. उदीर्ण (उदय-प्राप्त) की उदीरणा करता है? 2. अनुदीर्ण की उदीरणा करता है? 2. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की उदीरणा करता है? 4. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म की उदीरणा करता है?

गौतम! जीव 1. उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता। 2. अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता। 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की उदीरणा करता है। 4. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता।

जं णं भंते! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति, तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति?

गोयमा! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति। णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेति।।

भन्ते! जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की जो उदीरणा करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम से करता है अथवा अनुत्थान, अकर्मद्व अबल, अवीर्य, अपुरुषकारपराक्रम से करता है?

गौतम! जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की जो उदीरणा करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुशकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से नही करता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा।।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

से नूणं भंते! अप्पणा चेव उवसामेइ? अप्पणा चेव गरहइ? अप्पणा चेव संवरेइ?

हंता गोयमा! अप्पणा चेव उवसामेइ। अप्पणा चेव गरहइ। अप्पणा चेव संवरेइ।।

भन्ते! क्या जीव अपने आप ही उपशमन करता है? अपने आप ही गर्हा करता है? अपने आप ही संवरण करता है?

हां, गौतम! जीव अपने आप ही उपशमन करता है, अपने आप ही गर्हा करता है, अपने आप ही संवरण करता है।

जं णं भंते! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहति, अप्पणा चेव संवरेति, तं किं—1. उदिण्णं उवसामेइ? 2. अणुदिण्णं उवसामेइ? 3. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उवसामेइ? 4. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उवसामेइ?

गोयमा! 1. नो उदिण्णं उवसामेइ। 2. अणुदिण्णं उवसामेइ। 3. नो अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उवसामेइ। 4. नो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उवसामेइ।।

भन्ते! जीव अपने आप ही जो उपशमन करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, अपने आप ही जो संवरण करता है, वह क्या—1. उदीर्ण का उपशमन करता है? 2. अनुदीर्ण का उपशमन करता है? 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का उपशमन करता है? 4. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म का उपशमन करता है।

गौतम! जीव 1. उदीर्ण का उपशमन नहीं करता। 2. अनुदीर्ण का उपशमन करता है। 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का उपशमन नहीं करता। 4. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म का उपशमन नहीं करता।

जं णं भंते! अणुदिण्णं उवसामेइ, तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं अणुदिण्णं उवसामेइ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उवसामेइ?

गोयमा! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि अणुदिण्णं उवसामेइ। णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदसामेइ।।

भन्ते! जीव अनुदीर्ण कर्म का जो उपशमन करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है? अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार-पराक्रम से करता है?

गौतम! जीव अनुदीर्ण कर्म का उपशमन उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार-पराक्रम से नहीं करता।

एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा।।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

से नूणं भंते! अप्पणा चेव वेदेति? अप्पणा चेव गरहति?

हंता गोयमा! अप्पणा चेव वेदेति। अप्पणा चेव गरहति।।

भन्ते! क्या जीव अपने आप ही वेदन करता है? अपने आप ही गर्हा करता है?

हां, गौतम! जीव अपने आप ही वेदन करता है और अपने आप ही गर्हा करता है।

जं णं भंते! अप्पणा चेव वेदेति, अप्पणा चेव गरहति, तं किं—1. उदिण्णं वेदेति? 2. अणुदिण्णं वेदेति? 3. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं वेदेति? 4. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं वेदेति?

गोयमा! 1. उदिण्णं वेदेति। 2. नो अणुदिण्णं वेदेति। 3. नो अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं वेदेति। 4. नो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं वेदेति।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भन्ते! जीव अपने आप ही जो वेदन करता है और अपने आप ही जो गर्हा करता है, वह क्या—1. उदीर्ण का वेदन करता है? 2. अनुदीर्ण का वेदन करता है? 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का वेदन करता है? 4. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म का वेदन करता है?

गौतम! जीव 1. उदीर्ण का वेदन करता है। 2. अनुदीर्ण का वेदन नहीं करता। 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का वेदन नहीं करता। 4. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म का वेदन नहीं करता।

जं णं भंते! उदण्णिं वेदेति तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं उदिण्णं वेदेति? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदिण्णं वेदेति?

गोयमा! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि, बलेण वि वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि उदिण्णं वेदेति। नो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपक्कमेणं उदिण्णं वेदेति।।

भन्ते! जीव उदीर्ण कम का जो वेदन करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है? अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से करता है?

गौतम! जीव उदीर्ण कर्म का जो वेदन करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार पराक्रम से नहीं करता।

एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा।।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

से नूणं भंते! अप्पणा चेव निज्जरेति? अप्पणा चेव गरहति?

हंता गोयमा! अप्पणा चेव निज्जरेति। अप्पणा चेव गरहति।।

भन्ते! क्या जीव अपने आप ही निर्जरा करता है? अपने आप ही गर्हा करता है?

हां, गौतम! जीव अपने आप ही निर्जरा करता है, अपने आप ही गर्हा करता है।

जं णं भंते! अप्पणा चेव निज्जरेति, अप्पणा चेव गरहति, तं किं—1. उदिण्णं निज्जरेति? 2. अणुदिण्णं निज्जरेति? 3. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं निज्जरेति? 4. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति?

गोयमा! 1. नो उदिण्णं निज्जरेति। 2. नो अणुदिण्णं निज्जरेति। 3. नो अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं निज्जरेति। 4. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति।।

भन्ते! जीव अपने आप ही जो निर्जरा करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, वह क्या 1. उदीर्ण की निर्जरा करता है? 2. अनुदीर्ण की निर्जरा करता है? 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की निर्जरा करता है? 4. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म की निर्जरा करता है?

गौतम! 1. जीव उदीर्ण की निर्जरा नहीं करता। 2. अनुदीर्ण की निर्जरा नहीं करता। 3. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की निर्जरा नहीं करता। 4. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा करता है।

जं णं भंते! उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति, तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अवलेणं, अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति?

गोयमा! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति। णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेति।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भन्ते! जीव उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की जो निर्जरा करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार पराक्रम से करता है?

गौतम् जीव उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की जो निर्जरा करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार पराक्रम से नहीं करता।

एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा।।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(भगवती 1/147-162)

3.6 आत्मकर्तृत्ववाद एवं पुरुषार्थवाद का विवेचन

इन सभी सूत्रों में आत्मकर्तृत्व या पुरुषार्थवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उदीरणा, गर्हा, संवर, उपशामना, वेदना और निर्जरा—ये सब जीव के द्वारा अपने उत्थान आदि से कृत होते हैं।

3.6.1 उदीरणा

उदीरणा कर्म के आठ करणों में पांचवा करण है। इसका अर्थ है अपक्व कर्म को समय से पूर्व पकाना। कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—1. उदय, 2. उदीरणा-उदय। काल-परिपाक होने पर कर्म का जो सहज उदय होता है, वह उदय है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का जो अकाल-प्राप्त उदय होता है, वह उदीरणा-उदय है। **पंचसंग्रह** में सहज उदय को 'संप्राप्ति उदय' और उदीरणा-उदय को 'असंप्राप्ति उदय' कहा गया है। **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में अयथाकालविपाक को उदीरणा-उदय बताया गया है।

3.6.2 उदीर्ण

फल देने में परिणत कर्म-पुद्गल का स्कन्ध उदीर्ण कहलाता है। उदीर्ण की उदीरणा नहीं होती, यह स्पष्ट है। यदि उदीर्ण की उदीरणा की जाए, तो उदीरणा का कहीं अंत ही नहीं होगा।

3.6.3 अनुदीर्ण

कर्म-पुद्गल का जो स्कन्ध अभी फल देने में परिणत नहीं है, वह अनुदीर्ण कहलाता है।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—1. चिर भविष्य में जिसकी उदीरणा होने वाली है। 2. भविष्य में जिसकी उदीरणा नहीं होने वाली है।

चिर भविष्य में की जाने वाली उदीरणा वर्तमान काल में नहीं हो सकती। जो कर्म उदीरणा के योग्य नहीं होता, उसकी उदीरणा भविष्य में भी नहीं हो सकती। उदीरणा के अयोग्य तीन अवस्थाएँ होती हैं—उपशम, निधत्ति और निकाचना।

3.6.4 अनुदीर्ण उदीरणाभव्य कर्म

प्रस्तुत प्रकरण में 'उदीरणा-भव्य' (उदीरणायोग्य) कर्म का प्रसंग है। प्रत्येक कर्म की उदीरणा नहीं होती, किन्तु उसी कर्म की उदीरणा होती है, जो उदीरणा-योग्य बन जाता है। योग्यता की कसौटी उसके भेद द्वारा निर्धारित है। उसके चार भेद होते हैं—1. प्रकृति-उदीरणा, 2. स्थिति-उदीरणा, 3. अनुभाग-उदीरणा, 4. प्रदेश-उदीरणा।

3.6.5 प्रकृति-उदीरणा की योग्यता

पण्णवणा के अनुसार कर्म की 148 प्रकृतियां हैं। कर्म-ग्रन्थ में 158 कर्म प्रकृतियों का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर साहित्य में भी 148 प्रकृतियां विवक्षित हैं। पंचसंग्रह के अनुसार 110 प्रकृतियां उदीरणा के योग्य होती हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 122 प्रकृतियां उदीरणा के योग्य होती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.6.6 स्थिति-उदीरणा की योग्यता

स्थिति-उदीरणा के दो भेद निर्दिष्ट हैं—उदीरणा-प्रायोग्य और उदीरणा-अप्रायोग्य। बन्धावलिका, संक्रमावलिका और उदयावलिका—ये तीनों स्थितियां उदीरणा के अप्रायोग्य होती हैं। शेष सारी प्रायोग्य होती हैं। पाठक को अनुभाग और प्रदेश-उदीरणा के जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेदों की जानकारी के लिए पंचसंग्रह द्रष्टव्य है।

3.6.7 उदयानन्तर-पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म

उदय के अनन्तर समय में कर्म का वेदन होता है। वेदन के पश्चात् वह अकर्म बन जाता है। इसलिए उसे उदय के अनन्तर पश्चात्कृत—अतीत अवस्था को प्राप्त कर्म कहा गया है।

उक्त चार विकल्पों में उदीरणा के लिए तीसरा विकल्प सम्मत है। उपशमन में दूसरा विकल्प सम्मत है। उपशम-अवस्था में उदीर्ण कर्म का क्षय और अनुदीर्ण कर्म के विपाकोदय और प्रदेशोदय का सर्वथा स्थगन हो जाता है। इसलिए उपशमन अनुदीर्ण कर्म का ही होता है। वेदना में प्रथम विकल्प सम्मत है। निर्जरा में चतुर्थ विकल्प सम्मत है। गौतम ने पूछा—भंते! जो वेदना है, वह निर्जरा है? जो निर्जरा है, वह वेदना है? भगवान् ने कहा—गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है। वेदना कर्म की होती है, निर्जरा नोकर्म की होती है। इसका तात्पर्य है कि जब तक कर्म कर्म रहता है, तब तक वह आत्म-प्रदेशों से पृथक् नहीं होता। वह नोकर्म बनकर ही उनसे पृथक् होता है।

'उदीरणा' और **'उपशमन'** के साथ **'गर्हा'** और **'संवर'** इन दो पदों का प्रयोग किया गया है। गर्हा अतीत-कालीन कर्म की होती है। संवर वर्तमानकालीन कर्म का होता है। **जयाचार्य** के अनुसार उदीरणा और उपशमन के साथ इनकी अनिवार्यता नहीं हैं। ये बहुलतया होते हैं, इसलिए इनका निर्देश किया गया है। वेदन और निर्जरा के साथ केवल गर्हा का प्रयोग किया गया है। वहां संवर संभव नहीं है।

3.7 कांक्षा मोहनीय कर्म

जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे?

हंता कडे।।

भन्ते! क्या जीवों के कांक्षामोहनीय कर्म कृत होता है।

हां, कृत होता है।

से भंते! किं 1. देसेणं देसे कडे? 2. देसेणं सव्वे कडे? 3. सव्वेणं देसे कडे? 4. सव्वेणं सव्वे कडे? गोयमा! 1. नो देसेणं देसे कडे 2. नो देसेणं कडे 3. नो सव्वेणं देसे कडे 4. सव्वेणं सव्वे कडे।।

भन्ते! क्या 1. देश के द्वारा देश कृत होता है? 2. देश के द्वारा सर्व कृत होता है? 3. सर्व के द्वारा देश कृत होता है? 4. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है?

गौतम! 1. देश के द्वारा देश कृत नहीं होता। 2. देश के द्वारा सर्व कृत नहीं होता। 3. सर्व के द्वारा देश कृत नहीं होता। 4. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है।

(1/118-119)

3.7.1 जीव कर्मों को ग्रहण करता है

प्रस्तुत आलापक में एक कर्मशास्त्रीय समस्या का समाधान किया गया है। जीव उन्हीं कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है, जो उसके प्रदेशों (आत्म-प्रदेशों) में अवगाढ होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिन आकाश-प्रदेशों पर आत्मा के प्रदेश व्याप्त होते हैं, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर रहे हुए कर्म-पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु उन आकाश-प्रदेशों के अनन्तर और परम्पर प्रदेशों में अवगाढ कर्म-पुद्गलों का वह ग्रहण नहीं करता। कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार है—कभी जीव एक-दो से लेकर अनेक आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और कभी सभी आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ कर्म-पुद्गलों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को ग्रहण करता है। ये दोनों प्रकार के पुद्गल जीव के सभी प्रदेशों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। कर्म-प्रकृति में इसी **सव्वेणं** (सर्वात्मना) के नियम का निरूपण मिलता है। प्रस्तुत आगम तथा **पण्णवणा** में आहार के विषय में यही नियम मिलता है। वृत्तिकार ने भी इस नियम को जीव का स्वभाव मानकर उसकी व्याख्या की है।

इस नियम का दूसरा खण्ड है—सव्वं। इसका तात्पर्य है कि एक काल में जितने कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना है, उनका एक साथ ग्रहण किया जाएगा, उनका आंशिक ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार सव्वेणं सव्वे का नियम ग्राहक और ग्रहणीय द्रव्य दोनों से संबंधित है। प्रस्तुत सूत्र के चार विकल्पों में यह चौथा विकल्प सम्मत है, शेष तीनों विकल्प कर्म-बन्ध के सम्बन्ध में मान्य नहीं हैं।

3.7.2 कांक्षामोहनीय का अर्थ

कांक्षा का अर्थ है—अभिलाषा। विभिन्न दृष्टिकोणों या मतवादों के सामने आने पर कांक्षामोह की स्थिति बनती है। 'यह सही है' या 'वह सही है' इस प्रकार का विकल्प 'शंका' है। इसके पश्चात् 'इसे स्वीकार करूं' या 'उसे स्वीकार करूं' इस प्रकार की अभिलाषात्मक मनोदशा 'कांक्षा' है।

कांक्षा के साथ 'मोहनीय' शब्दका योग है। कांक्षा के द्वारा चेतना में एक प्रकार का मोह पैदा हो जाता है, इसलिए इसे मोहनीय कर्म कहा गया है।

वृत्तिकार ने कांक्षामोहनीय का अर्थ मिथ्यात्व मोहनीय किया है। किन्तु इसी शतक के 170वें सूत्र के सन्दर्भ में विमर्श करने पर प्रतीत होता है कि कांक्षामोहनीय का सम्बन्ध ज्ञानावरणीय कर्म से है, मोहनीय कर्म के अवान्तर भेद दर्शन-मोहनीय से नहीं है। विशेष जानकारी हेतु द्रष्टव्य भगवतीसूत्र 1/169-172 का भाष्य।

3.7.3 कृत, चित्त, उपचित

इसका अर्थ है कर्म रूप में बद्ध। चित और उपचित का सामान्य अर्थ है—संचित होना और पुष्ट होना। कर्मशास्त्र के प्रसंग में इनकी विशेष व्याख्या है—कर्म-पुद्गलों का जीव-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होते रहना, यह चय-अवस्था है। अभयदेवसूरि के अनुसार प्रदेश और अनुभाग आदि की वृद्धि का नाम चय है। उन्होंने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार कर्म-पुद्गलों के ग्रहण-मात्र का नाम चय है। आचार्य मलयगिरि ने चित्त का अर्थ 'उत्तरोत्तर स्थितियों में प्रदेश-हानि और रस-वृद्धि के द्वारा अवस्थापित करना' किया है।

भगवती, प्रथम शतक के नौवें उद्देशक की वृत्ति में **अभयदेवसूरि** ने चिणाइ का सम्बन्ध अनुभाग-बन्ध अथवा **'निधत्तावस्था'** से बतलाया है। **पण्णवणा** में भी बनध की छह अवस्थाएँ प्रतिपादित हैं—1. बद्ध, 2. स्पृष्ट, 3. बद्धस्पर्शस्पृष्ट, 4. संचित, 5. चित, 6. उपचित। इसी प्रकार उपचित पद के भी भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं—**अभयदेवसूरि** के अनुसार 'प्रदेश और अनुभाग आदि की बार-बार वृद्धि करना' उपचय है। मतान्तर के अनुसार चित्त के अबाधाकाल को छोड़कर वेदन के योग्य निषेक की रचना करना उपचय है।

प्रथम शतक के नौवें उद्देशक की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने उवचिणाइ का सम्बन्ध प्रदेश- बन्ध अथवा 'निकाचना' में बतलाया है।

आचार्य मलयगिरि ने उपचित का अर्थ 'संक्रमण के द्वारा उपचय करना' किया है।

'चित्त' और 'उपचित' इन दोनों पदों की व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि सब व्याख्याकार इस विषय में एकमत नहीं हैं। 'चित्त' का 'अनुभाग-वृद्धि' अर्थ संगत लगता है। इस विषय में **आचार्य मलयगिरि** और **अभयदेवसूरि** दोनों सहमत हैं। 'उपचित' का अर्थ 'कर्म-पुद्गलों की निशेक-रचना' संगत प्रतीत होता है। अभयदेवसूरि ने मतान्तर के सन्दर्भ में जो गाथा उद्धृत की है, वह कर्म-प्रकृति की है—

मोत्तूण सगमवाहे, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं।
एत्तो विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वेसिं।।

(कर्मप्रकृति, 83)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निषेक-रचना का अर्थ 'बध्यमान कर्म-प्रकृतियों के अपने-अपने अबाधाकाल को छोड़कर कर्म-दलिकों और उनके स्थिति-काल में सामंजस्य स्थापित करना है' है। इससे फलित होता है कि 'उपचय' का सम्बन्ध 'स्थिति-बन्ध' के साथ है।

यह आश्चर्य है कि प्रस्तुत आगम में उवचिणाइ धातु का प्रयोग सात-वेदनीय और असात-वेदनीय के साथ मिलता है।

जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

हंता वेदेंति।।

भन्ते! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

हां, करते हैं।

कहण्णं भंते! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

गोयमा! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितगिंछिया, भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना—एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।।

भन्ते! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते हैं?

गौतम! उन-उन कारणों से जीव शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेद-समापन्न, कलुष-समापन्न हो जाते हैं। इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

3.7.4 कांक्षामोहनीय कर्म वेदन के हेतु

कांक्षामोहनीय कर्म-वेदन के पांच हेतु बतलाये गए हैं—

1. शंका—तत्त्व के विषय में सन्देह।
2. कांक्षा—कुतत्त्व की आकांक्षा।
3. विचिकित्सा—धार्मिक आराधना के फल के विषय में सन्देह।
4. भेद—तत्त्व या सत्य के प्रति मति का द्वैध—अनिर्णायक स्थिति का होना।
5. कलुष—तत्त्व के प्रति निर्मल बुद्धि का अभाव।

प्रस्तुत आगम के दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक में 'शंकिता' आदि पांच पदों के अर्थ वृत्तिकार ने भिन्न प्रकार से किए हैं। वहां सन्दर्भ भिन्न है, इसलिए अर्थ-परिवर्तन होना स्वाभाविक है। वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रकरण में भेद का अर्थ मति का द्वैधाभाव और कलुष का अर्थ -यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का मति-विपर्याप्त किया है।

यहां प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जीव कांक्षामोहनीय का वेदना करता है—इसका प्रतिपादन पूर्व सूत्र में हो चुका, पुनः इसका प्रतिपादन क्यों? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि पूर्वप्रतिपादित तथ्य का पुनः प्रतिपादन किया जाता है, उसके तीन कारण हैं—प्रतिषेध, अनुज्ञा और हेतु-विशेष की उपलब्धि। इस 'वेदन-सूत्र' में वेदन के हेतुओं का विशेष उल्लेख किया गया है; इसलिए यह सार्थक है।

3.7.5 कांक्षामोहनीय : बन्ध एवं कारण

जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

हंता बंधंति।।

भन्ते! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करते हैं?

हां, करते हैं।

कहण्णं भंते! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

गोयमा! पमादपच्चया, जोगनिमित्तं च।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भन्ते! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध किस हेतु से करते हैं?

गौतम! उसका प्रत्यय-हेतु (परिणामी कारण) प्रमाद और निमित्त-हेतु योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) है।

से णं भंते! पमादे किंपवहे?

गोयमा! जोगप्पवहे।।

भन्ते! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

गौतम! प्रमाद योग से उत्पन्न होता है।

से णं भंते! जोए किंपवहे?

गोयमा! वीरियप्पवहे।।

भन्ते! योग किससे उत्पन्न होता है?

गौतम! योग वीर्य से उत्पन्न होता है।

से णं भंते! वीरिए किंपवहे?

गोयमा! वरीरप्पवहे।।

भन्ते! वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

गौतम! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

से णं भंते! सरीरे किंपवहे?

गोयमा! जीवप्पवहे।।

भन्ते! शरीर किससे उत्पन्न होता है?

गौतम! शरीर जीव से उत्पन्न होता है।

एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा।।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरस्कार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

उपर्युक्त सूत्रों में जीव की स्वतन्त्रता और उसके कर्तृत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जीव अपने पराक्रम से कर्म का बन्ध करता है। कर्म-बन्ध नियति से जुड़ा हुआ नहीं है। नियतिवादी अवधारणा का अस्वीकार ही उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का स्वीकार है। नियतिवाद के अनुसार जीव के कर्म-बन्ध उत्थान आदि से नहीं होता। भगवान् महावीर पुरुषार्थवाद के प्रतिपादक हैं। मूल आगम पर वृत्ति लिखते हुए वृत्तिकार ने नियतिवाद की चर्चा गोशालक के नामोल्लेखपूर्वक की है।

कर्मवाद जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। उसके अन्तर्गत कर्म के बन्ध, उदय, क्षय, क्षयोपशम आदि विषयों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत आलापक में कांक्षामोहनीय के बन्ध के हेतुओं का निर्देश है। बन्ध के दो हेतु बतलाये गए हैं—प्रमाद और योग। **पण्णवणा** में कर्म-बन्ध के संक्षेप में राग और द्वेष ये दो कारण बतलाये गए हैं। राग के दो प्रकार हैं—माया और लोभ तथा द्वेष के दो प्रकार हैं—क्रोध और मान। विस्तार में कर्म-बन्ध के ये चार कारण बन जाते हैं। ठाणं में भी इन चार हेतुओं का उल्लेख मिलता है। वहां पांच आस्रवों का भी उल्लेख मिलता है। उत्तरवर्ती साहित्य में भी कर्म-बन्ध के पांच कारण बतलाये गए हैं। सबसे पहले कर्म-बन्ध के पांच हेतुओं का प्रयोग उमास्वाति ने किया है—**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**। (तत्त्वार्थसूत्र 7/1) उत्तरवर्ती ग्रन्थकार उसका अनुगमन करते रहे हैं। किन्तु **कर्म-शास्त्र** में कर्म-बंध के चार कारण बतलाये गए हैं, जिनमें प्रमाद का उल्लेख नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7.6 कर्मबन्ध विमर्श

कालक्रम की दृष्टि से विमर्श करने पर कर्म-बन्ध के हेतुओं का प्रस्तुत आलापकवर्ती वर्गीकरण प्राचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत आगम के आठवें शतक में भी प्रमाद और योग का बन्धहेतु के रूप में उल्लेख मिलता है। क्रिया के हेतु के रूप में भी इन दोनों का उल्लेख मिलता है।

वृत्तिकार ने प्रमाद का एक अर्थ मद्य आदि किया है। प्रमाद का यह वर्गीकरण ठाणं में उपलब्ध है। वहां प्रमाद के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं—मद्य, निद्रा, विषय, कषाय, धूत और प्रतिलेखन। उन्होंने वैकल्पिक रूप में प्रमाद के अन्तर्गत मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का निर्देश किया है और दो गाथाएँ उद्धृत कर उसकी पुष्टि की है। उन गाथाओं में प्रमाद के आठ प्रकार बतलाये गए हैं— 1. अज्ञान, 2. संशय, 3. मिथ्याज्ञान, 4. राग, 5. द्वेष, 6. मतिभ्रंश, 7. धर्म में अनादर, 8. योग (मन, वचन और काया) का दुष्प्रणिधान। **ठाणं** में प्रमाद को दु:ख या कर्म-बन्ध का हेतु कहा गया है। **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में प्रमाद के पन्द्रह प्रकार मिलते हैं—विकथाचतुष्क—1. स्त्रीकथा, 2. भक्तकथा, 3. देशकथा, 4. राजकथा। कषायचतुष्क—5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9-13. पांच इन्द्रियों की राग-द्वेषात्मक परिणति। 14. निद्रा, 15. प्रणय (विषय)।

प्रमाद के उक्त वर्गीकरणों से उसकी कोई निश्चित परिभाषा फलित नहीं होती। जितनी सावद्य प्रवृत्तियां हैं, उन्हें यदि प्रमाद माना जाए, तो योग का कोई उससे भिन्न अर्थ नहीं होगा। उस अवस्था में अशुभ योग और प्रमाद एकार्थक बन जाएँगे। दो हेतुओं का उल्लेख है; इसलिए दोनों की सीमा स्वतन्त्र होनी चाहिए। इस सीमा की दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में मुख्यत: दो कर्म हेतुभूत बनते हैं—मोहकर्म और नामकर्म। प्रमाद मोह कर्म की सूचना देने वाला पद है और योग नाम कर्म का सूचक पद है।

जयाचार्य ने धर्मसी मुनि का मत उद्धृत किया है। **धर्मसी मुनि** ने 'योग' का अर्थ अशुभ योग किया है। किन्तु प्रमाद और योग के सम्बन्ध पर विचार करने पर यह अर्थ विमर्शनीय लगता है। यदि योग को अशुभ मान लिया जाए, तो फिर प्रमाद का अर्थ क्या होगा? यहां प्रमाद स्वयं सावद्य योगरूप है, फिर प्रमाद और योग में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती, इसलिए प्रमाद का कांक्षामोहनीय का वेदन कैसे संभव हो सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। सूत्रकार ने स्वयं इस प्रश्न को उपस्थित किया है। इसके समाधान में उन्होंने लिखा है—पृथ्वीकाय के जीवों में बौद्धिक, मानसिक और वाचिक विकास नहीं होता। वे नहीं जानते कि हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कर रहे हैं, फिर भी उसका वेदन करते हैं। इस समाधान से यह फलित होता है कि वेदन के दो प्रकार हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अविकसित जीवों में कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन अव्यक्त होता है। वह इन्द्रिय-गम्य नहीं है। इसलिए इस सन्दर्भ में **तमेव सच्चं णीसंकं** यह साक्ष्य उद्धृत किया गया है।

3.7.6.1 तर्क

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'विमर्श' किया है। **स्थानांग वृत्ति** में अभयदेवसूरि ने विस्तार से इसका अर्थ किया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रम में चार मुख्य तत्त्व हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इस क्रम में ईहा के पश्चात् और अवाय के पूर्व एक प्रकार का विशेष विमर्श होता है, जैसे—'जो दिखाई दे रहा है, वह सिर खुजला रहा है। इसलिए वह खम्भा नहीं है, वह पुरुष की चेष्टा है।' इस प्रकार का विमर्श तर्क कहलाता है।

3.7.6.2 संज्ञा

इसके अनेक अर्थ होते हैं—ज्ञान, प्रत्यभिज्ञा, विवेक, संवेदन आदि-आदि। यहां 'संज्ञा' का अर्थ प्रत्यभिज्ञा किया जा सकता है। नन्दी में आभिनिबोधिक ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाये गए हैं। उनमें एक प्रकार संज्ञा है। **मलयगिरि** ने संज्ञा का अर्थ व्यंजनावग्रह के उत्तरकाल में होने वाला एक प्रकार का मतिज्ञान किया हैं **अभयदेवसूरि** ने इसका यही अर्थ किया है। **उमास्वाति** ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध—इनको एकार्थक माना है। **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार** में परोक्ष के पांच प्रकार बतलाये गए हैं। उनमें स्मृति के बाद प्रत्यभिज्ञा का उल्लेख है। **सिद्धसेन गणी** ने संज्ञा का अर्थ प्रत्यभिज्ञा (यह वही है, जिसे मैंने पूर्वाह्न में देखा था) किया है। इस आधार पर संज्ञा की प्रत्यभिज्ञा से तुलना की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7.6.3 प्रज्ञा

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान' किया है। यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इसे प्रातिभ ज्ञान अथवा औत्पत्तिकी बुद्धि भी कहा जा सकता है।

3.7.7 श्रमण-निर्ग्रनथ के भी कांक्षामोहनीय का वेदन

अत्थि णं भंते! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति?

हंता अत्थि।।

भन्ते! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

हां, करते हैं।

कहण्णं भंते! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

गोयमा! तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं, दंसणंतरेहिं, चरित्तंतरेहिं, लिंगंतरेहिं, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मतंतरेहिं, भंगंतरेहिं, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं संकिता कंखिता वितिकिच्छिता भेदसमावन्ना कलुससमावन्ना—एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।।

गौतम! उन-उन ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिंगांतर, प्रवचनान्तर, प्रवचनी-अन्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर से वे शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेद-समापन्न और कलुष-समापन्न हो जाते हैं। इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

गौतम! उन-उन ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिंगांतर, प्रवचनान्तर, प्रवचनी-अन्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर से वे शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेद-समापन्न और कलुष-समापन्न हो जाते हैं। इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

से नूणं भंते! तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेदितं?

हंता गोयमा! तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेदितं।।

भन्ते! क्या वही सत्य और नि:शंक है, जो जिनों द्वारा प्रवेदित है?

हां, गौतम! वही सत्य और नि:शंक है, जो जिनों द्वारा प्रवेदित है।

एवं जाव अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा।।

इस प्रकार यावत् उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुष्पकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है।

'श्रमण' शब्द जैन, आजीवक और बौद्ध आदि सभी श्रमणों का वाचक है। श्रमण के साथ निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग जैन श्रमणों का वाचक हो जाता है। श्रमण-निर्ग्रन्थ अर्थात् महावीर के मुनि।

जैन मुनि भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। वेदन के पांच कारण बतलाये गए हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेद और कलुष। एक ही विषय में अनेक निरूपण, वितर्क और विकल्प सामने आते हैं, तब कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन शुरू हो जाता है। जयाचार्य ने कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का अर्थ मिथ्यात्व-मोहनीय का वेदन किया है। उनका तर्क है—जिस समय कांक्षा-मोहनीय कर्म का वेदन होता है, तब मिथ्यात्व आ जाता है यह अर्थ वृत्तिकार द्वारा सम्मत मिथ्यात्व-मोहनीय के आधार पर किया गया है। जयाचार्य ने 14वें शतक की जोड़ में मिथ्यात्व का अर्थ दस बोलों (संज्ञा) में से किसी एक बोल में विपरीत श्रद्धा करना किया है।

उपर्युक्त तेरह 'अंतरों' में तत्त्व-श्रद्धा का प्रश्न नहीं है। यह विभिन्न विचारों के प्रति होने वाली आकांक्षा है। आचार्य भिक्षु के अनुसार तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में विपरीत श्रद्धा करने से मिथ्यात्व आ जाता है, किंतु अन्य विषयों में विपरीत श्रद्धा करने से असत्य का दोष लगता है, पर सम्यक्त्व का नाश नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''साची सरघा भाषी जगनाथ, ते ऊंचो सरध्यां आवै मिथ्यात।
और उंघो सरघणी आवे, तो झूठ लागे पिव सरघा न जावे।।''

आचार्य भिक्षु ने 'ज्ञान-मोह' शब्द की मीमांसा में लिखा है—ज्ञानमोह से ज्ञान में व्यामोह उत्पन्न होता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, वह निश्चित ही मोहनीय कर्म का उदय नहीं है—

''नाण मोह चाल्यो सूतर मझै, ते ज्ञान में उपजै व्यामोह।
ते ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ते मोह निश्चै नहीं होय।।''

इस आधार पर कांक्षामोहनीय का सम्बन्ध भी ज्ञानमोह की भांति ज्ञानावरण से माना जा सकता है। कषायपाहुड में बतलाया गया है कि गणधर के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होने पर उनके संशय को दूर करना दिव्यध्वनि का स्वभाव है। आनन्द श्रमणोपासक के अवधिज्ञान के विषय में गौतम गणधर को शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न हुई थी। आनन्द ने कहा—''भंते! यथार्थ भाव के लिए जिनप्रवचन में आलोचना नहीं की जाती, वह अयथार्थ भाव के लिए की जाती है। मैं जो यह कह रहा हूँ, वह यथार्थ है। आपने जो कहा, वह यथार्थ नहीं है; इसलिए आप ही आलोचना करें।'' आनन्द द्वारा ऐसा कहने पर गौतम गणधर शंका, कांक्षा और विचिकित्सा से समापन्न हो गए।

तायस्त्रिंश देवों के विषय में भी गौतम शंकित, कांक्षित और विचिकित्स हुए। इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट फलित होता है कि शंका, कांक्षा और विचिकित्सा का सम्बन्ध ज्ञानावरण के उदय से भी है। उत्तरज्झयणाणि में ब्रह्मचर्य-गुप्ति के प्रसंग में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और भेद—इन चारों का उल्लेख मिलता है।

सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं। उनमें प्रथम तीन हैं—शंका, कांक्षा और विचिकित्सा। इनका सम्बन्ध दर्शनमोह से है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जहां शंका, कांक्षा और विचिकित्सा मूल तत्त्व से सम्बद्ध होते हैं, वहां दर्शनमोह का वेदन होता है और जहां वे अन्य विषयों से सम्बद्ध होते हैं, वहां ज्ञानमोह का वेदन होता है। तेरह अंतरों के प्रसंग में कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का सम्बन्ध ज्ञानमोह से प्रतीत होता है।

प्रस्तुत आलापक में ज्ञानमोह-विषयक तेरह अन्तरों का उल्लेख किया गया है। यह एक ऐतिहासिक प्रकरण है। इससे जैन शासन में प्रचलित अनेक मतों, विचारभेदों की जानकारी मिलती है।

3.8 प्रमाण : स्वरूप एवं भेद

जैन धर्म ग्रन्थ-प्रधान नहीं, पुरुष-प्रधान रहा है। इसमें अनेक पुरुषों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। प्रामाण्य की पांच श्रेणियां बतलाई गई हैं—केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर। इन श्रेणियों से भिन्न विशिष्ट आचार्य भी सापेक्ष दृष्टि से अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं। ये सापेक्ष प्रतिपादन एक सामान्य मुनि के लिए कांक्षामोहनीय-वेदन के हेतु बन जाते हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक जैन शासन में जो मत-मतान्तर स्थापित हुए, उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत आलापक में विद्यमान है। एक हजार वर्ष तक की पूरी परम्परा का विशद अध्ययन करने पर पूरा एक ग्रन्थ बन जाता है। यहां हम इस विषय पर संक्षेप में विचार करेंगे।

3.8.1 ज्ञान स्वरूप एवं भेद

ज्ञान के विषय में अनेक भूमिकाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम भूमका पांच ज्ञान की है। रायपसेणइयं में वह उपलब्ध है। प्रस्तुत आगम में ज्ञान के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—1. आभिनिबोधिकज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मन:पर्यवज्ञान, 5. केवलज्ञान।

विवरण के लिए रायपसेणइयं देखने का निर्देश है। ज्ञान की दूसरी भूमिका दो ज्ञान की है। वह ठाणं में उपलब्ध है। उसमें ज्ञान के दो भेद किये गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद के रूप में प्रतिपादन है। आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान परोक्ष के अवान्तर भेद बतलाये गए हैं। भगवती में आभिनिबोधिकज्ञान के चार भेद प्रज्ञप्त हैं। ठाणं में आभिनिबोधिकज्ञान के दो भेद प्रज्ञप्त हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। इनके दो अवान्तर भेद प्रतिपादित हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। यहां ईहा, अवाय और धारणा का उल्लेख नही है। तीसरी भूमिका नंदी में उपलब्ध है। उसमें ज्ञान के पांच प्रकारों का निर्देश कर उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो भागों में समाहार किया गया है। प्रत्यक्ष के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष
श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	अवधि
चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष	मन:पर्यव
घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	केवल
रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	
स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	

भगवती में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग नहीं है। **ठाणं** में प्रत्यक्ष के अन्तर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विभाग नहीं है। वह केवल नंदी में ही प्राप्त है। इस प्रकार आगम-साहित्य में ज्ञान के तीन वर्गीकरण उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर ज्ञान के तीन प्रकारों को ही मान्य करते हैं। उनके अनुसार श्रुतज्ञान मतिज्ञान से भिन्न नहीं है और मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान से भिन्न नहीं है। इस प्रकार देवर्धिगणी के समय तक ज्ञान की पृथक्-पृथक् भूमिकाएँ बन गई थीं। इसीलिए ज्ञानान्तर को कांक्षामोहनीय के वेदन का एक हेतु माना गया।

वृत्तिकार ने अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान के उदाहरण के द्वारा इस विषय की चर्चा की है।

3.8.2 दर्शनान्तर

दर्शन के चार प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इस विषय में एक मत यह रहा है कि दर्शन के तीन प्रकार ही पर्याप्त हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनों में भेदरेखा खींचने का कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता। यह चिन्तन-भेद कांक्षामोहनीय के वेदन का हेतु बना है। वृत्तिकार ने चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन की चर्चा के साथ क्षायोपशमिक और औपशमिक दर्शन की चर्चा भी की है।

3.8.3 चारित्रान्तर

भगवान् पार्श्व के शासन-काल में चारित्र के तीन प्रकार थे—सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। भगवान् महावीर के शासन-काल में चारित्र के पांच प्रकारों की निरूपणा की गई—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। यह अन्तर भी कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बना है। वृत्तिकार ने सामायिक और छेदोस्थापनीय चारित्र के अन्तर की चर्चा की है।

3.8.4 लिंगान्तर

भगवान् पार्श्व के शिष्यों का लिंग—वेश वस्त्र-प्रधान था। भगवान् महावीर के शिष्यों का लिंग अवस्त्र अथवा साधारण वस्त्र वाला था। चातुर्याम और पंचयाम तथा लिंगभेद के आधार पर केशी और गौतम के शिष्यों में एक चिंता उत्पन्न हुई थी। इस विप्रत्यय के बारे में केशी और गौतम में एक संवाद भी हुआ।

3.8.5 प्रवचनान्तर और प्रवचनी-अंतर

प्रवचन का अर्थ है—आगम अथवा द्वादशांगी और प्रवचनी का अर्थ है—प्रवचनकार। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के भेद-काल में प्रवचन और प्रवचनियों के विषय में भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ रही हैं। वे अवधारणाएँ ही कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बनी हैं। वृत्तिकार ने प्रवचनान्तर के विषय में चतुर्याम और पंचयाम के प्रतिपादक आगमों की चर्चा की है। किन्तु यह विषय चारित्रान्तर की व्याख्या में आ सकता है; इसलिए यह विमर्शनीय है। वृत्तिकार ने **पावयणी** शब्द के दो संस्कृत रूप दिये हैं—प्रावचन और प्रावचनिक। उनके अनुसार दीर्घकाल में प्रावचनिकों की पृथक्-पृथक् सामाचारी रही। इससे शंका और कांक्षा का जन्म हुआ। जयाचार्य ने प्रवचनी द्वारा किये गए निरूपण-भेद का उल्लेख किया है, वह भी मननीय है।

3.8.6 कल्पान्तर

कल्पस्थिति या कल्प की व्यवस्था छह प्रकार की बतलाई गई है—सामायिक कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्विश्यमान कल्पस्थिति, निर्विष्ट कल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति, स्थविरकल्पस्थिति। इसका सम्बन्ध मुख्यतः पार्श्वनाथ और महावीर के भेद से रहा है। भगवान् पार्श्व के शासनकाल में आचार की व्यवस्था सामायिक के आधार पर निर्धारित थी और भगवान् महावीर के शासनकाल में छेदोपस्थापनीय आदि कल्पों का विकास हुआ था। यह शासनभेद कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बना था। जयाचार्य ने इस प्रसंग में कांक्षा-विषयक एक दूसरा दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया—जिनकल्प की अवस्था में भी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। फिर इतना कष्ट क्यों सहा जाए? क्या इससे स्थविरकल्प अच्छा नहीं है?

3.8.7 मार्गान्तर

आगम-साहित्य में 'मार्ग' शब्द का अनेक सन्दर्भों में प्रयोग हुआ है। उदाहरणस्वरूप—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टयी का नाम मार्ग है। **उमास्वाति** ने सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्षमार्ग बतलाया है। **सूयगडो** का ग्यारहवां अध्ययन 'मार्ग' का प्रतिपादन करता हे। उसमें ज्ञान का फलित अर्थ है—अहिंसा। **ठाणं** में 'मार्ग में उन्मार्ग की संज्ञा और उन्मार्ग में मार्ग की संज्ञा करने को' मिथ्यात्व कहा गया है। प्रस्तुत प्रकरण में सूत्रकार मार्ग शब्द के द्वारा क्या बोध कराना चाहते हैं, यह ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही खोजा जा सकता है।

वृत्तिकार ने 'मार्ग' का अर्थ 'परम्परागत सामाचारी' किया है। यह अर्थ प्रासंगिक हो सकता है, किन्तु इतिहास इससे भी आगे जाने को बाध्य करता है। भगवान् पार्श्व के शासनकाल में प्रतिक्रमण एक अनिवार्य आवश्यक कर्म नहीं था। भगवान् महावीर के शासनकाल में प्रतिक्रमण एक अनिवार्य आवश्यक कर्म था। मार्ग का एक अर्थ 'सामायिक आदि षड् आवश्यक कर्म' भी होता है। **जयाचार्य** ने साधु-साध्वी-विषयक सामाचारी भेद की चर्चा की है। यह मार्गान्तर मुनियों में कांक्षा और शंका का हेतु बनता है। जयाचार्य ने कल्पानतर के प्रकरण में आवश्यक की चर्चा की है। उनके अनुसार स्थितकल्पी मुनि के लिए आवश्यक नियत होता है और अस्थितकल्पी मुनि के लिए वह अनियत होता है।

3.8.8 मतान्तर

यहां मत का अर्थ दृष्टिभेद है। केवली और श्रुतकेवली की परम्परा का विच्छेद होने के पश्चात् मतान्तर का सूत्रपात होता है। आगम-साहित्य में अनेक मतान्तर उपलब्ध हैं। उपाध्याय समयसुन्दर ने आगम-साहित्य में सौ दृष्टि-भेदों का संकलन किया है। दिगम्बर साहित्य में भी दृष्टिभेदों की एक लंबी तालिका है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में ऐसे 89 दृष्टिभेदों की तालिका दी गई है।

जिनेन्द्र वर्णी ने दृष्टिभेद की पृष्ठभूमि समझाते हुए लिखा है—''यद्यपि अनुभवगम्य आध्यात्मिक विषय में आगम में कहीं भी पूर्वापर-विरोध या दृष्टिभेद होना संभव नहीं है, परन्तु सूक्ष्म, दूरस्थ और अंतरित पदार्थों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं आचार्यों का मतभेद पाया जाता है। प्रत्यक्षज्ञानियों के अभाव में उनका निर्णय दुरन्त होने के कारण **धवलाकार** श्री वीरसेन स्वामी का सर्वत्र यही आदेश है कि दोनों दृष्टियों का यथायोग्य रूप में ग्रहण कर लेना योग्य है।''

वृत्तिकार ने इस प्रसंग में **सिद्धसेन** और **जिनभद्रगणी** के मतों का उल्लेख किया है। उन्होंने **सिद्धसेन** को ज्ञान-दर्शन के युगपद्वाद का समर्थक और **जिनभद्रगणी** को ज्ञान-दर्शन के क्रमोपयोगवाद का समर्थक बतलाया है।

आचार्य कुन्दकुन्द युगपद् **उपयोगवाद** के प्रवक्ता थे। श्वेताम्बर परम्पराओं में मल्लवादी **युगपद् उपयोगवाद** के प्रवक्ता, सिद्धसेन **अभेदोपयोग** या **एकोपयोगवाद** के प्रवक्ता तथा जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण **क्रमोपयोगवाद** के प्रवक्ता थे। उपाध्याय **यशोविजयजी** ने इन तीनों का नयदृष्टि से समन्वय भी किया है। **जयाचार्य** ने प्रवचनान्तर की व्याख्या में कुछ मतभेदों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत प्रकरण में उन्होंने आगम के वाचना-भेद और पाठ-भेद की चर्चा की है।

3.8.9 भंगान्तर

भंग का अर्थ है—एक वस्तु में प्रकृति-भेद अथवा संख्या-भेद से होने वाला विकल्प। वृत्तिकार ने हिंसा की चतुर्भंगी का उल्लेख कर भंगान्तर को समझाने का प्रयत्न किया है।

3.8.10 नयान्तर

नय का अर्थ है—अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक विषय में होने वाला ज्ञाता का सापेक्ष दृष्टिकोण अथवा अभिप्राय। नय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के अनेक वर्गीकरण हैं। मूल नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। **ठाणं** में मूलनय सात बतलाये गए हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के अनुसार **उमास्वाति** ने पांच नय स्वीकार किये हैं। **तत्त्वार्थराजवार्तिक** के अनुसार नय सात हैं। **सिद्धसेन दिवाकर** ने नैगम नय का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है। इस प्रकार नयों के अनेक वर्गीकरण कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन में निमित्त बनते हैं।

3.8.11 नियमान्तर

वृत्तिकार ने नियम का अर्थ 'अभिग्रह' किया है। इससे पौरुषी आदि तप-विधियों का बोध होता है। सामायिक के द्वारा सर्व पापकारी प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान होता है। फिर नियम क्यों? इस प्रश्न के द्वारा वृत्तिकार ने नियमान्तर की व्याख्या की है। प्रकरण से प्रतीत होता है कि पार्श्व और महावीर की परम्परा में महाव्रतों की भांति नियमों का भी भेद था और वह कांक्षा-उत्पत्ति का हेतु बनता था।

3.8.12 प्रमाणान्तर

प्रमाण का अर्थ है—निर्णायक ज्ञान। **ठाणं** में व्यवसाय के तीन प्रकार प्रतिपादित हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक (इन्द्रिय और मन से होने वाला अथवा आप्तवचन से होने वाला) और आनुगामिक (अनुमान)। वहां ज्ञान के दो प्रकार बतलाये गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा हेतु के चार प्रकार प्रतिपादित हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम। **अणुओगदाराइं** में ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम—ये चार भेद उपलब्ध हैं। नंदी में ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो प्रकार मिलते हैं। इस प्रकार विभिन्न नामों के माध्यम से प्रमाण के अनेक वर्गीकरण बन गए। **जैन परम्परा** में प्रमाण का आधुनिक वर्गीकरण अकलंक और हरिभद्र के समय से हुआ है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन प्रमाणों की स्वीकृति दी थी। आगम-संकलन-काल से पूर्ववर्ती प्रमाण के ये अनेक वर्गीकरण शंका और कांक्षा के हेतु बने थे।

3.9 कर्म वेदना एवं निर्जरा का स्वरूप

से नूणं भंते! जे महावेदणे से महानिज्जरे? जे महानिज्जरे से महावेदणे? महावेदणस्य य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थ-निज्जराए?

हंता गोयमा! जे महावेदणे से महानिज्जरे, जे महानिज्जरे से महावेदणे, महावेदणस्य य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए।।

भन्ते! क्या जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है? क्या जो महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना वाला है? महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में क्या वह श्रेयान् है जो प्रशस्त निर्जरा वाला है?

हां, गौतम! जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है। जो महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना वाला है। महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में वह श्रेष्ठ है, जो प्रशस्त निर्जरा वाला है।

छट्ठ-सत्तमासु णं भंते! पुढ वीसु नेरइया महावेदणा?

हंता महावेदणा।

भन्ते! छठी और सातवीं पृथ्वियों के नैरयिक क्या महावेदना वाले हैं?

हां, महावेदना वाले हैं।

ते णं भंते! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरा?

गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

भन्ते! क्या वे श्रमण-निर्ग्रन्थों से महानिर्जरा वाले हैं?

गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से केणं खाइ अट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जे महावेदणे से महानिज्जरे? जे महानिज्जरे से महावेदणे? महावेदणस्य य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए?

गोयमा! से जहानामए दुवे वत्था सिया—एगे वत्थे कद्दमरागरत्ते, एगे वत्थे खंजण-रागरत्ते। एएसि णं गोयमा! दोण्हं वत्थाणं कयरे वत्थे दुद्धोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव; कयरे वा वत्थे सुद्धोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव; जे वा से वत्थे कद्दमरागरत्ते? जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते?

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा सकता है—जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है? जो महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना वाला है? महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में वह श्रेष्ठ है, जो प्रशस्त निर्जरा वाला है?

गौतम! जैसे कोई दो वस्त्र है—एक वस्त्र कर्दम-राग से रंगा हुआ है और एक वस्त्र खंजनराग से रंगा हुआ है। गौतम! इन दोनों वस्त्रों में कौन-सा वस्त्र कठिनता से धुलता है? किस वस्त्र का धब्बा सरलतासे उतरता है? और किस वस्त्र का परिकर्म सम्यक् प्रकार से होता है? वह जो वस्त्र कर्दमराग से रंगा हुआ है अथवा वह जो वस्त्र खंजनराग से रंगा हुआ है?

यहां वेदना और निर्जरा के सम्बन्ध पर विमर्श किया गया है। इस विमर्श में तीन सूत्र प्रस्तुत हैं—

1. महावेदना और महानिर्जरा।

2. वेदना महान हो या अल्प, जो प्रशस्त निर्जरा है, वह श्रेष्ठ है।

3. कर्म गाढीकृत होता है, तो महावेदना होने पर महानिर्जरा नहीं होती, जैसे—छठी और सातवी पृथ्वियों के नैरयिकों के महावेदना होती है, पर महानिर्जरा नहीं होती। श्रमण-निर्ग्रन्थ के अल्पवेदना होने पर भी महानिर्जरा होती है। इसका हेतु है—कर्म का शिथिलीकृत स्वरूप।

'महावेदना और महानिर्जरा'—यह सामान्य नियम है। 'अल्पवेदना और महानिर्जरा'—यह इसका अपवाद सूत्र है।

3.9.1 निर्जरा के हेतु

निर्जरा का मूल हेतु है—प्रशस्त अध्यवसाय एवं शुभयोग। निर्जरा की अल्पता या बहुता उसी पर निर्भर है। **उमास्वाति** ने अध्यवसाय की प्रकर्षता के आधार पर निर्जरा के तारतम्य का प्रतिपादन किया है—

1. सम्यग्दृष्टि से श्रावक के असंख्येयगुना निर्जरा,
2. श्रावक से विरत के असंख्येयगुना निर्जरा,
3. विरत से अनन्तवियोजक के असंख्येयगुना निर्जरा,
4. अनन्तवियोजक से दर्शनमोहक्षपक के असंख्येयगुना निर्जरा,
5. दर्शनमोह क्षपक से मोहोपशपक के असंख्येयगुना निर्जरा,
6. मोहोपशमक से उपशान्तमोह के असंख्येयगुना निर्जरा,
7. उपशान्तमोह से मोहक्षपक के असंख्येयगुना निर्जरा,
8. मोहक्षपक से क्षीणमोह के असंख्येयगुना निर्जरा,
9. क्षीणमोह से जिन के असंख्येयगुना निर्जरा।

तत्त्वार्थ भाष्यकार ने निर्जरा के दो भेद किये हैं—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरक आदि में जो कर्म-फल विपाकजा निर्जरा होती है, वह अबुद्धिपूर्वा है। **'मैं कर्म का शाटन करूं'**—इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती, केवल कर्म का विपाक होने पर उसकी निर्जरा होती है, इसलिए वह बुद्धिपूर्वा है। इस निर्जश्रा को अकुशलानुबन्धा कहा गया है। तप और परिषह-जय से होने वाली निर्जरा कुशलमूला होती है। प्रशस्तनिर्जरा की कुशलमूला निर्जरा से तुलना की जा सकती है। **अभयदेवसूरि** ने प्रशस्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्जरा का अर्थ 'कल्याणानुबन्ध निर्जरा' किया है। तत्त्वार्थभाष्य में कुशलमूला निर्जरा के दो प्रकार बतलाये गए हैं— शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा। जिस निर्जरा का फल स्वर्ग आदि सुगति हो वह शुभानुबन्धा निर्जरा है। जो निर्जरा साक्षात् मोक्ष का कारण बने, वह निरनुबन्धा निर्जरा है।

3.9.2 महावेदना और महानिर्जरा के स्वामी

जीवा णं भंते! किं महावेदणा महानिज्जरा? महावेदणा अप्पनिज्जरा? अप्पवेदणा महानिज्जरा? अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा?

गोयमा! अत्थेगतिया जीवा महावेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा महावेदणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा।

भन्ते! क्या जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं? महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं? अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं? अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं?

गौतम! कुछ जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं, कुछ जीव महवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं, कुछ जीव अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं, कुछ जीव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

से केणट्ठेणं?

गोयमा! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे। छट्ठ-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा। सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे। अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा।।

यह किस अपेक्षा से?

गौतम! प्रतिमा-प्रतिपन्न अनागार महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं। छठी-सातवीं नरक भूमियों के नैरयिक जीव महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं। शैलेशी अवस्था को प्रतिपन्न अनगार अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं। अनुत्तरोपपातिक देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

यहां महावेदना और महानिर्जरा का विमर्श उदाहरणपूर्वक किया जा रहा है। भिक्षु के लिए बारह प्रतिमाओं का निर्देश है। प्रतिमा प्रतिपन्न भिक्षु अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। इसलिए उसके वेदना महान् होती है। वह प्रशस्त अध्यवसाय युक्त होता है, वेदना को सहने में समभाव रखता है, इसलिए उसके निर्जरा भी महान् होती है। छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक क्षेत्रजनित महावेदना का अनुभव करते हैं। उनके निर्जरा अल्प होती है। उक्त दोनों सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि महानिर्जरा का आधार वेदना की अल्पता या अधिकता नहीं है। निर्जरा की अल्पता या अधिकता का कारकतत्त्व वेदना को सहन करने की पद्धति है।

प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार महावेदना को समभाव से सहन करता है, इसलिए उसके महानिर्जरा होती है।

छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक महावेदना को समभाव से सहन नहीं करते, इसलिए उनके निर्जरा अल्प होती है।

शैलेशी अवस्था को प्रतिपन्न अनगार के वेदना अल्प होती है, किन्तु समभाव अधिकतम होता है, इसलिए अल्पवेदना की अवस्था में भी निर्जरा महान् होती है।

अनुत्तर विमान के देवों के वेदना भी अल्प और निर्जरा भी अल्प होती है।

इन चारों उदाहरणों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर एक निष्कर्ष और निकलता है कि जिनमें निर्जरा करने का प्रयत्न होता है, उनके अविपाकी निर्जरा होती है। वे उदीरणा पर अविपक्व कर्मों को उदय में लाकर निर्जीण कर देते हैं। प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार और शैलेशी-प्रतिपन्न अनगार—ये दो इस कोटि के उदाहरण हैं। छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक और अनुत्तरविमान के देव—ये विपाकी निर्जरा के उदाहरण हैं। उनमें निर्जरा का प्रयत्न नहीं होता। अशुभ और शुभ कर्म उदयावली में प्रविष्ट होकर अपना फल देकर निवृत्त हो जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.9.3 वेदना एवं निर्जरा का स्वरूप

से नूणं भन्ते! जा वेदणा सा निज्जरा? जा निज्जरा सा वेदणा?
गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।।

भन्ते! क्या जो वेदना है, वह निर्जरा है, जो निर्जरा है वह वेदना है?
गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जा वेदणा न सा निज्जरा? जा निज्जरा न सा वेदणा?
गोयमा! कम्मं वेदणा, नोकम्मं निज्जरा। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—जा वेदणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेदणा।।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो वेदना है, वह निर्जरा नहीं है? जो निर्जरा है वह वेदना नहीं है?
गौतम! वेदना कर्म की होती है, निर्जरा नो-कर्म की होती है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जो वेदना है वह निर्जरा नहीं है, जो निर्जरा है वह वेदना नहीं है।

से नूणपं भंते। जं वेदेंति तं निज्जरेंति?
जं निज्जरेंति तं वेदेंति?

भन्ते! क्या जिसकी वेदना करते हैं, उसकी निर्जरा करते हैं, जिसकी निर्जरा करते हैं, उसकी वेदना करते हैं?
गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जाव नो तं वेदेंति?
गोयमा! कम्मं वेदेंति, नोकम्मं निज्जरेंति।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—यावत् जिसकी निर्जरा करते हैं उसकी वेदना नहीं करते?
गौतम! वेदना कर्म की करते हैं, निर्जरा नोकर्म की करते हैं। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—यावत् जिसकी निर्जरा करते हैं, उसकी वेदना नहीं करते।

से नूणं भंते! जे वेदणासमए से निज्जरासमए? जे निज्जरासमए से वेदणासमए?
णो इणट्ठे समट्ठे।।

भन्ते! क्या जो वेदना का समय है, वही निर्जरा का समय है? जो निर्जरा का समय है, वही वेदना का समय है?
यह अर्थ संगत नहीं है।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जे वेदणासमए से निज्जरासमए? जे निज्जरासमए से वेदणासमए?
गोयमा! जं समयं वेदेंति नो तं समयं निज्जरेंति, जं समयं निज्जरेंति नो तं समयं वेदेंति—अण्णम्मि समए वेदेंति, अण्णम्मि समए निज्जरेंति। अण्णे से वेदणासमसए, अण्णे से निज्जरासमए। से तेणट्ठेणं जाव न से वेदणासमए, न से निज्जरासमए।।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है? जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है?
गौतम! जिस समय वेदना करते हैं, उस समय निर्जरा नही करते। जिस समय निर्जरा करते हैं, उस समय वेदना नही करते—अन्य समय में वेदना करते हैं, अन्य समय में निर्जरा करते हैं। वेदना का समय अन्य है, निर्जरा का समय अन्य है। इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है यावत् जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है। जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्म की अनेक अवस्थाएँ हैं। उनमें प्रथम अवस्था है बंध और अन्तिम अवस्था है—उदय। उदयकाल में कर्म का वेदन होता है। वेदन के पश्चात् कर्म नोकर्म बन जाता है। प्रस्तुत आलापक में वेदना और नोकर्म का अन्तर बतलाया गया है। वेदना कर्म की होती है, निर्जरा कर्म की नहीं होती। फल-विपाक के पश्चात् कर्म की फलदान-शक्ति समाप्त हो जाती है। वह फिर कर्म नहीं रहता। नोकर्म बन जाता है। उसकी निर्जरा होती है, इसलिए वेदना का समय पृथक् होता है और निर्जरा का समय पृथक्।

3.10 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में सर्वप्रथम जीव और पुद्गल के सम्बन्ध का विचार करके (जीव के (आत्मा के) आत्म-प्रदेशों के संकुचन एवं विस्तार को बताने के उद्देश्य से) जीव की देहपरिमिता का कथन किया तथा जीव अर्थात् आत्मा की सिद्धि करके आत्मकर्तृत्व का स्वरूप बताया एवं संसार परिभ्रमण में कारणभूत कांक्षामोहनीय का कथन करके उससे उत्पन्न वेदना (कर्मवेदना) का स्वरूप एवं वेदना से मुक्ति स्वरूप निर्जश्रा की चर्चा करके संसार, संसार का कारण एवं संसार से मुक्ति के उपाय की जानकारी इस इकाई में प्राप्त हुई।

3.11 शब्द-विमर्श

कर्दमराग से रंगा हुआ—गाढे चिकने पंक से लिप्त।

खंजनराग से रंगा हुआ—सामान्य पंक से लिप्त।

गाढरूप में किये हुए—आत्मप्रदेशों के साथ गाढ़ रूप में बद्धकर्म, जैसे—सन के सूत्र से गाढ रूप में बंधा हुआ सूत्र-कलाण।

चिकने किये हुए—सूक्ष्म कर्म-स्कन्ध—जो परस्पर गाढ़ रूप में संबद्ध होने के कारण दुर्भेद्य बन जाएं, जैसे मृत्पिण्ड।

संसृष्ट किये हुए—निधत्त, जैसे सूत्र से बंधा हुआ अग्नितप्त लोह का शलाका-कलाप।

अलंघ्य (खिलीभूताइं)—जिस कर्म का निश्चित रूप में विपाकोदय हो, वह कर्म निकाचित कर्म।

महापर्यवसानवाले—जिस निर्जरा का फल निर्वाण हो।

निरन्तर तेज आघात (परंपराघाएणं)—परम्पराघात—ऊपर से ऊपर होने वाली चोट।

अहरन (अहिगरणी)—निहाई; 'एरण'।

स्थूलकर्मपुद्गल (अहाबायराइं)—स्थूलतर कर्म-पुद्गल, असार-पुद्गल।

शिथिल रूप में किये हुए—जिसका विपाक मन्द किया गया हो।

निःसत्त्व किये हुए—जो कर्म निःसत्ताक बना दिया गया हो।

विपरिणमन को प्राप्त किये हुए—जिस कर्म के स्थितिघात और रसघात में परिवर्तन किया गया हो।

प्रतिमा-प्रतिपन्नक—प्रतिमा—साधना का विशेष प्रयोग, विशेष प्रकार का अभिग्रह और संकल्प। प्रतिमा को स्वीकार करने वाला प्रतिमा-प्रतिपन्नक कहलाता है।

शैलेशी—चौदहवें गुणस्थान की अवस्था। इसमें योग का सर्वथा निरोध हो जाता है, इसलिए यह मेरु की भांति अप्रकम्प होती है।

पुद्गल—परमाणु; **स्कन्ध**—परमाणु-समूह; **शाश्वत**—सदा विद्यमान; **समय**—काल।

सित—ग्रंथि।

अपौरुषेय—पुरुष के शरीर-मान से अधिक प्रमाण वाला।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.12 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. भगवती का परिचय अपने शब्दों में दें।
2. कांक्षामोहनीय कर्म के विविध रूपों की सविस्तार व्याख्या करें।
3. आत्मकर्तृत्ववाद से आप क्या समझते हैं?
4. जीव और पुद्गल के सम्बन्ध को विसतार से समझाइये।
5. कर्मवेदना और निर्जरा के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. क्या महावेदना और महानिर्जरा में अविनाभाव सम्बन्ध है?
2. कांक्षामोहनीय कर्म का बन्ध 'सव्वेणं सव्वे' नियम से होता है—इसकी व्याख्या करें।
3. कांक्षामोहनीय ज्ञानावरणीय कर्म से संबंधित है अथवा मोहनीय कर्म से? अपना मन्तव्य स्पष्ट करें।
4. सुख-दु:ख स्वकृत हैं—इसे विश्लेषित करें।
5. आत्मा (जीव) देहपरिमित है—इसे उदाहरण से स्पष्ट करें।
6. वेदना और निर्जरा के सम्बन्ध को स्पष्ट करें।
7. जीव और शरीर सम्बन्ध को विविध परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. किन्हीं पांच रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—
   (क) समवायांग और नंदी के अनुसार प्रस्तुत आगम में ..... प्रश्नों का व्याकरण है।
   (ख) सम्बन्ध और विसम्बन्ध के आधार पर जीव दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं.....।
   (ग) आत्मतत्त्व के विवेचन में विचारणीय विषय है .....।
   (घ) जीव द्वारा उन्हीं कर्म-परमाणुओं का ग्रहण होता है, जो ..... पर व्याप्त हैं।
   (ङ) नामकर्म के उदय से होने वाली ..... योग है।
2. किन्हीं पांच का एक शब्द में उत्तर दें—
   (क) वेदना किससे संबंधित है और निर्जरा किससे?
   (ख) क्या वेदना और निर्जर का समय एक है?
   (ग) कांक्षा का क्या अर्थ है?
   (घ) ज्ञानमोह से सम्यक्त्व नष्ट होता है या नहीं?
   (ङ) जन्मभेद और विकास-भेद का हेतु क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. (क) 36 हजार। (ख) संसारी और मुक्त। (ग) आत्मकर्तृतव। (घ) उसके प्रदेशों।
   (ङ) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति।
2. (क) वेदना कर्म से और निर्जरा नोकर्म (अकर्म) से संबंधित है।
   (ख) नहीं। (ग) अभिलाषा। (घ) नहीं। (ङ) स्वकृत कर्म।

3.13 सन्दर्भ ग्रंथ

- भगवई विआहपण्णत्ति (1)—सं. आचार्यश्री महाप्रज्ञ
- भगवती सूत्र—सं. घेवरचन्द बांठिया
- व्याख्या प्रज्ञप्ति (खण्ड-2)—सं. युवाचार्यश्री 'मधुकर' मुनि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : (अ) उत्तराध्ययन प्रथम अध्ययन

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 आगम सूत्रों के वर्गीकरण में उत्तराध्ययन का स्थान

4.2.1 उत्तराध्ययन मूल आगम क्यों

4.2.2 अध्ययन क्रम का परिवर्तन और मूल सूत्र

4.2.3 नाम

4.2.4 उत्तराध्ययन रचनाकाल और कर्तृत्व

4.2.5 क्या उत्तराध्ययन महावीर की अन्तिमवाणी है?

4.2.6 महावीर वाणी का प्रतिनिधि सूत्र

4.3 उत्तराध्ययन का परिचयात्मक अध्ययन

4.3.1 उपमा और दृष्टान्त

4.3.2 छंद

4.3.3 सुभाषित और शिक्षाप्रद

4.3.4 उत्तराध्ययन के व्याख्या ग्रंथ

4.4 प्रथम अध्ययन : विनयश्रुत (विनय स्वरूप)

4.4.1 गुरु शिष्य सम्बन्ध

4.4.2 अनुशासन प्रियता और अनुशासनहीनता

4.4.3 विनीत –अविनीत शिष्य

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

जैन आगम ग्रन्थों में उत्तराध्ययन एक महत्त्वपूर्ण और प्रिय आगम माना गया है। इसकी प्रियता का कारण इसके सरल कथानक, रोचक संवाद और सरस रचना शैली है। इसकी भाषा अर्धमागधी व महाराष्ट्री मिश्रित प्राकृत है।

4.1 उद्देश्य

उत्तराध्ययन ग्रंथ में मुनि के मूल गुण महाव्रत आदि का विवेचन है। यह ग्रंथ धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आता है। मूल गुणों पर आधारित होने के कारण इसकी गणना मूल में हुई। इस ग्रंथ के प्रथम अध्ययन में मूल बातों पर में प्रकाश डाला जायेगा और निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत हम इसका अध्ययन कर सकेंगे।

4.2 आगम सूत्रों के वर्गीकरण में उत्तराध्ययन का स्थान

जैन आगमों के वर्गीकरण अनेक रूपों में उपलब्ध होते हैं।

सबसे प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार आगम दो वर्गों में विभक्त थे—पूर्व और अंग के रूप में। पूर्वों की संख्या चौदह थी और आगमों की बारह।

दूसरा वर्गीकरण आगम संकलन कालीन है। इसमें आगमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। उत्तराध्ययन गणधरकृत रचना नहीं है इसलिए इसे अंग बाह्य माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तीसरे वर्गीकरण के अनुसार आगम साहित्य चार वर्गों में विभाजित हुआ–1. चरण करणानुयोग, 2. धर्मकथानुयोग, 3. गणितानुयोग, 4. द्रव्यानुयोग। इस वर्गीकरण में उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आता है, पर इसके आचारात्मक अध्ययन चरणकरणानुयोग में तथा सैद्धान्तिक अध्ययन द्रव्यानुयोग में समाते हैं। इस प्रकार उत्तराध्ययन का वर्तमान स्वरूप अनेक अनुयोगों का सम्मिश्रण है। यह संमिश्रण देवर्धिगणि के संकलन काल में हुआ ऐसा संभव है।

आगमों का एक वर्गीकरण अध्ययनकाल की दृष्टि से भी किया गया। दिन और रात के प्रथम एवं अंतिम प्रहर में पढ़े जाने वाले आगमों को कालिक आगम की संज्ञा दी गई। दिन और रात के चारों प्रहर में पढ़े जाने वाले आगमों को उत्कालिक आगम की संज्ञा दी गई। उत्तराध्ययन की गणना कालिक सूत्रों में है।

एक वर्गीकरण जो सबसे उत्तरवर्ती है उसके अनुसार आगम साहित्य चार भागों में विभक्त हैं–1. अंग, 2. उपांग, 3. मूल, 4. छेद। इस वर्गीकरण के आधार पर उत्तराध्ययन की गणना मूल आगम में हुई है।

4.2.1 उत्तराध्ययन मूल आगम क्यों?

उत्तराध्ययन को मूल आगम में क्यों गिना गया? इसका कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानों ने मूल शब्द की अनेक आनुमानिक व्याख्याएं की हैं। एक अभिमत के अनुसार दसवैकालिक और उत्तराध्ययन मुनि की जीवनचर्या के प्रारम्भ में मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्हीं के पठन से प्रारम्भ होता है इसलिए इन्हें मूलसूत्र की मान्यता मिली। दूसरा अभिमत है—इनमें मुनि के मूल गुणों—महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है। इस दृष्टि से इन्हें मूल सूत्र की संज्ञा दी गई है।

4.2.2 अध्ययन क्रम का परिवर्तन और मूल सूत्र

आगम अध्ययन के क्रम में आने वाले परिवर्तन से भी उत्तराध्ययन के 'मूलसूत्र' होने की पुष्टि होती है। दसवैकालिक की रचना से पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था। दसवैकालिक की रचना होने के पश्चात् दसवैकालिक और उत्तराध्ययन पढ़े जाने लगे। यह भी उत्तराध्ययन के मूलसूत्र होने का आधार बनता है।

4.2.3 नाम

उत्तराध्ययन उत्तर और अध्ययन इन दो शब्दों से बना है। उत्तर शब्द की अर्थ-योजना पर अनेक आचार्यों ने विचार किया है। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे इसलिए उन्हें उत्तर अध्ययन कहा गया। आचार्य शय्यंभव के पश्चात् ये अध्ययन दसवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे। इसलिए ये उत्तर अध्ययन ही बने रहे। दिगम्बर आचार्यों ने भी उत्तर शब्द की अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्या की है। धवलाकार (वि. 9वीं शताब्दी) के मतानुसार उत्तराध्ययन उत्तरपदों का यानी समाधान सूचक पदों का वर्णन करता है। अंग पण्णत्ति (वि. 16वीं शताब्दी) से उत्तर शब्द के दो अर्थ फलित होते हैं—

1. **उत्तरकाल**—किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन।
2. **उत्तर**—प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन।

4.2.4 उत्तराध्ययन रचनाकाल और कर्तृत्व

उत्तराध्ययन के रचनाकाल व कर्तृत्व की दृष्टि से समय-समय पर मीमांसा की गई है। उसके आधार पर यह माना जाता है कि उत्तराध्ययन किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इसके अध्ययन विभिन्न युगों में विभिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि इसके अध्ययन ई.पू. 600 से ई.सन् 400 तक की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसका कुछ अंश महावीर से पहले का भी है। चूर्णि में ऐसा संकेत भी मिलता है कि उत्तराध्ययन का छट्ठा अध्ययन भगवान् पार्श्व द्वारा उपदिष्ट है। दसवैकालिक वीर निर्माण की पहली शताब्दी की रचना है उत्तराध्ययन एक ग्रन्थ के रूप में उससे पहले संकलित हो चुका था। उस समय उसके कितने अध्ययन रहे थे यह निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता पर उत्तराध्ययन दसवैकालिक से पूर्व अस्तित्व में था यह प्रमाणित है।

वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में देवर्द्धिगणी ने आगमों का संकलन किया। उस समय उन्होंने विविध कालों में रचे गए उत्तराध्ययन के अध्ययनों को संकलित कर छत्तीस अध्ययनात्मक एक ग्रन्थ का रूप दिया। इस आधार पर वर्तमान उत्तराध्ययन के संकलयिता देवर्धिगणी को कहा जा सकता है।

4.2.5 क्या उत्तराध्ययन महावीर की अंतिम वाणी है?

कल्पसूत्र में बताया गया है कि भगवान् महावीर कल्याण फल विपाक वाले 55 अध्ययनों, पाप फलवाले 55 अध्ययनों तथा 36 अपृष्ट-व्याकरणों का व्याकरण कर "प्रधान" नामक अध्ययन का निरूपण करते -करते सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गए। उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण वस्तुत: उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन ही हैं। उत्तराध्ययन के अंतिम श्लोक से भी इस बात की पुष्टि होती है—

इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है—ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमान स्वामी छत्तीस अध्ययनों का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

उत्तराध्ययन के अध्ययनों की संख्या 36 होने के कारण सहज ही उस ओर ध्यान जाता है कि कल्पसूत्र में उल्लिखित 36 अपृष्ट-व्याकरण ये ही होने चाहिए। पर समवयांग में 36 अस्पृष्ट व्याकरणों का उल्लेख न होने के कारण सभी विचारक उपरोक्त कथन से एकमत नहीं हैं।

4.2.6 महावीर वाणी का प्रतिनिधि सूत्र

उत्तराध्ययनसूत्र सम्पूर्ण रूप से भगवान् महावीर की प्रत्यक्ष वाणी भले न हो किन्तु उसमें भगवान् महावीर की वाणी का जिस समीचीन पद्धति से गुंफन हुआ है। उसे देखकर सहज ही यह कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन महावीर वाणी का प्रतिनिधिसूत्र है।

अहिंसा, अपरिग्रह आदि तत्त्व नवीन नहीं हैं और भगवान् महावीर के समय में भी नवीन नहीं थे। उनसे पहले अनेक तीर्थंकर और धर्माचार्य उनका प्रयोग कर चुके थे। किन्तु भगवान् महावीर ने तात्कालिक परिस्थितियों के संदर्भ में उनको जो अभिव्यक्ति दी, वह उनका नवीन रूप है। भगवान् महावीर के समय की सामाजिक परिस्थिति में अहिंसा और अपरिग्रह के मुख्य बाधकतत्त्व ये थे—1. दासप्रथा, 2. जातिवाद, 3. पशुबलि, 4. अमित संग्रह, 5. दण्ड का उच्छृंखल प्रयोग, 6. अनियंत्रित भोग।

इन बाधक तत्त्वों के निरसन के लिए भगवान् महावीर ने जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया उसका हृदयग्राही संकलन उत्तराध्ययन में हुआ है।

पार्श्वनाथ के समय में चार महाव्रत थे और सामायिक चारित्र था। भगवान् महावीर ने महाव्रत पांच किए और छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था की। छेदोपस्थापनीय का अर्थ है—विभागयुक्त चारित्र।

पूज्यपाद (वि. 5-6 शताब्दी) ने लिखा है— "भगवान् महावीर ने चारित्र धर्म के तेरह विभाग किए—पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां। ये विभाग पार्श्वनाथ के समय में नहीं थे।" उत्तराध्ययन में इनका सुव्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

षड्जीवनिकायवाद महावीर के तत्त्ववाद का प्रधान अंग है। जीव विषयक इतना व्यवस्थित और विस्तृत प्रतिपादन अन्य किसी धर्म-परम्परा में नहीं था। आचार्य सिद्धसेन ने इसे भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की कसौटी के रूप में प्रस्तुत किया है।

उत्तराध्ययन में जीव-विभक्ति का भी एक सुन्दर प्रकरण है। अजीव-विभक्ति, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नवतत्त्व आदि-आदि भी समुचित रूपेण प्रतिपादित हुए हैं।

4.3 उत्तराध्ययन का परिचयात्मक अध्ययन

आकार की दृष्टि से उत्तराध्ययन में छत्तीस अध्ययन हैं। 16382 श्लोक हैं तथा 81 सूत्र हैं। प्रत्येक अध्ययन का विषय इस प्रकार है—

1. विनय
2. प्राप्त कष्ट सहन का विधान
3. चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन
4. प्रमाद और अप्रमाद का प्रतिपादन
5. मरण विभक्ति अकाम और सकाममरण
6. विद्या और आचरण
7. रस वृद्धि का परित्याग
8. लाभ और लोभ के योग का प्रतिपादन
9. संयम में निष्प्रकंप भाव
10. अनुशासन
11. बहुश्रुत की पूजा
12. तप का ऐश्वर्य
13. निदान भोग संकल्प
14. अनिदान-भोग असंकल्प
15. भिक्षु के गुण
16. ब्रह्मचर्य की गुप्तियां
17. पाप-वर्जन
18. भोग और ऋद्धि का त्याग
19. अपरिकर्म-देहाध्यास का परित्याग
20. अनाथता
21. विचित्र चर्या
22. चरण का स्थिरीकरण
23. धर्म-चातुर्याम और पंचयाम
24. समितियां-गुप्तियां
25. ब्राह्मण के गुण
26. सामाचारी
27. अशठता
28. मोक्ष मार्ग गति
29. आवश्यक में अप्रमाद
30. तप
31. चारित्र
32. प्रमाद-स्थान
33. कर्म
34. लेश्या
35. अनगार-मार्ग गति
36. जीव और अजीव का प्रतिपादन।

विषयवस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन चार भागों में विभक्त होते हैं—

1. धर्म कथात्मक—7, 8, 9, 12, 13, 14, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 25, 27
2. उपदेशात्मक—1, 3, 4, 5, 6, 10
3. आचारात्मक—2, 11, 15, 16, 17, 24, 26, 32, 35
4. सैद्धान्तिक—28, 29, 30, 31, 33, 34, 36

इस प्रकार उत्तराध्ययन को विविध विषयों की दृष्टि से एक आकर ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें एक और जहां विनय की पद्धति, अनुशासन की महत्ता, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का आधार, विद्या प्राप्ति की अर्हता, गुणीजनों का समादर, साधक का स्वरूप, बहुश्रुत का सम्मान आदि की विस्तृत अवगति दी गई है, वहां दूसरी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ओर मानव जीवन की दुर्लभता, प्राप्त कष्ट में समता, सहिष्णुता, संयम जीवन जीने व मरने की कला, देहाध्यास से मुक्ति की साधना, ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय, तप की महिमा, शांत सहवास के सूत्र आदि जीवन स्पर्शों, विषयों का समीचीन निरूपण हुआ है। एक और द्रव्य, गुण-पर्याय, लेश्या, कर्म, जीव-अजीव जैसे तात्त्विक व दार्शनिक विषय विवेचित हुए हैं। वहां दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक सभ्यता व संस्कृति का भी यथेष्ट दिग्दर्शन मिलता है। भगवान् पार्श्व एवं भगवान् महावीर की धर्म देशनाओं का एवं उनके शिष्यों के पारस्परिक मिलन का इसमें बहुत ही सरसता के साथ वर्णन हुआ है। वैदिक एवं श्रमण संस्कृति के मतवादों का जिस संवादात्मक शैली में रोचक और व्यवस्थित प्रतिपादन यहां उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र कहीं शायद ही उपलब्ध हो। एक वाक्य में कहें तो उत्तराध्ययन धर्म कथाओं आध्यात्मिक उपदेशों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का आकर्षक योग है ऐसा माना जा सकता है।

4.3.1 उपमा और दृष्टान्त

उत्तराध्ययन में गंभीर अर्थ भी सरस-सुबोध पद्धति से प्रकटित हुआ है। इस प्रकटन में उपमाओं और दृष्टान्तों का विशिष्ट योग है। यह एक पवित्र धर्म-ग्रन्थ है। किन्तु उपमाओं की बहुलता देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि यह काव्य ग्रन्थ है। इसीलिए संभव है विन्टरनित्ज ने इसे उत्कृष्ट श्रमण-काव्य कहा।

मनुष्य जीवन की तुलना पके हुए द्रुम-पत्र तथा कुश की नोक पर टिके हुए ओस-बिन्दु से की गई है (10/2)। काम भोगों की तुलना किंपाक फल से की गई है। (32/20) ये फल देखने में मनोरम और खाने में मधुर होते हैं किन्तु इनका परिपाक होता है मृत्यु।

कहीं-कहीं उपमाबोध बहुत सजीव हो उठा है। भृगु पुरोहित अपनी पत्नी से कह रहा है—'मैं पुत्र-विहीन होकर वैसा हो रहा हूँ, जैसा पंखविहीन पंछी होता है' 'पंखाविहूणो व जहेह पक्खी' (14/30) साँप जैसे केंचुली को छोड़कर चला जाता है, वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं (14/34)

महारानी कमलावती ने कहा—'जैसे पक्षिणी पिंजड़े में रति नहीं पाती, वैसे ही मैं इस बंधन में रति नहीं पा रही हूँ'

"नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा" (14/41)

अमा की अंधियारी में दीए के सहारे चलने वाले का दीया बुझ जाए, उस समय वह देख कर भी नहीं देख पाता। इसी प्रकार धन से मूढ़ बना व्यक्ति देखकर भी नहीं देख पाता। (4/5)

4.3.2 छंद

उत्तराध्ययन का अधिक भाग पद्यात्मक है इसमें 1638 श्लोक है। इसमें दोनों प्रकार के छंद मात्रावृत्त और वर्णवृत्त व्यवहृत हुए हैं। मात्रावृत्त में गाथा छंद है एवं वर्णवृत्त में अनुष्टुप, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ छंद प्रयुक्त हुए हैं।

4.3.3 सुभाषित और शिक्षापद

जीवन को सजाने और संवारने में सुभाषितों का बहुत बड़ा महत्त्व है। उत्तराध्ययन सूत्र वर्णनात्मक प्रकारात्मक एवं परिभाषात्मक होने के साथ-साथ इसमें सुभाषितों व शिक्षापदों का भी भरपूर उपयोग हुआ है। उदाहरण के रूप में कुछ सुभाषित शिक्षापद निम्नोक्त हैं—

1. अणुसासिओ न कुप्पेजा। 1/9
   अनुशासन मिलने पर क्रोध न करे।
2. खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए ॥ 1/9
   ओछे व्यक्तियों का संसर्ग मत करो, हंसी मखोल मत करो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. ना पुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए। 1/14
   बिना पूछे मत बोलो और पूछने पर झूठ मत बोलो।
4. 'कोहं असच्चं कुवेज्जा' 1/14
   क्रोध को विफल करो
5. अप्पा दन्तो सुही होइ। 1/15
   सुख उसे मिलता है जो आत्मा को जीत लेता है।
6. सुई धम्मस्सदुल्लहा। 3/8
   धर्म सुनना बहुत दुर्लभ है।
7. सोही उज्जुयभूयस्स। 3/12
   पवित्र वह है जो सरल है।
8. धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई। 3/12
   धर्म का वास पवित्र आत्मा में होता है।
9. घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं। 4/6
   समय बड़ा निर्मम है और शरीर बड़ा निर्बल है।
10. कम्मसच्चाहु पाणिणो 7/20
    किया हुआ कर्म कभी विफल नहीं होता।
11. समयं गोयम! मा पमायए। 10/1
    एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत करे।

4.3.4 उत्तराध्ययन के व्याख्या ग्रन्थ

उत्तराध्ययन एक महत्त्वपूर्ण आगम है। इसकी महत्ता का एक साक्ष्य है इस पर विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गए व्याख्या ग्रन्थ। जितने व्याख्या ग्रन्थ उत्तराध्ययन में उपलब्ध होते हैं शायद अन्य किसी आगम के नहीं हैं। उत्तराध्ययन के कुछ व्याख्या ग्रन्थों की संक्षिप्त जानकारी यहां दी जा रही है—

निर्युक्ति—उत्तराध्ययन में प्राप्त व्याख्या ग्रन्थों में निर्युक्ति सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें 5567 गाथाएं हैं। यह लघुकृति है किन्तु इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध हैं। इसलिए यह उत्तरवर्ती सभी व्याख्या ग्रन्थों की आधार-भित्ति रही है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु है जिनका समय वि. की छठी शताब्दी रहा है।

चूर्णि—यह प्राकृत-संस्कृत में लिखी गई उत्तराध्ययन की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें अंतिम अठारह अध्ययनों का व्याख्यान बहुत ही संक्षिप्त है। ग्रन्थ की प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपना परिचय 'गोपालिक महत्तर शिष्य' के रूप में दिया है। इनका अस्तित्वकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है।

शिष्यहिता (बृहद्वृत्ति या पाइय टीका)—उत्तराध्ययन की संस्कृत व्याख्याओं में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अवतरणात्मक कथाएं प्राकृत में गृहीत हैं। इसके रचनाकार हैं—वादी वेताल शांतिसूरि। इनका अस्तित्वकाल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है।

सुखबोधा—यह वृहद्वृत्ति से समुद्धृत लघु वृत्ति है। इसके कर्त्ता नेमिचन्द्रसूरि हैं। इस वृत्ति का रचनाकाल विक्रम की 12वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

सर्वार्थसिद्धि—इसके रचयिता भावविजय हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की 17वीं शताब्दी है। इसमें पद्यबद्ध कथाएं हैं।

इनके अतिरिक्त अवचूरि, वृत्ति, दीपिका, टीका, टब्बा आदि बीसों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो मुख्य व्याख्या ग्रन्थों के उपजीवी हैं एवं उनके नाम, कर्त्ता व रचनाकाल का भी स्पष्ट निर्देश मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रस्तुत पाठ में सब अध्ययनों की विस्तृत जानकारी नहीं दी जा सकती। इस पाठ में उत्तराध्ययन का पहला अध्ययन ही विवेच्य है पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति इस आगम ग्रन्थ का आद्योपांत पारायण करता है उस पर मनन-चिन्तन व अनुप्रेक्षा करता है वह नये-नये तथ्यों को प्राप्त कर सकता है।

4.4 प्रथम अध्ययन : विनयश्रुत (विनय स्वरूप)

भगवान् महावीर की साधना पद्धति का एक अंग है तपोयोग। तपोयोग के बारह प्रकारों में आठवां प्रकार है विनय। विनय को जिनशासन का मूल माना गया है। जो विनय रहित है उसे धर्म और तप प्राप्त नहीं होता।

विनय के सात अंग प्राप्त होते हैं—

1. ज्ञान विनय 2. दर्शन विनय 3. चारित्र विनय
4. मन विनय 5. वचन विनय 6. काय विनय
7. लोकोपचार विनय।

यहां प्रस्तुत अध्ययन में सभी प्रकार के विनयों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। प्राचीनकाल में विनय का बहुत महत्त्व रहा है।

आचार्य बट्टकेर ने विनय का उत्कर्ष बताते हुए कहा—विनय विहीन व्यक्ति की सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल विनय है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति शिक्षित है और विनीत नहीं है।

विनय को कुछ अज्ञानी लोग मानसिक दासता के साथ जोड़ते हैं पर वस्तुतः विनय दासता नहीं आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं का प्रकटीकरण है। उसकी पृष्ठभूमि में आत्मविशुद्धि, कलह आदि दुष्प्रवृत्तियों का अभाव, सरलता, मृदुता, अनासक्ति, भक्ति प्रसन्नता आदि गुण निहित हैं।

विनय के व्यावहारिक फल हैं—कीर्ति और मैत्री। विनय करने वाला अपने अभिमान का निरसन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करता है।

सूत्रकार ने विनीत को बहुत ही ऊंचा स्थान दिया है। उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि जैसे पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।

इस प्रकार विनय के स्वरूप एवं तज्जनित फल का बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रथम अध्ययन में हुआ है।

(1) **संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।**
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

अर्थ—जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय को क्रमशः प्रकट करूंगा। मुझे सुनो।

टिप्पण—(संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो)

संयोग का अर्थ है—सम्बन्ध। वह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। माता-पिता आदि का पारिवारिक सम्बन्ध 'बाह्य संयोग' है और विषय, कषाय आदि का सम्बन्ध 'आभ्यन्तर संयोग' है। भिक्षु को इन दोनों संयोगों से मुक्त होना चाहिए।

वृक्ष चलते नहीं इसलिए उन्हें 'अग' कहा जाता है। प्राचीनकाल में प्रायः घर वृक्ष की लकड़ी (काठ) से बनाए जाते थे इसलिए घर का नाम 'अगार' हुआ। जिसके 'अगार' नहीं होता, वह 'अनगार' है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार भिक्षु दूसरों के लिए बने हुए घरों में रहते हुए भी उन पर ममत्व नहीं करता, इसलिए वह 'अनगार' है।

संयोगों से विप्रमुक्त, अनगार और भिक्षु—ये तीनों शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों का पौर्वापर्य सम्बन्ध है। जो व्यक्ति सभी प्रकार के संयोगों से मुक्त होता है, उसके लिए सामाजिक जीवन की समाप्ति हो जाती है। समाज का अर्थ है—सम्बन्ध चेतना का विकास। मुनि सामाजिक नहीं होता। वह किसी भी प्रकार से किसी से सम्बद्ध नहीं होता। वह सम्बन्धातीत जीवन जीता है। यह मुनि बनने की प्रथम भूमिका है। जो सम्बन्ध-मुक्त होता है, वह अकिंचन होता है। उसका अपना घर भी नहीं होता। वह अनगार होता है। फिर प्रश्न होता है कि जब व्यक्ति सम्बन्धातीत हो चुका है, जिसके कोई घर नहीं है, तो उसकी आजीविका कैसे चलती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह भिक्षाचारी हो, भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करे।

इस प्रकार ये तीनों शब्द एक ही शृंखला में शृंखलित हैं। एक शब्द में कहा जा सकता है कि जो सम्बन्धातीत जीवन जीता है जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, घर भी नहीं होता, वह सम्पूर्ण विश्व की सम्पदा का सहज स्वामी बन जाता है।

4.4.1 गुरु-शिष्य सम्बन्ध

शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—विनय और विनत। विनय का अर्थ है—आचार और विनत का अर्थ है—नम्रता।

सुदर्शन सेठ ने थावच्चा पुत्र से पूछा—"भन्ते! आपके धर्म का मूल क्या है?" थावच्चा पुत्र ने कहा—'सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह दो प्रकार का है—अगारविनय और अनगार विनय। बारह व्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएं यह—'अगारविनय' और पांच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत, अट्ठारह पापों का विरमण, दस प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएं—यह 'अनगार विनय' है।'

(2) **आणा निद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।**
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥

अर्थ—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है।

टिप्पण—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है— **(आणानिद्देसकरे)**

'आज्ञा' और 'निर्देश' समान अर्थवाची हैं। वैकल्पिक रूप में आज्ञा का अर्थ—आगम का उपदेश और निर्देश का अर्थ—आगम से अविरुद्ध गुरु-वचन किया गया है।

शुश्रूषा करता है (उववायकारए)

चूर्णि में इसका अर्थ 'शुश्रूषा करने वाला' और टीका में इसका अर्थ 'समीप रहने वाला'—(जहां बैठा हुआ गुरु को दीखे और उनका शब्द सुन सके) किया है। उपपात, निर्देश, आज्ञा और विनय इन्हें एकार्थक भी माना गया है।

इंगित और आकार को (इंगियागार)

इंगित और आकार—ये दोनों शब्द शरीर की चेष्टाओं के वाचक हैं। किसी कार्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए शिर आदि को थोड़ा-सा हिलाना इंगित है। यह चेष्टा सूक्ष्म होती है। इसे निपुणमति वाले लोग ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समझ सकते हैं। आकार को स्थूल बुद्धिवाले लोग भी पकड़ सकते हैं। गुरु आसन से उठने की स्थिति में हो उसे देख सहज ही यह जाना जा सकता है कि ये प्रस्थान करना चाहते हैं। इसी प्रकार दिशाओं को देखना, जम्हाई लेना और चादर ओढ़ना—ये सब प्रस्थान की सूचना देने वाले 'आकार' हैं। इंगित और आकार पर्यायवाची भी माने गए हैं।

(3) आणाऽनिद्देसकरे गुरुणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई ॥

अर्थ—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता है, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और इंगित तथा आकार को नहीं समझता वह अविनीत कहलाता है।

टिप्पण—गुरु की शुश्रूषा नहीं करता (अणुववायकारए)

अविनीत शिष्य का गुरु की उपासना में मन नहीं लगता। वह गुरु से मानसिक दूरी बनाये रखता है। उसके मन में सदा यह भाव बना रहता है कि यदि मैं गुरु की उपासना करूंगा तो गुरु को उपालंभ देने का मौका अधिक मिलेगा। वह इस सत्य को विस्मृत कर देता है कि गुरु की प्रताड़ना में भी व्यक्ति का विकास एवं हित निहित है। **(पडिणीए असंबुद्धे)**

जो गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल वर्तन करता है, गुरु के कथन का प्रतिवाद करता है और जो सदा गुरु के दोष देखता रहता है, वह प्रत्यनीक कहलाता है।

जो मुनि गुरु के इंगित और आकार का सम्यक् अवबोध नहीं करता, वह असंबुद्ध होता है।

(4) जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥

अर्थ—जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है।

टिप्पण—(जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो)

शुनी शब्द का प्रयोग अत्यन्त गर्हा एवं कुत्सा को व्यक्त करने के लिए किया गया है।

'पूति' शब्द के दो अर्थ हैं—

1. कानों में जब कृमि उत्पन्न हो जाते हैं तब उनसे दुर्गन्ध फूटने लगती है।

2. जब कानों में पीब पड़ जाती है तब भयंकर दुर्गन्ध आने लगती है। तात्पर्य में इसका अर्थ होगा—वह कुतिया जिसके शरीर के सारे अवयव सड़-गल गए हों।

ऐसी कुतिया सभी स्थानों से निकाल दी जाती है। इसी प्रकार अविनीत सर्वत्र तिरस्कार का पात्र होता है। उसे कहीं भी सम्मान नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु ने इसी श्लोक के मंतव्य को सरस अभिव्यक्ति दी है—

कुह्या काना री कूतरी, तिण रे झरै कीड़ा राध लोही रे।
सगले ठाम स्यूं काढे हुड़, हुड़ करे, घर में आवण न दे कोई रे॥
धिग धिग अविनीत आतमा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4.2 अनुशासन प्रियता और अनुशासनहीनता

शील के तीन अर्थ हैं—स्वभाव, समाधि और आचार। जिसका शील राग-द्वेष तथा अन्यान्य दोषों से विकृत होता है वह दु:शील कहलाता है।

आचार और चारित्र विनय के पर्यायवाची हैं। वे परस्पर जुड़े हुए हैं। विनयशील का ही एक अंग है। विनय की फलश्रुति है—चारित्र। जो अविनीत होता है, वह दु:शील होता है। दु:शील व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है। प्राचीन श्लोक है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्तत: क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हत: ॥

बौद्ध साहित्य में मानसिक, वाचिक और कायिक अनाचार को दु:शील माना है।

वाचाल भिक्षु (मुहरी)

अविनीत व्यक्ति वाचाल होता है। वाचालता से व्यक्ति की लघुता सामने आती है। नीति का प्रसिद्ध श्लोक है—

मौखर्यं लाघवकरं, मौनमुन्नतिकारकम्।
मुखरौ नूपुरौ पादे, हार: कण्ठे विराजते ॥

(5) **कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।**
एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दु:शील में रमण करता है।

टिप्पण—चावलों की भूसी को (कणकुण्डगं)

चूर्णि और टीका में इसके दो अर्थ किए गए हैं—चावलों की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी। चूर्णिकार ने इसे पुष्टिकारक तथा सूअर का प्रिय भोजन कहा है।

अज्ञानी (मिए)

मृग के दो अर्थ हैं—हरिण और पशु। प्रस्तुत प्रसंग में पशु की लाक्षणिक विवक्षा से इसका अर्थ है—अज्ञानी या विवेकहीन व्यक्ति।

शील को (सीलं)

शील का अर्थ है—आचार अथवा संयम। मुनि का सम्पूर्ण आचार या संयम 'शील' शब्द से अभिहित होता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द 'विनीत' शिष्य के आचार की ओर इंगित करता है। सूत्रकार के अनुसार विनीत के शील का स्वरूप यह है—

1. गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करना।
2. गुरु के उपपात में बैठना, गुरु की शुश्रूषा करना।
3. गुरु के इंगित और आकार को जानना।
4. गुरु के अनुकूल वर्तन करना।
5. वाचालता का वर्जन करना, अल्पभाषी होना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(6) **सुणियाऽभावं साणस्स सूयरस्स नरस्स य।**
विणए ठवेज्ज अप्पाणं इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

अर्थ—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दु:शील मनुष्य के अभाव (हीनभाव) को सुनकर अपने आप को विनय में स्थापित करे।

टिप्पण—आत्मा का हित (हियमप्पणो)

आत्मा का ऐहिक और पारलौकिक हित विनय की आराधना से संभव है।

विनय की आराधना से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में निराबाध सुख उपलब्ध होता है।

अभाव (हीनभाव) को सुनकर (सुणियाऽभावं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—'श्रुत्वा अभावं' तथा 'श्रुत्वाभावं।' आकार को 'सुणिया' से युक्त मानने पर संस्कृत रूप 'श्रुत्वा अभावं' बनता है, अन्यथा 'श्रुत्वाभावं।' भाव का अर्थ है—अवस्था या स्थिति।

(7) **तम्हा विणयमेसेज्जा सीलं पडिलभे जओ।**
बुद्धपुत्त नियागट्ठी न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥

अर्थ—इसलिए विनय का आचरण करे कि जिससे शील की प्राप्ति हो। जो बुद्धपुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी होता है, वह कहीं से भी नहीं निकाला जाता।

टिप्पण—बुद्धपुत्र और मोक्ष का अर्थी बुद्धपुत्र नियागट्ठी

बुद्धपुत्र का अर्थ है—आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य और 'नियागट्ठी' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी।

(8) **निसन्ते सियाऽमुहरी बुद्धाणं अन्तिए सया।**
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए ॥

अर्थ—भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे, वाचालता न करे। उनके पास अर्थयुक्त पदों को सीखे और निरर्थक पदों का वर्जन करे।

(निसन्ते ..... अट्ठजुत्ताणि)

निसन्ते ..... चूर्णि और वृत्ति के आधार पर इसके तीन अर्थ फलित होते हैं—

1. जिसका अन्त:करण क्रोधयुक्त न हो।
2. जिसका बाह्याकार प्रशान्त हो।
3. जिसकी चेष्टाएं अत्यन्त शान्त हों।

अट्ठजुत्ताणि—इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं—1. आगम-वचन, 2. मोक्ष के उपाय, 3. अर्थ सहित।

(9) **अणुसासिओ न कुप्पेज्जा खंतिं सेविज्ज पण्डिए।**
खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए ॥

अर्थ—पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे। क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा न करे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रीड़ा (कीडं)

इसका सामान्य अर्थ है—खेल-कूद, किलोल आदि। शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—अन्त्याक्षरी, प्रहेलिका आदि से उत्पन्न कुतूहल किया है। चूर्णिकार ने विकल्प में दोनों शब्दों (हासं कीडं) का समुच्चयार्थ 'क्रीड़ापूर्वक हास्य' किया है।

(10) मा य चण्डालियं कासी बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता तओ झाएज्ज एगगो ॥

अर्थ—भिक्षु चण्डालोचित कर्म (क्रूर-व्यवहार) न करे। बहुत न बोले। स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे।

चण्डालोचित कर्म (क्रूर व्यवहार) (चण्डालियं)

चूर्णि में इसका मुख्य अर्थ क्रोध और असत्य भाषण किया है। बृहद्वृत्ति में इसका मुख्य अर्थ क्रोध के वशीभूत हो असत्य भाषण करना और विकल्प में क्रूर कर्म किया है।

अकेला ध्यान करे (झाएज्ज एगगो)

इस शब्द से एक लौकिक प्रतिपत्ति का संकेत मिलता है कि ध्यान अकेला करे, अध्ययन दो व्यक्ति करें और ग्रामान्तर-गमन तीन आदि व्यक्ति करें। भोजन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियां मण्डली में की जाती है। ध्यान मण्डली में नहीं किन्तु अकेले में किया जाता है। इस प्राचीन परम्परा का ही यहां निर्देश है।

वर्तमान में सामूहिक ध्यान (ग्रुप मेडिटेशन) को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें शक्ति-सम्पन्न साधकों के प्रकम्पनों से निर्बल साधक सहज ही लाभान्वित हो जाते हैं। उनकी एकाग्रता को एक सहारा मिल जाता है और वे ध्यान की गहराई में जाने लगते हैं।

प्राचीन परम्परा के अनुसार दिन के चार प्रहरों में मुनि पहले और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे प्रहर में ध्यान करे। इसी प्रकार रात्रि के चार प्रहरों में मुनि पहले और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे प्रहर में ध्यान करे। दिन-रात में चार प्रहर स्वाध्याय के और दो प्रहर ध्यान के होते हैं।

(11) आहच्च चण्डालियं कट्टु न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा अकडं नो कडे त्ति य ॥

अर्थ—भिक्षु सहसा चण्डालोचित कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए। अकरणीय किया हो तो 'किया' और नहीं किया हो तो 'न किया' कहे।

4.4.3 विनीत-अविनीत शिष्य

(12) मा गलियस्से व कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे पावगं परिवज्जए ॥

अर्थ—जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन (आदेश-उपदेश) को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(गलियस्स—आइण्णे)

गलियस्स—इसका अर्थ है अविनीत घोड़ा।

आइण्णे—इसका अर्थ है विनीत घोड़ा। आकीर्ण, विनीत और भद्रक—ये तीन शब्द विनीत घोड़े और बैल के पर्यायवाची हैं।

(पावगं परिवज्जए)

इसका अर्थ है—मुनि अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे। बृहद्वृत्तिकार ने 'पावगं पडिवज्जइ' को पाठान्तर मानकर उसका अर्थ पावक अर्थात्—शुभ अनुष्ठान को स्वीकार करता है, किया है।

(13) **अणासवा थूलवया कुसीला मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा।**
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

अर्थ—आज्ञा को न मानने वाले और अंट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य दुराशय गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

(लहुदक्खोववेया)

लघुदाक्ष्य का अर्थ होगा—क्रियाशील, क्षमता, सूक्ष्म निपुणता, अविलम्बकारिता।

दुराशय (दुरासयं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—दुराशयः और दुराश्रयः।

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने 'दुराश्रय' शब्द मानकर इसका अर्थ किया है—अति कुपित स्वभाव वाले गुरु का आश्रय लेना अत्यन्त कष्टप्रद होता है। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—शीघ्र कुपित होने वाला किया है।

व्याख्याकारों ने इस प्रसंग में एक कथा प्रस्तुत की है—

आचार्य चन्द्ररुद्र

आचार्य चन्द्ररुद्र अत्यन्त क्रोधी थे। एक बार वे अपने शिष्यों के साथ उज्जयिनी नगरी में आए। वे एकान्त में स्वाध्यायरत थे। इतने में ही एक नव विवाहित युवक अपने मित्रों के साथ वहां आया और उपहासपूर्वक साधुओं को वंदना कर बोला—भंते! मुझे धर्म की बात बताएं। साधु उसके उपहास को समझ कर मौन रहे। वह युवक फिर बोला—भंते! आप मुझे दीक्षा दें। मैं गृहवास से उदासीन हो गया हूँ। मेरे दारिद्र्य को देखकर मेरी पत्नी ने भी मुझे छोड़ दिया है। मेरे पर कृपा करें और मेरा उद्धार करें। साधुओं ने उसे आचार्य के पास भेजा। वह आचार्य से बोला—मुझे प्रव्रजित करें। मैं गृहवास से ऊब गया हूँ। आचार्य ने उसकी वाणी के उपहास को भांपकर रोषपूर्ण वाणी में कहा—जा, राख ले आ। वह गया। राख ले आया। आचार्य उसका लुंचन करने लगे। मित्र घबराए। उन्होंने अपने उस मित्र से कहा—भाग जा। अन्यथा मुनि बनना पड़ेगा। अभी-अभी तो तेरा विवाह हुआ है। उसने सोचा, अब घर कैसे जाऊं? लोच हो गया है। वह मुनि बन गया, भाव श्रमण हो गया। मित्र वहां से भाग खड़े हुए।

दूसरे दिन उस नव प्रव्रजित शिष्य ने आचार्य चन्द्ररुद्र से कहा—भंते! यहां से अन्यत्र चलें। क्योंकि मेरे परिवार वाले मुझे घर चलने के लिए बाध्य करेंगे। रात्रि में आचार्य ने अपने उस नव शिष्य के साथ प्रस्थान कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दिया। शिष्य आगे चल रहा था। चलते-चलते अन्धकार की सघनता के कारण आचार्य को ठोकर लगी और वे गिर पड़े। उन्होंने क्रोध के वशीभूत होकर दण्डे से शिष्य पर प्रहार किया, सिर फूट गया, पर शिष्य ने उस पीड़ा को समभाव से सहा। उसने सोचा, मैं कितना अधम हूँ कि अपने शिष्यों के साथ सुखपूर्वक रहने वाले आचार्य को मैंने इस विपत्ति में डाला। वह पवित्र अध्यवसायों की श्रेणी में आगे बढ़ा और केवली हो गया।

रात बीती। आचार्य ने रूधिर से अवलिप्त शिष्य के शरीर को देखा। मन ही मन अपने कृत्य के प्रति ग्लानि हुई। शुभ अध्यवसायों के आलोक में स्वयं के कृत्य की निन्दा की और वे भी केवली हो गए।

शिष्य ने अपने मृदु व्यवहार से शीघ्र कुपित होने वाले अपने गुरु को भी मृदु बना दिया।

(14) नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं ॥

अर्थ—बिना पूछे कुछ भी न बोले। पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध आ जाए तो उसे विफल कर दें। प्रिय और अप्रिय को धारण करे—राग और द्वेष न करें।

(नापुट्ठो वागरे किंचि)

इसके दो अर्थ हैं—

1. गुरु जब तक 'यह कैसे?' ऐसा न पूछे तब तक शिष्य कुछ भी न बोले, मौन रहे।
2. गुरु ही नहीं, किसी के बिना पूछे कभी कुछ न कहे।

(कोहं असच्चं कुव्वेज्जा)

दो भाई अपनी मां के साथ रह रहे थे। एक भाई को शत्रु ने मार ड़ाला। मां ने अपने बेटे से कहा—बेटे! तेरे भाई की हत्या करने वाले को पकड़ और उसको मार डाल। बेटे का पौरुष जाग उठा। वह उस घातक की टोह में चल पड़ा। बारह वर्षों के पश्चात् वह मिला। उसका निग्रह कर वह उसे मां के समक्ष ला खड़ा किया। उसने कहा—माँ, मैं शरणागत हूँ। आप चाहें तो मारे या उबारें। मां का मन करुणा से भर गया। बेटे ने कहा—मां! इस भ्रातृघातक को देखकर मेरा रोम-रोम कुपित हो रहा है। कैसे सफल करूं अपने क्रोध को? मां बोली बेटे! क्रोध को पीना सीखो। सर्वत्र उसको सफल मत करो। याद रखो।

शरण में आए हुए प्रणत और विपत्ति में पड़े हुए तथा व्याधि से पंगु बने हुए लोगों पर कभी प्रहार मत करो। बेटे का क्रोध शांत हुआ। उसने अपने भ्रातृघातक को मुक्त कर डाला।

(धारेज्जा पियमप्पियं)

एक बार पूरा नगर भयंकर रोग से आक्रान्त हो गया। राजा और पौरजन अत्यन्त दु:खी हो गए। वहां तीन भूतवादी आए और बोले—राजन्! हमारे पास शक्तिशाली भूत हैं। हम सारे नगर का उपद्रव शांत कर देंगे। राजा ने तीनों से कहा—अपने-अपने भूतों का परिचय दो।

पहला भूतवादी बोला—मेरा भूत अत्यन्त सुन्दर रूप बनाकर नगर की गलियों में क्रीड़ा करेगा। यदि कोई उसको देखेगा, वह रुष्ट होकर उसको मार डालेगा। जो उसको देखकर नमन करेगा, वह रोगमुक्त हो जाएगा। राजा ने कहा—ऐसा भूत नहीं चाहिए।

दूसरे भूतवादी ने कहा—राजन्! मेरा भूत अत्यन्त विकराल रूप बनाकर सड़कों पर नाचेगा। यदि कोई उसका उपहास करेगा तो वह उसका सिर फोड़ डालेगा। जो उसकी प्रशंसा कर पूजा करेगा, वह रोगमुक्त हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाएगा। राजा—ऐस भूत भी खतरनाक होता है। तीसरे भूतवादी ने कहा—राजन्! मेरा भूत सीधा-सादा है। उसकी कोई पूजा करे या उपहास करे, वह सबको रोगमुक्त कर देता है। राजा ने कहा—'ऐसा भूत ही हमें चाहिए।' उस भूत ने सारी विपत्ति नष्ट कर दी, सारे नगर को रोगमुक्त कर डाला।

(15) अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥15॥

अर्थ—आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

दमन करना चाहिए (दमेयव्वो)

दमन का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों तथा मन को उपशांत करना। विषय दो प्रकार के होते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ। मनोज्ञ विषयों के प्रति राग या आसक्ति और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष या घृणा उत्पन्न होती है। इस वृत्ति पर विवेक के जागरण का अंकुश लगाना दमन है।

प्रस्तुत श्लोक में आत्मा का अर्थ इन्द्रिय और मन है। आत्म-दमन का अर्थ होगा—इन्द्रिय और मन का निग्रह। जैसे वल्गा को खींचकर अश्व को नियंत्रित किया जाता है वैसे ही इन्द्रिय और मन के अश्व को नियंत्रण में रखना आत्म-दमन है।

दण्डनीति में जो दमन का अर्थ है, वह यहां नहीं है। विधि-संहिता के अनुसार अपराधी का अभियोग और बलपूर्वक दमन किया जाता है। अध्यात्म-संहिता के अनुसार एक व्यक्ति अपनी पूरी स्वतन्त्रता के साथ अहिंसक विधि के द्वारा अपने इन्द्रिय और मन की चंचल प्रवृत्ति का नियंत्रण करता है। यही आत्म-दमन है।

(16) वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य ॥6॥

अर्थ—अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूं। दूसरे लोग बंधन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

'वरं मे अप्पा दंतो' के प्रसंग में वृत्तिकार ने निम्नकथा प्रस्तुत की है—

गन्धहस्ती सेचनक

एक घना जंगल। वहां हाथियों का यूथ रहता था। यूथपति उस यूथ में नए उत्पन्न होने वाले सभी गज-कलभों को मार डालता था। एक बार गर्भिणी हथिनी ने सोचा, मेरे यदि बच्चा पैदा होगा तो यह यूथपति उसे मार डालेगा। अच्छा है, मैं यहां से छिटक जाऊं। एक बार अवसर देखकर वह वहां से निकलकर पास में ऋषि आश्रम में चली गई। ऋषिकुमारों ने उसे आश्रय दिया। उसने कलभ का प्रसव किया। वह उन ऋषिकुमारों के साथ वाटिका का सिंचन करने लगा। उन्होंने उसका नाम 'सेचनक' रखा। वह बड़ा हुआ। यूथपति को देखकर उस पर झपटा। उसे मारकर स्वयं उस यूथ का स्वामी बन गया। एक बार उसने कुछ सोचा और जिस आश्रम में वह जन्मा, बड़ा हुआ, उसी को विनष्ट कर डाला। ऋषिकुमार जान बचाकर राजा श्रेणिक के पास गए और सेचनक गन्धहस्ति की बात कही। राजा स्वयं उसे पकड़ने गया। वह गन्धहस्ति एक देवता द्वारा परिगृहित था। उसने हाथी से कहा—वत्स! तुम स्वयं अपना निग्रह करो। दूसरों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्वारा बंधन और वध आदि से निग्रहित होना अच्छा नहीं है। यह सुनकर हाथी आश्वस्त हुआ और स्वयं ही आलान स्तम्भ पर आकर खड़ा हो गया।

(17) पडिणीयं च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से नेव कुज्जा कयाइ वि ॥7॥

अर्थ—लोगों के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्यों के प्रतिकूल वर्तन न करें।

टिप्पण—शिष्य गुरु के प्रतिकूल आचरण न करे। न वह वाणी से यह कहे—तुम कुछ नहीं जानते अथवा गुरु के समक्ष या परोक्ष में वाणी से उनके विरुद्ध न बोले तथा कर्म से अर्थात् क्रिया से वह आचार्यों और उपाध्याय के शय्या-संस्तारक पर न बैठे, हाथ-पैर से उनका संघटन न करे तथा आते-जाते उन पर पैर रखकर न चले।

(18) न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे उरुणा उरुं सयणे नो पडिस्सुणे ॥

अर्थ—आचार्यों के बराबर न बैठे। आगे और पीछे भी न बैठे। उनके उरु से अपना उरु सटाकर न बैठे। बिछौने पर बैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोड़कर स्वीकार करें।

आचार्यों के (किच्चाण)

कृति का अर्थ है—वन्दना। जो वन्दना के योग्य होते हैं उन्हें कृत्य-आचार्य कहा जाता है। आचार्य के समक्ष शिष्य को किस प्रकार नहीं बैठना चाहिए, इसका निर्देश करते हुए सूत्रकार चार बातों का उल्लेख करते हैं।

शिष्य गुरु के दाएं-बाएं न बैठे, क्योंकि गुरु को इधर-उधर देखने में गले और कंधे में पीड़ा हो सकती है।

शिष्य को गुरु के निकट आगे भी नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि गुरु-वन्दना के लिए आने वाले लोगों को गुरु के मुखारबिन्द का दर्शन न होने पर उनके मन में अप्रीति उत्पन्न हो सकती है। शिष्य गुरु के पीछे भी न बैठे, क्योंकि दोनों को, गुरु और शिष्य को, एक-दूसरे का मुंह न दीखने के कारण वह रसवत्ता पैदा नहीं होती जो रसवत्ता मुखदर्शन से होती है।

शिष्य गुरु से सटकर न बैठे, क्योंकि पूज्य व्यक्तियों के अंग संघटन से आशातना होती है और यह अविनय का प्रतीक है।

(19) नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥

अर्थ—संयमी मुनि गुरु के समीप पलथी लगाकर (घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर) न बैठे। पक्ष-पिण्ड कर (दोनों हाथों से घुटनों और साथल को बांधकर) तथा पैरों को फैलाकर न बैठे।

(पल्हत्थियं ..... पक्खपिण्ड)

पल्हत्थियं—घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठने को पर्यस्तिका कहा जाता है। पक्खपिण्डं—दोनों हाथों से घुटनों और साथल को वेष्टित कर बैठना, पक्ष पिण्ड कहलाता है। यह आसन अशिष्टता सूचक माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(20) **आयरिएहिं वाहिन्तो तुसिणीओ न कयाइ वि।**
पसायपेही नियागट्ठी उवचिट्ठे गुरुं सया ॥

अर्थ—आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर किसी भी अवस्था में मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

बुलाए जाने पर (वाहिन्तो)

चूर्णि और दोनों वृत्तियों में 'वाहिन्तो' पाठ है। उसका संस्कृत रूप 'व्याकृत' है। उत्तरवर्ती प्रतियों में यह पाठ 'वाहित्तो' के रूप में प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका संस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' दिया है। परन्तु 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अतः शब्द और अर्थ की दृष्टि से यह उचित नहीं है।

इस शब्द के संदर्भ में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा कि गुरु के द्वारा बुलाए जाने पर शिष्य अपने आपको धन्य माने। उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है—

धन्नाण चेव गुरुणो, आदेसं देंति गुणमहोयहिणो।
चंदणरसो अपुन्नाण निवडए नेय अंणम्मि ॥

गुणों के सागर आचार्य योग्य शिष्य को ही आदेश देते हैं। जो क्षीणपुण्य हैं, क्या उनके शरीर पर कभी चन्दनरस का पात होता है?

समीप रहे (उवचिट्ठे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पास में बैठना' किया है। टीकाओं में इसका अर्थ है—'मैं आपका अभिवादन करता हूं'—ऐसा कहता हुआ शिष्य सविनय गुरु के पास चला जाये।

(21) **आलवन्ते लवन्ते वा न निसीएज्ज कयाइ वि।**
चइऊणमासणं धीरो जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥

अर्थ—धृतिमान शिष्य गुरु के साथ आलाप करते और प्रश्न पूछते समय कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर संयतमुद्रा में यत्नपूर्वक स्वीकार करें।

(आलवन्ते लवन्ते वा)

आलाप और लपन—ये दो शब्द हैं। आलाप का अर्थ है—थोड़ा बोलना या प्रश्न आदि पूछना। लपन का अर्थ है—बार-बार बोलना या अनेक प्रकार से बोलना।

(22) **आसणगओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जागओ कया।**
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥

अर्थ—आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे। उनके समीप आकर ऊकडू बैठे, हाथ जोड़कर पूछे।

ऊकडू बैठ (उक्कुडुओ)

स्थानांग में पांच प्रकार के निषद्या का उल्लेख है। उनमें उत्कुटुका एक निषद्या है। दोनों पैरों को भूमि पर टिकाकर, दोनों पुतों को भूमि से न छुआते हुए, जमीन पर बैठना उत्कटुकासन है। इसका प्रभाव वीर्यग्रन्थियों पर पड़ता है। यह विनय की एक मुद्रा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(23) **एवं विणयजुत्तस्स सुत्तं अत्थं च तदुभयं।**
पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरेज्ज जहा सुयं ॥

अर्थ—इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो, उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र और अर्थ दोनों) जैसे सुने हों, जाने हुए हों, वैसे बताएं।

जो शिष्य विनययुक्त हो (विणयजुत्तस्स)

विनययुक्त मुनि का व्यवहार कैसा हो? वह गुरु के सम्मुख अपनी जिज्ञासा को कैसे प्रस्तुत करे? वह गुरु के समक्ष कैसे अवस्थित रहे—इन प्रश्नों के संदर्भ में सूत्रकार ने कुछ निर्देश दिए हैं—

मुनि आसन पर आसीन होकर तथा शय्या पर स्थित होकर गुरु से जिज्ञासा न करे। वह गुरु के पास उपस्थित होकर, दोनों हाथ जोड़कर उत्कटुक आसन में बैठकर जिज्ञासा करे। वर्तमान में उत्कटुक आसन के स्थान पर वंदनासन में बैठने की परम्परा प्रचलित है।

सूत्र अर्थ और तदुभय (सुत्तं अत्थं च तदुभयं)

आगम की रचनाशैली तीन प्रकार की है—

1. सूत्रात्मक शैली—यह संक्षिप्त होती है।
2. अर्थात्मक शैली—यह व्याख्यात्मक होती है।
3. तदुभयात्मक शैली—यह कहीं सूत्रात्मक और कहीं व्याख्यात्मक—दोनों प्रकार की होती है।

(24) **मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणिं वए।**
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥

अर्थ—भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चयकारिणी भाषा न बोले। भाषा के दोषों को छोड़े। माया का सदा वर्जन करे।

टिप्पण—प्रस्तुत श्लोक में असत्य और निश्चयकारिणी भाषा न बोलने तथा भाषा के दोषों के परिहार का निर्देश है।

असत्य भाषण के छह दोष ये हैं—

1. धर्म की हानि	2. अविश्वास	3. शारीरिक उत्ताप
4. अर्थ की हानि	5. निन्दा	6. दुर्गति

(25) **न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।**
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥

अर्थ—किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही सावद्य न बोले और मर्मभेदी वचन न बोले।

दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही (उभयस्सन्तरेण)

टीकाओं में इसका अर्थ है—दोनों (अपने और पराए) के प्रयोजन के लिए अथवा प्रयोजन के बिना। चूर्णि में इसका अर्थ दो या बहुत व्यक्तियों के बीच में बोलना किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निरर्थक (निरट्ठं)

सुखबोधा टीका में इस शब्द की व्याख्या में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है—

एष वन्ध्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखरः।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृंगधनुर्धरः ॥

देखो, यह बांझ का बेटा जा रहा है। यह आकाश कुसुमों का सेहरा बांधे हुए है। इसने मृगतृष्णा के पानी में स्नान कर, हाथ में खरगोश के सींग का धनुष ले रखा है।

मर्मभेदी वचन (मम्मयं)

मर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—रहस्यमय, कटुक, पीड़ाकारक। वृत्तिकार ने यहां इसकी व्याख्या कटुवचन के रूप में की है। काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना—मर्मभेदी वचन है। यह यथार्थ होने पर भी मर्म को छूता है। यह अति संक्लेशकारी होता है।

(26) **समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे।**
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥26॥

अर्थ—कामदेव के मंदिरों में, घरों में, दो घरों की बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे।

समरेसु अगारेसु सन्धीसु

इसका अर्थ है कामदेव सम्बन्धी या कामदेव का मंदिर।इस शब्द के द्वारा संदेहास्पद स्थान का ग्रहण इष्ट है।

(27) **जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।**
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥

अर्थ—आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए है—ऐसा सोचकर, जागरूकतापूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करें।

सीएण फरुसेण

सीएण—मधुर वचन, शीत।

फरुसेण—स्नेह वर्जित, निष्ठुर या कर्कश वचन।

(28) **अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।**
हियं तं मन्नए पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥28॥

अर्थ—मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन हित साधन का उपाय और दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

(29) **हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं अणुसासणं।**
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥

अर्थ—भय मुक्त बुद्धिमान शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु मोहग्रस्त व्यक्तियों के लिए वही सहिष्णुता और चित्तशुद्धि करने वाला, गुणवृद्धि का आधारभूत अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भयमुक्त (विगयभया)

'विगयभय' का एक अर्थ है—भयमुक्त। इसका वैकल्पिक अर्थ होता है—भय-प्राप्त। मुनि के मन में एक भय समा जाता है। वह सोचता है—यदि मैं गुरु के कठोर अनुशासन का पालन नहीं करूंगा तो दूसरों में मेरा अपमान होगा। दूसरे मुनि मेरे बारे में क्या सोचेंगे—इस अवधारणा से वह गुरु के अनुशासन को हितकर मानता है। यह रचनात्मक भय है। यह अनेक बार मुनि के जीवन में रचनात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन का हेतु बनता है।

(30) **आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे।**
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥

अर्थ—जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान हो और स्थिर हो (जिसके पाये धरती पर टिके हुए हों), वैसे आसन पर बैठे। प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे और प्रयोजन के बिना तो उठे ही नहीं। बैठे तब स्थिर एवं शांत होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

हाथ-पैर आदि से चपलता न करे (अप्पकुक्कुए)

यहां अल्प शब्द निषेधवाची है।

(31) **कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।**
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥

अर्थ—समय पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आए। काल का वर्जनकर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय पर करें।

टिप्पण—'काले कालं समायरे'—यह मुनि की समाचारी का द्योतक है। मुनि को विविध क्रियाओं में संलग्न होना होता है। यदि वह प्रत्येक क्रिया को उचित काल में या निर्धारित समय में सम्पन्न करता है, तो सारी क्रियाएं ठीक समय पर परिसम्पन्न होती हैं।

जिस देश या समाज में भिक्षा का जो काल है, मुनि उसी समय पर भिक्षा के लिए निकले। क्योंकि अकाल में जाने पर मुनि को खिन्न होना पड़ता है, आत्म-क्लामना होती है। वह समय पर जाए और समय पर ही लौट आए। यदि भिक्षा प्राप्त न हो तो वह घूमता ही न रहे। वह इस सूत्र का स्मरण करे कि भगवान् ने कहा है—'अलाभो त्ति न सोएज्जा तवोत्ति अहियासए' अप्राप्ति में दीन न बनें। स्वतः तपस्या होती है, ऐसा सोचे। मुझे थोड़ा मिला या नहीं मिला—ऐसा सोचकर घर-घर न भटके। केवल घूमते रहने से अन्यान्य क्रियाओं का काल अतिक्रान्त हो जाता है। तब वह न समय पर प्रतिलेखन कर सकता है और न स्वाध्याय-ध्यान कर सकता है।

(32) **परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।**
पडिरुवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥

अर्थ—भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे। गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। प्रतिरूप (मुनि के वेष) में एषणा कर यथासंभव मित आहार करे।

परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे (परिवाडीए न चिट्ठेज्जा)

परिपाटी के दो अर्थ प्राप्त हैं—गृह पंक्ति और भोजन के लिए बैठे हुए व्यक्तियों की पंक्ति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. गृह पंक्ति—मुनि एक स्थान पर खड़ा रहकर घरों की लम्बी पंक्ति से लाया जाने वाला आहार न ले। क्योंकि दूर के घरों से भिक्षा लाने वाले गृहस्थ की अयत्ना का सम्यग् अवबोध नहीं हो सकता।

2. जहां भोजन करने वाले गृहस्थों की पंक्ति लगी हो, मुनि उस पंक्ति में खड़ा न रहे। क्योंकि इससे गृहस्थों के मन में अप्रीति और अदृष्टकल्याणता (अकल्याण दर्शन) आदि दोष संभव हो सकते हैं।

प्रतिरूप (मुनि-वेष) (पडिरूवेण)

प्रतिरूप शब्द के तीन अर्थ किए हैं—

1. प्रतिरूप—शोभन रूप वाला
2. प्रतिरूप—उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात् रजोहरण, गोच्छग और पात्रधारी
3. प्रतिरूप—जिन-प्रतिरूपक यानी तीर्थं की भांति हाथ में भोजन करने वाला।

इनका प्रकरणगत अर्थ यह है कि मुनि स्थविरकल्पी या जिनकल्पी जिस वेश में हो उसी वेश में भिक्षा करे।

(33) नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघिया तं नइक्कमे ॥

अर्थ—पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति दूर या अति समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता दोनों की दृष्टि से बचकर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लांघकर भक्त लेने के लिए न जाए।

टिप्पण—इससे पूर्ववर्ती श्लोक में 'मियं कालेण भक्खए' इस पद द्वारा भोजन विधि का उल्लेख हो चुका है, फिर भी इस श्लोक में पुनः भिक्षाटन करने की जो बात कही है, उसकी संगति इस प्रकार होती है—साधु सामान्यतः एक बार ही भिक्षा के लिए जाए परन्तु ग्लान के निमित्त या जो आहार मिला उससे क्षुधा शांत न होने पर वह साधु पुनः भिक्षा के लिए जाए।

(34) नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥

अर्थ—संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार लें किन्तु अति ऊंचे या अति नीचे स्थान से लाया हुआ तथा समीप या अति दूर से दिया जाता हुआ आहार न लें।

टिप्पण—इस श्लोक का प्रथम चरण 'नाइउच्चे व नीए वा'—ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत नामक भिक्षा के दोषों की ओर संकेत करता है। वृत्तिकार ने इसके कुछ वैकल्पिक अर्थ दिए हैं—

(क) 1. स्थान की अपेक्षा : ऊंचे स्थान पर खड़े न रहे।
2. शारीरिक मुद्रा की अपेक्षा : कंधों को उचकाकर अकड़कर खड़ा न रहे।
3. भाव की अपेक्षा : 'मै लब्धि सम्पन्न हूं' इस अहंकारपूर्ण अवस्था में न जाए।

(ख) 1. स्थान की अपेक्षा : नीचे स्थान पर खड़ा न रहे।
2. शारीरिक मुद्रा की अपेक्षा : कंधों को नीचा कर दीनता की अवस्था में खड़ा न रहे।
3. भाव की अपेक्षाः मैं कितना मंदभाग्य हूं कि मुझे आज कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। इस दीन अवस्था में न रहे।

प्रासुकः इसका अर्थ है—बीज रहित, निर्जीव, निर्दोष या विशुद्ध।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(35) **अप्पपाणेऽप्पबीयंमि पडिच्छन्नंमि संवुडे।**
समयं संजए भुंजे जयं अपरिसाडयं ॥

अर्थ—संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित, ऊपर से ढ़के हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, यत्नपूर्वक आहार करें।

प्राणी और बीज रहित (अप्पपाणेऽप्पबीयंमि)

अप्पपाणे—इसका अर्थ है—प्राणी-रहित स्थान में।

शान्त्याचार्य ने तर्क उपस्थित किया है कि इस चरण में आए हुए दो शब्दों 'अल्प-प्राण' और 'अल्प-बीज' में अल्पबीज शब्द निरर्थक है क्योंकि प्राण शब्द से समस्त प्राणियों का ग्रहण हो जाता है। बीज भी प्राण है।

इस तर्क के द्वारा जो वायु निकलती है, उसे प्राण कहते हैं, लोक में 'प्राण' का यही अर्थ रूढ़ है। प्राण द्वीन्द्रिय आदि में ही होता है। एकेन्द्रिय जीवों में वह नहीं होता। अत: 'अल्पबीज' का निर्देशसप्रयोजन है।

अप्पबीयंमि—इसका शब्दार्थ है—बीज रहित स्थान में। उपलक्षण से इसका अर्थ समस्त स्थावर जन्तु रहित स्थान में होता है। बीज सहित स्थान वर्जनीय है तो हरियाली सहित स्थान अपने आप वर्जनीय हो जाता है।

(पडिच्छन्नंमि संवुडे)

पडिच्छन्नंमि—ऊपर से ढ़के हुए उपाश्रय में।

संवुडे—पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में।

(समयं ..... अपरिसाडियं)

समयं—इसका अर्थ है—साथ में। इस शब्द के द्वारा गच्छवासी साधुओं की सामाचारी का निर्देश हुआ है। जो मण्डलीभोजी साधु हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने सहधर्मी साधुओं को निमंत्रित कर उनके साथ भोजन करें, एकाकी न खाएं।

अपरिसाडियं—इसका अर्थ है—भूमि पर न गिराता हुआ।

(36) **सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।**
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणि॥

अर्थ—बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है। (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्ती का साग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (साग की कडवाहट आदि) बहुत अच्छा भरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, (जलेबी आदि में) बहुत इष्ट है—मुनि इस सावद्य वचनों का प्रयोग न करें।

टिप्पण—

1. 'सुपक्व' शब्द को छोड़कर शेष सभी शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या मिलती है।
2. 'सुकृत' आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग भी है, जैसे—इसने सुकृत किया धर्मध्यान आदि। इसका सुपक्व है वचन विज्ञान आदि। इसने सुच्छिन्न किया है स्नेह आदि। इसने अकल्याण की शांति के लिए उपकरणों को सुकृत एकत्रित किया है। इसमें सुहृत—अच्छी तरह से मार डाला है कर्म

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शत्रुओं को। यह सुकृत है—इसने पंडित-मरण से मृत्यु प्राप्त की है। यह साध्वाचार के विषय में सुनिष्ठित है। सुलष्ट है—अच्छा है इसका तपोनुष्ठान आदि।

(37) रमए पण्डिए सासं हयं भद्धं व वाहए।
बालं सम्मइ सासन्तो, गलियस्सं व वाहए ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोड़े को हांकते हुए उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पण्डित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है। जैसे दुष्ट घोड़े को हांकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है।

टिप्पण—अविनीत व्यक्ति दुष्ट प्रकृति का होता है। गुरु के अनुशासन से वह प्रसन्न नहीं होता। गुरु उसके व्यवहार से खिन्न हो जाते हैं। ऐसी दुष्ट प्रकृति वाले अविनीत शिष्य की तुलना दुष्ट घोड़े से की गई है। आचार्य भिक्षु ने अविनीत की इस मनोवृत्ति का मार्मिक चित्रण किया है।

गलियारे गधो घोड़ो अविनीत ते कूट्या बिना आगे न चाले रे।
ज्यूं अविनीत ने काम भोलावियां, कह्यां नीठ नीठ पार घालै रे ॥
गलियार गधो घोड़ो मोल ले, खाडेती घणो दुःख पावै रे।
ज्यूं अविनीत ने दिख्या दिया पछै, पग-पग गुरु पिछतावै रे ॥

(38) खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो पावदिट्ठि त्ति मन्नई ॥

अर्थ—पाप दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चांटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है।

प्रस्तुत श्लोक के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं—

1. ठोकरों, चपेटों, कटुवचनों तथा दण्ड आदि के आघातों से शिष्य-हित के लिए कल्याणकारी अनुशासन करने वाले आचार्य को शिष्य पापदृष्टि मानता है। वह सोचता है—ये पापी हैं। इनके मन में मेरे प्रति करुणा नहीं है। ये क्रूर हैं। ये कारावास के अधिकारी की भांति मुझे दण्डित करते हैं।
2. मेरे लिए तो केवल ठोकरे खाना, चपेटे खाना, गाली सहना और मार खाना ही भाग्य में है—ऐसा सोचकर शिष्य कल्याण के लिए अनुशासन करने वाले आचार्य को भी पाप-दृष्टि वाला मानता है।
3. आचार्य वाणी के द्वारा शिष्य पर अनुशासन करते हैं। पापदृष्टि शिष्य उसको ठोकरें और चेपटों के समान मानता है वह उनकी हितकारी वाणी को आक्रोश और प्रहार के समान मानता है।

(39) पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं दासं व मन्नई ॥

अर्थ—गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझकर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोचकर विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है, परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है।

(40) न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए ॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थ—शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वयं भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करने वाला न हो। उनका छिद्रान्वेषी न हो।

आचार्य का उपघात करने वाला न हो (बुद्धोवघाई न सिया)

बुद्ध या आचार्य की उपघात के तीन प्रकार हैं—

1. ज्ञान उपघात—यह आचार्य अल्प-श्रुत है या ज्ञान का गोपन करता है।
2. दर्शन-उपघात—यह आचार्य उन्मार्ग का प्ररूपण करता है या उसमें श्रद्धा करता है।
3. चारित्र-उपघात—यह आचार्य पार्श्वस्थ या कुशील है।

इस प्रकार जो व्यवहार करता है, वह आचार्य का उपघाती होता है।

इस प्रकार दूसरा अर्थ यह है—जो शिष्य आचार्य की वृत्ति का उपघात करता है, वह भी 'बुद्धोपघाती' कहलाता है। आचार्य को दीर्घजीवी देख शिष्य सोचते हैं—'हम लोग कब तक इनकी परिचर्या करते रहेंगे, कोई ऐसा प्रयत्न करें, जिससे ये अनशन कर लें।' वे भिक्षा में पूर्ण नीरस आहार लाते हैं और कहते हैं—भंते! क्या करें। श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नहीं। उधर श्रावक लोग यह सोचकर कि आचार्य वृद्ध हैं, सौभाग्य से हमारे यहां स्थान-स्थित हैं, अतः हम स्वतः प्राप्त प्रणीत भोजन उन्हें दे। वे भिक्षा के लिए आने वाले साधुओं को प्रणीत आहार देना चाहते हैं पर वे साधु उन्हें कहते हैं—'आचार्य प्रणीत-भोजन नहीं लेना चाहते।' वे संलेखना कर रहे हैं—'अनशन की तैयारी के लिए काया को कृश कर रहे हैं।'

श्रावक आचार्य को कहते हैं—'भगवन्! आप महान् उद्योतकारी आचार्य हैं इसलिए असमय में ही संलेखना क्यों करते हैं? आप हमारे लिए भारभूत नहीं हैं।' हम शक्तिभर आपकी सेवा करना चाहते हैं। आपके विनीत साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं। वे भी आपसे खिन्न नहीं हैं।

आचार्य इस सारी स्थिति को जानकर सोचते हैं—'इस अप्रतीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या अर्थ है? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नहीं।' वे तत्काल श्रावकों से कहते हैं—मैं नियत-विहारी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओं को और आपको रोके रहूंगा। अच्छा है, अब मैं उत्तम-अर्थ का अनुसरण करूं। इस प्रकार श्रावकों को समझाकर आचार्य अनशन कर लेते हैं।

शिष्यों को ऐसी चेष्टा भी आचार्य की उपघात करने वाली कहलाती है। इसलिए विनीत शिष्य बुद्धोपघाती न हो—आचार्य को अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाला न हो।

छिद्रान्वेषी (तोत्तगवेसए)

जिसके द्वारा व्यथा उत्पन्न होती है उसे तोत्त-तोत्र कहा जाता है। द्रव्य तोत्र है—चाबुक, प्रहार आदि भाव तोत्र हैं—दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, छिद्रान्वेषण आदि-आदि। इसका एक अर्थ यह भी किया जा सकता है—विनीत शिष्य एक ही कार्य के लिए आचार्य से बार-बार कहलाने की इच्छा न करे।

(41) आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज न पुणो त्ति य ॥

अर्थ—आचार्य को कुपित हुए जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक (या प्रीतिकारक) वचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर उन्हें शांत करें और यों कहें कि 'मैं' ऐसा नहीं करूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कुपित हुए (कुवियं)

विनीत शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह आचार्य को कुपित जाने तो उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करे। प्रश्न होता है कि यह कैसे जाना जाए कि आचार्य कुपित हुए हैं? चूर्णिकार ने कुपित को जानने के छह लक्षण बताए हैं, वे ये हैं—

1. उसकी और दृष्टि उठाकर भी न देखना। 2. पूर्वकृत को भुला देना। 3. तिरस्कार करना।
4. दुश्चरित्र का कथन करना 5. बातचीत न करना 6. उसकी विशेषता पर विस्मय प्रगट न करना।

(पत्तिएण ..... पंजलिउडो)

'पत्तिएण'..... शान्त्याचार्य ने इसे आर्ष प्रयोग मानकर इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—1. प्रातीतिकेन और 2. प्रीत्या। प्रातीतिक के दो अर्थ किए गए हैं—शपथ और प्रतीति उत्पादक वचन। उन्होंने मुख्य अर्थ 'प्रातीतिक' किया है। नेमिचन्द्र ने इसका मुख्य अर्थ प्रीत्या—प्रेम से किया है।

(42) धम्मज्जियं च ववहार, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥

अर्थ—जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी गर्हा को प्राप्त नहीं होता।

धर्म से अर्जित (धम्मज्जियं)

इसका अर्थ है—धर्म के अनुरूप जीत व्यवहार अर्थात् प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों द्वारा आचीर्ण व्यवहार।

(43) मणोगयं वक्कगयं जाणित्तायरिस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥

अर्थ—आचार्य के मनोगत और वाक्यगत भावों को जानकर, उनको वाणी से ग्रहण करें और कार्यरूप में परिणत करें।

(44) वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥

अर्थ—जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर तुरन्त ही उनके उपदेशानुसार भलीभांति कार्य सम्पन्न कर लेता है।

कार्य (किच्चाइं)

सभी व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'कृत्यानि' कार्य किया है। प्राचीन आदर्शों में यही पाठ प्राप्त होता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में विभक्ति व्यत्यय के आधार पर 'किच्चाणं' पाठ माना जाए तो इसका अर्थ होगा—आचार्य का।

(45) नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा ॥

अर्थ—मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जानकर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। उसकी लोक में कीर्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(46) **पुज्जा जस्स पसीयन्ति, संबुद्धा पुव्वसंथुआ।**
पसन्ना लाभइस्सन्ति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥

अर्थ—उस पर तत्त्वविद् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं। अध्ययन काल से पूर्व ही वे उसके विनय समाचरण से परिचित होते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।

प्रसन्न होते हैं (पसीयन्ति)

इसका अर्थ है—प्रसन्न होना। प्रश्न होता है कि क्या आचार्य प्रसन्न होने पर स्वर्ग की साक्षात् प्राप्ति कराते हैं? क्या वे मोक्ष की उपलब्धि कराते हैं? क्या वे इच्छित वरदान देते हैं? इसके उत्तर में कहा गया कि वे स्वर्ग आदि की उपलब्धि नहीं करा सकते, पर वे मोक्ष के हेतुभूत श्रुतज्ञान की प्राप्ति अवश्य कराते हैं।

प्रसन्न होकर (पसन्ना)

प्रसाद या प्रसन्नता का अर्थ चित्त की निर्मलता से किया जाने वाला अनुग्रह है।

मोक्ष के हेतुभूत (अट्ठियं)

यहां 'अर्थ' शब्द मोक्षवाची है। मोक्ष की प्राप्ति का हेतुभूत ज्ञान आर्थिक कहलाता है। यह श्रुतज्ञान का विशेषण है।

(47) **स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए, मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।**
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे, महज्जुई पंचवयाइं पालिया ॥

अर्थ—वह पूज्य-शास्त्र होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दसविध सामाचारी) से सम्पन्न होकर रहता है। वह तपः समाचारी और समाधि से संवृत होता है। वह पांच महाव्रतों का पालन कर महान् तेजस्वी हो जाता है।

पूज्य-शास्त्र (पुज्जसत्थे)

पूज्यशास्त्र—जिसके शास्त्रीयज्ञान की समस्त जनता पूजा करती है। नीति का वाक्य है—'शास्त्रं भारोऽविवेकिनाम्'—अविवेकी व्यक्ति के लिए शास्त्र भाररूप होता है अथवा विवेक-विकल व्यक्तियों का शास्त्र या कथन भारभूत होता है। जो विवेकी होता है, विनीत होता है, उसी का शास्त्रज्ञान सारभूत होता है। पूजनीय होता है।

उसके सारे संशय मिट जाते हैं। (सुविणीयसंसए)

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त होते हैं—

1. **सुविनीतसंशय**—जिसकी सारी जिज्ञासाएं या संशय मिट गये।
2. **सुविनीतसंसत्क**—जिसकी परिषद् सुविनीत है।

कर्म सम्पदा (दसविध सामाचारी) से सम्पन्न (कम्मसंपया)

प्राचीनकाल में क्रिया की उपसम्पदा के लिए साधुओं की विशेष नियुक्ति होती थी। वे साधुओं को दस-विध सामाचारी का प्रशिक्षण देते और उसका पालन कराने का ध्यान रखते थे। चूर्णि में 'कर्म-सम्पदा' का अर्थ 'योगज विभूति' सम्पन्न किया है।

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ किए गए हैं—सामाचारी से सम्पन्न और योगज विभूति से सम्पन्न।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(48) **स देवगन्धव्वमणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंक पुव्वयं।**
सिद्धे वा हवइ सासए देवे या अप्परए महिड्ढिए ॥

अर्थ—देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पंक से बने हुए शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है।

(देवगंधव्व ..... मलपंक पुव्वयं ..... अप्परए)

देवगंधव्व—यहां 'देव' शब्द से वैमानिक तथा ज्योतिष्क देवों का तथा 'गंधर्व' शब्द से व्यंतर और भुवनपति देवों का ग्रहण किया है।

मलपंकपुव्वयं—मनुष्य-शरीर का निर्माण मल और पंक (रक्त और वीर्य) से होता है, इसलिए उसे मल, पंक-पूर्वक कहा जाता है।

अप्परए—मोहजनित क्रीड़ा से रहित होता है उसे 'अल्परत' कहा जाता है। जिसके बध्यमान कर्म अल्प होते हैं उसे 'अल्परजाः' कहा जाता है। 'अप्परए' के ये दोनों अर्थ हो सकते हैं।

4.4 सारांश

उत्तराध्ययन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह एक महत्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है।

4.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराध्ययनसूत्र का परिचयात्मक विश्लेषण करें।
2. उत्तराध्ययनसूत्र के आधार पर विनय के स्वरूप का वर्णन करें।
3. उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन के आधार पर अनुशासन का निरूपण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. उत्तराध्ययनसूत्र मूल आगम क्यों है?
2. उत्तराध्ययनसूत्र के व्याख्या ग्रन्थों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. गन्धहस्ती सेचनक की कथावस्तु का वर्णन करें।
4. 'काले कालं समायरे' का आशय स्पष्ट करें।
5. दुःशील कौन होता है? संक्षेप में प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार और ..... विनय के पर्यायवाची हैं।
2. उत्तराध्ययन की गणना ..... सूत्रों में है।
3. इसकी भाषा अर्धमागधी व ..... मिश्रित प्राकृत है।
4. उत्तर शब्द की ..... पर अनेक आचार्यों ने विचार किया है।
5. भगवान् महावीर की ..... का एक अंग है तपोयोग।
7. शिक्षा का फल ..... है।
8. विनय का अर्थ है—आचार और ..... का अर्थ है—नम्रता।
9. आज्ञा और ..... समान अर्थवाची हैं।
10. शुनी शब्द का प्रयोग अत्यन्त ..... को व्यक्त करने के लिए किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : (ब) दशवैकालिक प्रथम अध्ययन : एक अनुशीलन

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 दशवैकालिक का परिचयात्मक अध्ययन

- 4.2.1 रचनाकार जीवन–परिचय
- 4.2.2 रचना का उद्देश्य
- 4.2.3 रचनाकाल
- 4.2.4 नामकरण
- 4.2.5 रचनाशैली

4.3 अध्ययन और पद्य परिमाण

- 4.3.1 द्रुम पुष्पिका
- 4.3.2 श्रामण्यपूर्वक
- 4.3.3 क्षुल्लकाचार
- 4.3.4 षड्जीवनिकाय
- 4.3.5 पिण्डैषणा
- 4.3.6 महाचारकथा
- 4.3.7 वाक्यशुद्धि
- 4.3.8 आचार–प्रणिधि
- 4.3.9 विनय समाधि
- 4.3.10 सभिक्षु
- 4.3.11 चूलिका

4.4 व्याख्या साहित्य

- 4.4.1 निर्युक्ति
- 4.4.2 भाष्य
- 4.4.3 चूर्णि
- 4.4.4 टीका

4.5 धर्म का स्वरूप

- 4.5.1 माधुरी वृत्ति
- 4.5.2 अहिंसा
- 4.5.3 संयम
- 4.5.4 तप
- 4.5.5 देव
- 4.5.6 श्रमण
- 4.5.7 शान्ति
- 4.5.8 साधु
- 4.5.9 दानभक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.5.10 एषणा मे रत

4.5.11 यथाकृत

4.5.12 अनिश्रित

4.5.13 नाना पिण्ड में रत है

4.5.14 दान्त है

4.5.15 एषणा समिति

4.5.16 नवकोटि

4.5.17 एषणा

4.6 सारांश

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

आगमों के मुख्य दो वर्ग हैं-अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगों का अंग-प्रविष्ट में समावेश होता है। औपपातिक, जीवाभिगम आदि बारह उपांगों का अंग बाह्य में समावेश होता है। अंग बाह्य के दो प्रकार हैं-1. कालिक 2. उत्कालिक।

4.1 उद्देश्य

दशवैकालिक आगम भी मूल आगम है। यह आगम स्वाध्याय काल से अतिरिक्त समय में भी पढ़ा जा सकता है इसलिए इसका नाम दसवैकालिक रखा गया। इसके रचनाकार आचार्य शय्यंभव हैं। इस ग्रंथ की विषय वस्तु का विधिवत अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत करेंगे।

कालिक

जो श्रुत दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर में पढ़ा जाता है वह कालिकश्रुत है। अंग सारे कालिक श्रुत के अंतर्गत ही आते हैं।

उत्कालिक

जिस श्रुत का पठन, पाठन काल की मर्यादा में बंधा हुआ नहीं है वह उत्कालिक श्रुत है। **दशवैकालिक** का समावेश उत्कालिक श्रुत में होता है।

इस वर्गीकरण के बाद आगे चलकर अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य के अतिरिक्त मूल और छेद—ये दो वर्ग और किए गए। **दशवैकालिक** मूल आगम सूत्र माना जाता है।

4.2 दशवैकालिक का परिचयात्मक अध्ययन

दशवैकालिक आचार्य शय्यम्भव की निर्यूहण कृति है। रचना दो प्रकार की होती है स्वतंत्र और निर्यूहण। **दशवैकालिक आचार्य शय्यम्भव** की स्वतंत्र रचना नहीं है, निर्यूहण है। वे श्रुतकेवली थे उन्होंने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।

दशवैकालिक की **निर्युक्ति** के अनुसार चौथा अध्ययन **आत्म-प्रवाद पूर्व** से पांचवां अध्ययन कर्म प्रवाद पूर्व से सातवां अध्ययन **सत्यप्रवाद पूर्व** से और शेष सभी अध्ययन **प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु** से उद्धृत किए गए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दशवैकालिक की संकलना के बारे में दो विचार मिलते हैं। पहले के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का विषय पूर्वों से उद्धृत है दूसरी मान्यता के अनुसार यह द्वादशांगी से उद्धृत है।

4.2.1 रचनाकार जीवन-परिचय

राजगृह में शय्यम्भव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अनेक विद्याओं का पारगामी विद्वान् था। एक दिन प्रभवस्वामी ने अपने उत्तराधिकारी के बारे में सोचा। अपने गण और संघ को देखा तो कोई भी शिष्य आचार्य पद के योग्य नहीं मिला। फिर गृहस्थों की ओर ध्यान दिया। राजगृह में शय्यम्भव ब्राह्मण को देखा वे उन्हें योग्य जान पड़े। तब उन्होंने अपने दो साधुओं को उसकी यज्ञशाला में भेजा। साधु वहाँ पहुंचे और धर्मलाभ कहा। आचार्य की शिक्षा के अनुसार वे बोले—**'अहो कष्टमहोकष्टं' 'तत्त्वं न ज्ञायेत परम्'** शय्यम्भव ने यह सुना और सोचा—ये उपशान्त तपस्वी असत्य नहीं बोलते। अवश्य ही इसमें रहस्य है। वह उठा और अपने अध्यापक के पास जाकर बोला—**'कहिए तत्त्व क्या है?'** अध्यापक ने कहा—**"तत्त्व वेद है।"** शय्यम्भव ने तलवार को म्यान से निकाला और कहा—**"या तो तत्त्व बतलाइए अन्यथा इसी तलवार से सिर काट डालूंगा।"**

अध्यापक ने सोचा—अब समय आ गया है तत्त्व बता देना चाहिए। अध्यापक ने कहा—**"तत्त्व अर्हत् धर्म है।"** वह आगे बढ़ा और यूप के नीचे जो अरिहन्त की प्रतिमा थी उसे निकाल शय्यम्भव को दिखाया। वह उसे देख प्रतिबुद्ध हो गया। शय्यम्भव ने अध्यापक के चरणों में वंदना की। संतुष्ट होकर यज्ञ की सारी सामग्री उसे भेंट में दे दी। वह चला और मुनि युगल को खोजते-खोजते वहीं जा पहुंचा जहां उसे पहुंचना था। अपनी गर्भवती युवती पत्नी को छोड़कर 28 वर्ष की अवस्था में प्रभवस्वामी के पास प्रव्रज्या ले ली।

4.2.2 रचना का उद्देश्य

शय्यम्भव महावीर के चतुर्थ पट्टधर थे। वे पत्नी को गर्भवती छोड़कर दीक्षित बने। उसके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम मनक रखा गया। वह आठ वर्ष का हो गया। एक दिन अपनी मां से पिता के बारे में पूछा। मां ने बताया बेटा तेरे पिता मुनि बन गए। वे अब आचार्य हैं और अभी चम्पा नगरी में विचरण कर रहे हैं। मनक ने मां से अनुमति ली और चम्पा नगर जा पहुंचा। आचार्य शौच जाकर वापस आ रहे थे। बीच में ही मनक मिल गया। आचार्य के मन में कुछ स्नेह का भाव जगा और पूछा "तू किसका बेटा है?" "मेरे पिता का नाम शय्यम्भव ब्राह्मण है" मनक ने प्रसन्न मुद्रा में कहा। आचार्य ने पूछा—अब तेरे पिता कहां है। मनक ने कहा—वे अब आचार्य हैं और इस समय चम्पा में है। आचार्य ने पूछा—तूं यहां क्यों आया? मनक ने उत्तर दिया मैं भी उनके पास प्रव्रज्या लूंगा। क्या आप मेरे पिता को जानते हैं। आचार्य ने कहा—मैं केवल जानता ही नहीं हूं वे मेरे अभिन्न मित्र हैं। तू मेरे पास प्रव्रजित हो जा। उसने स्वीकार कर लिया। वे स्थान पर आ गए। उसे प्रव्रजित किया। आचार्य ने अपने विशिष्ट ज्ञान से देखा कि यह अल्पायु है, केवल छह मास और जीएगा। मुझे इसे विशिष्ट आराधना करानी चाहिए। यह सोच उन्होंने मनक के लिए नए आगम का निर्माण करना चाहा। विशेष प्रयोजन होने पर चतुर्दशपूर्वी और अपश्चिम दशपूर्वी निर्यूहण कर सकते हैं। मेरे सामने भी यह विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ इसलिए मुझे भी निर्यूहण करना चाहिए यही प्रेरणा **दशवैकालिक** के निर्माण में निमित्त बनी।

मनक ने छह मास में दशवैकालिक पढ़ा और समाधिपूर्वक इस संसार से चल बसा। वह श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना कर सका इसका आचार्य को हर्ष हुआ। आंखों में आनन्द के आसूं छलक आए। उनके प्रधान शिष्य—यशोभद्र ने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्य को देखा और विनयावत हो इसका कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूछा। आचार्य ने कहा—मनक मेरा संसार पक्षीय पुत्र था इसलिए स्नेह भाव उमड़ आया; वह आराधक हुआ यह सोच आनन्द से भर गया। मनक की आराधना के लिए मैंने इस आगम का निर्यूहण किया। अब इसका क्या किया जाए। आचार्य के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न पर संघ ने विचार किया और आखिर यही निर्णय हुआ कि इसे यथावत् रखा जाए। यह मनक जैसे अनेक मुनियों की आराधना में निमित्त बनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाए। इस निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का वर्तमान रूप अध्ययन-क्रम में जोड़ा गया।

4.2.3 रचनाकाल

इसका रचनाकाल वीर निर्वाण 72 के आस-पास उपलब्ध होता है और यह प्रभवस्वामी की विद्यमानता में निर्यूढ़ किया गया। यह काल गणना से स्पष्ट है।

4.2.4 नामकरण

प्रस्तुत आगम के दो नाम उपलब्ध होते हैं—दसवेआलिय और दसकालिय।

यह नाम दश और वैकालिक या कालिक इन दो पदों से निष्पन्न होता है दश शब्द इसके अध्ययनों की संख्या के सूचक हैं।

दसवेयालिय

इसकी रचना सम्पूर्ति विकाल में हुई इसलिए इसको वैकालिक कहा गया है। सामान्य विधि के अनुसार आगम रचना पूर्वाह्न में की जाती है किन्तु मनक की अल्पायु देख शय्यम्भव ने तत्काल अपराह्न में ही इसका उद्धरण शुरु किया और यह विकाल में पूरा हुआ।

स्वाध्याय का काल चार प्रहर-दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर है यह स्वाध्याय काल के बिना भी पढ़ा जा सकता है इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है।

दशकालिक

यह चतुर्दश पूर्वी के काल से आया है अथवा काल को लक्ष्य कर किया हुआ है अतः इसका नाम दशकालिक है।

अगस्त्य चूर्णि में दसवैतालिय शब्द का उल्लेख हुआ कारण इसका दशवां अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त में रचा हुआ है इसलिए इसका नाम दसवैतालिय हो सकता है।

4.2.5 रचना-शैली

दसवैकालिक रचना की दृष्टि से वास्तव में सूत्र है पारिभाषिक शब्दों में अर्थ को बहुत ही संक्षेप में गूंथा गया है मनक को थोड़े में बहुत देने के उद्देश्य से इसकी रचना हुई इसमें रचनाकार बहुत ही सफल हुए हैं। विषय वर्गीकरण की दृष्टि से भी इसका रचनाक्रम बहुत प्रशस्त है।

इसका अधिकांश भाग पद्यात्मक हैं और कुछ भाग गद्यात्मक है गद्य भाग का प्रारम्भ उत्तराध्ययन की शैली का अनुसरण है—

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एव मक्खायं — इह खलु सम्मत्त परक्कमे नामं अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए (उत्तराध्ययन 29/1)

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एव मक्खायं — इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नता। (दशवैकालिक 4/1)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गद्य भाग के बीच-बीच में गद्योक्त विषय का संग्रह पद्यों में किया है ऐसी शैली उपनिषदों में रही है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए उपमाओं का भी यथेष्ट प्रयोग किया गया है। उपमा और दृष्टान्त के प्रयोग से प्रतिपाद्य विषय में प्राण आ जाते हैं और वह सहजतया हृदयंगम हो जाती है। सूत्र में अनेक उपमाएं और दृष्टान्त हैं—1. विहंगमा व पुप्फेसु 2. पुप्फेसु भमरा जहा 3. महुकार समा 4. मा कुले गंधणा होमो 5. वायाइद्धोव्व हडो।

4.3 अध्ययन और पद्य परिमाण

दशवैकालिक सूत्र में दश अध्ययन और दो चूलिका हैं जिनके नाम और पद्य परिमाण इस प्रकार हैं—

अध्ययन	श्लोक	सूत्र
1. द्रुम पुष्पिका	5	×
2. श्रामण्य-पूर्वक	11	×
3. क्षुल्लकाचार	15	×
4. धर्म प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	28	23
5. पिण्डैषणा	150	
6. महाचार	68	
7. वाक्यशुद्धि	57	
8. आचार-प्रणिधि	63	
9. विनय समाधि	62	
10.सभिक्षु	21	
चूलिका		
रतिवाक्या	18	1
विविक्तचर्या	16	

4.3.1 द्रुम पुष्पिका

दस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान है तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय है। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं—1. अनियत वृत्ति 2. अहिंसा पालन।

अनियत वृत्ति का सूचन **'जे भवंति अणिस्सिया'** और अहिंसा पालन का सूचन **'न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेई अप्पयं से होता।'**

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प शब्द समूची माधुकरी वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन में सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य है—धर्म के आचरण की संभवता। यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निदर्शन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करने वाला श्रमण अपने जीवन निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे। यथाकृत भोजन ले तथा जीवन को संयम तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करें।

4.3.2 श्रामण्यपूर्वक

बीज बिना वृक्ष नहीं होता—वृक्ष के पूर्व बीज होता है। दूध के बिना दही नहीं होता—दही के पूर्व दूध होता है। दिवस के बिना रात नहीं होती—रात के पूर्व दिन होता है। प्रश्न है—श्रामण्य के पूर्व क्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है? वह कौनसी बात है जिसके बिना श्रामण्य नहीं होता। इस अध्ययन में जिस बात के बिना श्रामण्य नहीं होता उसकी चर्चा होने के कारण इसका नाम श्रामण्य-पूर्वक रखा गया है।

पहले अध्ययन में धर्म का वर्णन वह धृति के बिना नहीं टिक सकता। अत: इस अध्ययन में धृति का प्रतिपादन है।

4.3.3 क्षुल्लकाचार

समूचे ज्ञान का सार आचार है। धर्म में जिसकी धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद महत्त्व नहीं रखता। जो धर्म में धृतिमान है वह आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है। अहिंसा आचार है और हिंसा अनाचार है अथवा जो अनुष्ठान मोक्ष के लिए हो शास्त्र विहित हो वह आचार शेष अनाचार।

इस अध्ययन में अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन है इसलिए इसका आचार कथा है। इसी सूत्र के छट्ठे अध्ययन की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त प्रतिपादन है इसलिए इसका नाम **'क्षुल्लिकाचार कथा'** है।

4.3.4 षड्जीवनिकाय

श्रामण्य का आधार है आचार। आचार का धर्म है अहिंसा। सब जीवों के प्रति संयम। संयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव का ज्ञान आवश्यक है इसलिए आचार निरूपण के पश्चात् जीव-निकाय के निरूपण का क्रम प्राप्त है। **'पढमं नाणं तओ दया'** ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का विकास होता है साध्य के पहले चरण से अहिंसा का प्रारम्भ होता है और उसका पूरा विकास होता है साध्य सिद्धि के अंतिम चरण में। अहिंसा की साधना के लिए जीव और अजीव का ज्ञान होना अत्यन्त अनिवार्य है अत: इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है षड्जीवनिकाय।

4.3.5 पिण्डैषणा

इस अध्ययन में पिण्ड की गवेषणा—शुद्धाशुद्ध होने ग्रहण और परिभोग की एषणा का वर्णन है इसलिए इसका नाम है पिण्डैषणा।

भिक्षा के तीन प्रकार हैं—दीनवृत्ति, पौरुषहनी और सर्व संपत्करी। अनाथ और अपङ्ग. व्यक्ति मांगकर खाते हैं यह दीनवृत्ति भिक्षा है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति मांगकर खाते हैं यह पौरुषहनी भिक्षा है। संयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज निष्पन्न आहार लेते हैं वह संपत्करी भिक्षा है। इस अध्ययन में सर्व-संपत्करी भिक्षा के विधि निषेधों का वर्णन है।

4.3.6 महाचारकथा

क्षुल्लक-आचार कथा की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार कथा का विस्तार से निरुपण हुआ है, इसलिए इसका नाम महाचार-कथा रखा गया है।

तीसरे अध्ययन में अनाचार का मात्र नाम निर्दिष्ट है। इस अध्ययन में अनाचार के विविध पहलुओं को छुआ गया है। उत्सर्ग और अपवाद की भी यत्र-तत्र चर्चा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.7 वाक्य शुद्धि

इस अध्ययन में वाक्य शुद्धि का विवेक दिया गया है। वाणी का वही प्रयोग समिति है जो सावद्य और निरवद्य विवेक से संवलित हो। जिसे सावद्य-निरवद्य का विवेक न हो उसका बोलना भी उचित नहीं फिर उपदेश देने की बात तो बहुत दूर है। प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और मिश्र भाषा के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है सत्य और व्यवहार भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की होती है। वस्तु के यथार्थ रूप का स्पर्श करने वाली भाषा सत्य हो सकती है किन्तु वह वक्तव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जिससे कर्म परमाणु का प्रवाह आए वह जीव वधकारक भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य है। इस प्रकार इस अध्ययन में वक्तव्य और अवक्तव्य का सूक्ष्म विवेचन है।

4.3.8 आचार-प्रणिधि

आचार की प्रणिधि या आचार विषयक प्रणिधि। आचार एक निधि है उसे पाकर निर्ग्रन्थ को जैसे चलना चाहिए उसका पथ दर्शन इस अध्ययन में मिलता है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ है—एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग। ये प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। उच्छृंखल अश्व सारथि को उन्मार्ग में ले जाते हैं वैसे ही दुष्प्रणिहित इन्द्रियां श्रमण को कुमार्ग में ले जाती हैं। यह इन्द्रिय का दुष्प्रणिधान है।

श्रमण को इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त प्रयोग नहीं करना चाहिए, प्रशस्त प्रयोग करना चाहिए—यह शिक्षण ही इस अध्ययन की आत्मा है, इसलिए इसका नाम आचार-प्रणिधि रखा गया है।

4.3.9 विनय-समाधि

प्रस्तुत अध्ययन का नाम विनय समाधि है। इसमें विनय का व्यापक निरूपण है। प्रस्तुत अध्ययन में चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में आचार्य के शिष्य का कैसा व्यवहार होना चाहिए। शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाने पर भी वह आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था। यह है विनय का उत्कर्ष। जो गुरु मुझे अनुशासन देते हैं। जिनके पास धर्म-पद सीखा है उनकी मैं पूजा करूँ यह मनोभाव विनय की परम्परा को प्रशस्त बनाता है।

दूसरे उद्देशक में विनय और अविनय का भेद दिखाया गया है। विनीत सम्पदा को प्राप्त करता है अविनीत विपदा को प्राप्त करता है। जो इन दोनों को जान लेता है वह शिक्षा को प्राप्त करता है।

तीसरे उद्देशक में आचार के लिए विनय का प्रयोग करें वह पूज्य होता है। पूज्य के लक्षणों का निरूपण इसका विषय है।

चौथे उद्देशक में चार समाधियों का वर्णन है 1. विनय 2. श्रुत 3. तप 4. आचार। समाधि का अर्थ है—हित, सुख या स्वास्थ्य। इस प्रकार यह अध्ययन विनय की सर्वांगीण जानकारी प्रस्तुत करता है।

4.3.10 सभिक्षु

जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो वह भिक्षु कहलाता है। सच्चा साधु भी भिक्षा कर खाता है और ढोंगी भी भिक्षा कर खाता है। इससे दोनों की संज्ञा भिक्षु हो जाती है।

पर असली सोना जैसे अपने गुणों से कृत्रिम सोने से सदा पृथक् रहता है वैसे ही सद्-भिक्षु असद्-भिक्षु से अपने गुणों के कारण सदा पृथक् रहता है। गुणों से ही सोना होता है और गुणों से ही भिक्षु। भिक्षु के गुणों का प्रतिपादन इस अध्ययन का उद्देश्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.11 चूलिका

दशवैकालिक सूत्र में दश अध्ययन और दो चूलिका हैं। चूलिका का अर्थ है शिखा या चोटी। यह सामान्य शब्दार्थ है। साहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ है मूल शास्त्र का उत्तर-भाग। इसलिए चूलिका द्वय को दशवैकालिक का उत्तर-तंत्र कहा गया है। आजकल सम्पादन में जो स्थान परिशिष्ट का है, वही स्थान प्राचीन काल में चूलिका का रहा है।

दशवैकालिक चूलिका के बारे में परिशिष्ट पर्व में उल्लेख मिलता है कि नन्द साम्राज्य के प्रधानमंत्री शकडाल के द्वितीय पुत्र श्रीयक जैन मुनि बने। संवत्सरी पर्व आया। उस दिन उपवास करना जैन मुनि के लिए अनिवार्य था, वे उपवास करने मे असमर्थ थे। उनकी बहिन साध्वी यक्षा को इस बात का पता लगा। भाई को उपवास की प्रेरणा दी। बहिन की प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया। क्षुधा परीषह को सह नहीं पाएं। रात्रि में ही काल के ग्रास बन गए। यक्षा का मन आन्दोलित हो उठा। उसने सोचा वह मुनि की घातिका है। इसलिए उसने अन्न-जल ग्रहण न करने का संकल्प कर लिया। आचार्य ने कहा—तुम निर्दोष हो। लेकिन उसका मन आश्वस्त नहीं हुआ। आखिर संघ ने शासन देवी की आराधना की। शासनदेवी उसे सीमंधर स्वामी के पास ले गई। सीमंधर स्वामी के मुख से अपने को निर्दोष सुनकर वह नि:शंक हो गई। वहां से लौटते समय भगवान् सीमंधर ने उसे चार अध्ययन दिए। वह अपने क्षेत्र में आई, श्री संघ ने दो अध्ययन दशवैकालिक के साथ जोड़ दिए।

निर्युक्ति की एक गाथा में इसका उल्लेख मिलता है—

आओ दो चूलियाओ आणीया जक्खिणीए अज्जाए।
सीमंधर पासाओ भवियाण वि वोहणट्ठाए।।

4.4 व्याख्या साहित्य

4.4.1 निर्युक्ति—दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार 371 है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका कालमान विक्रम की पांचवीं-छट्ठी शताब्दी है।

4.4.2 भाष्य—इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार भाष्य का उल्लेख नहीं करते हैं। टीकाकार के अनुसार भाष्य की 63 गाथायें हैं। इसके कर्त्ता का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। टीकाकार ने भी भाष्यकार का उल्लेख नहीं किया है। वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले होने चाहिए।

4.4.3 चूर्णि—भाष्य के बाद चूर्णियां लिखी गईं। अभी दो चूर्णियां प्राप्त हैं। एक के कर्त्ता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं। इनका समय मुनिश्री पुण्यविजयजी के अनुसार विक्रम की तीसरी शताब्दी है। अगस्त्यसिंह यदि देवर्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हों तो इनका समय विक्रम की पांचवी-छठी शताब्दी हो जाता है।

दूसरे चूर्णिकार जिनदास महत्तर हैं इनका समय वि. की 7वीं शताब्दी है।

4.4.4 टीका—प्राकृत का युग समाप्त हुआ। संस्कृत का युग आया। आगम की व्याख्यायें संस्कृत भाषा में लिखी जाने लगी। इस पर भी हरिभद्रसूरि ने संस्कृत टीका लिखी। इनका समय विक्रम की 8वीं शताब्दी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.5 धर्म का स्वरूप

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं
अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो।।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते हैं। मंगल के दो भेद हैं—1. द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और 2. भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार में पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंख-ध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन-प्राप्ति, कार्य-सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक मंगल हैं—लोक-दृष्टि में मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं कहते, क्योंकि इनसे आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अतः वह भाव-मंगल है।

धर्म ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख रूप है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक क्षय करता है, जिससे उसके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलों में ऐकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता। धर्म आत्मा की सिद्धि करने वाला, उसे मोक्ष प्राप्त कराने वाला होता है। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल-अनुत्तर मंगल है।

4.5.1 माधुरी वृत्ति

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।।

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है—

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संतिसाहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण भत्तेसणे रया।।

उसी प्रकार लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण साधु हैं वे दानभक्त (दाता द्वारा दिये जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा में रत रहते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों में।

मुक्त—पुरुष चार प्रकार के होते हैं :—

1. बाह्य परिग्रह से मुक्त और आसक्ति से भी मुक्त।
2. बाह्य परिग्रह से मुक्त किन्तु आसक्ति से मुक्त नहीं।
3. बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं, किन्तु आसक्ति से मुक्त।
4. बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं और आसक्ति से भी मुक्त नहीं।

4.5.2 अहिंसा

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना अहिंसा है अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है। "जैसे मुझे सुख प्रिय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है वैसे ही सब जीवों को है। जैसे मैं जीने की कामना करता हूं वैसे ही सब। जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरने की नहीं। अत: मुझे किसी भी जीव को अल्प से अल्प पीड़ा भी नहीं पहुंचानी चाहिए।" ऐसी भावना को समता या आत्मौपम्य कहते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग.' में कहा है—"जैसे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दु:ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दु:ख होता है; जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दु:ख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है"—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। यहाँ 'अहिंसा' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। इसलिए मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति, परिग्रह-विरति भी इसमें समाविष्ट है।

4.5.3 संयम

जिनदास महत्तर के अनुसार 'संयम' का अर्थ है 'उपरम'। राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव-समभाव में स्थित होना संयम है। हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—**"आश्रवद्वारोपरमः"**—अर्थात् कर्म आने के हिंसा, मृषा, अदत्त मैथुन और परिग्रह ये जो पांच द्वार हैं उनसे उपरमता—उनसे विरति। पर यहां 'संयम' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। हिंसा आदि पांच अविरतियों का त्याग, कषायों पर विजय, इन्द्रियों का निग्रह, समितियों का पालन तथा मन, वचन, काया की गुप्ति—ये सब अर्थ 'संयम' शब्द में अंतर्निहित हैं।

4.5.4 तप

जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है, उसे तप कहते हैं। तप बारह प्रकार का कहा गया है—

1. **अनशन**—आहार-जल आदि का एक दिन, अधिक दिन जीवनपर्यन्त के लिए त्याग करना अर्थात् उपवास करना;
2. **ऊनोदरता**—आहार की मात्रा में कमी करना, पेट को कुछ भूखा रखना, क्रोधादि को न्यून करना, उपकरणों को न्यून करना;
3. **भिक्षाचर्या**—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का संकोच करना;
4. **रस-परित्याग**—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान-भोजन का वर्जन;
5. **कायक्लेश**—वीरासन आदि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना;
6. **प्रतिसंलीनता**—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में राग-द्वेष न करना; अनुदीर्ण क्रोध आदि का निरोध तथा उदय में आए क्रोध आदि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल मन आदि की प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुंसक-रहित एकांत स्थान में वास;
7. **प्रायश्चित्त**—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना;
8. **विनय**—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना;
9. **वैयावृत्य**—संयमी साधु की शुद्ध आहार आदि से निरवद्य सेवा करना;
10. **स्वाध्याय**—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा-चिन्तन और धर्मकथा;
11. **ध्यान**—आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का त्याग कर धर्म्य-ध्यान या शुक्ल-ध्यान में आत्मा की स्थिरता और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12. **व्युत्सर्ग**—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड़ धर्म के लिए शरीर तथा उपधि आदि का व्युत्सर्ग करना।

4.5.5 देव

जैन धर्म में चार गति के जीव माने गये हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें देव सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और प्रभुत्व वाले होते हैं। साधारण लोग उनके अनुग्रह को पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। यहां कहा गया है कि जिसकी आत्मा धर्म में लीन रहती है उस धर्मात्मा की महिमा देवों से भी अधिक होती है। लोकपूज्य देव भी उसे नमस्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नरपति आदि तो धर्मी की पूजा करते ही हैं, महाऋद्धि-सम्पन्न देव भी उसकी पूजा करते हैं। यह धर्म पालन का आनुषंगिक फल है।

4.5.6 श्रमण

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—'समण' का अर्थ है सब जीवों को आत्म-तुला की दृष्टि से देखने वाला समता-सेवी।

प्रवृत्तिलभ्य अर्थ—'समण' की व्यापक परिभाषा 'सूत्रकृताङ्ग. में मिलती है। जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात—अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य-मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट-काय-शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है।

4.5.7 शांति

शांति के कई अर्थ उपलब्ध होते हैं—सिद्धि, उपशम, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, अकुतोभय और निर्वाण। इस व्याख्या के अनुसार 'सन्ति साहुणो' का अर्थ होता है—सिद्धि आदि की साधना करने वाला।

4.5.8 साधु

साधु शब्द का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के योग से अपवर्ग-मोक्ष की साधना करने वाला। जो छह जीवनिकाय का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर उनकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से सर्वथा विरत होते हैं, तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों में सकल दु:ख-क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं, वे साधु कहलाते हैं।

4.5.9 दानभक्त

श्रमण साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है। उसके पास रुपये-पैसे नहीं होते। शिष्य पूछता है—तब तो जैसे भ्रमर फूलों से रस पीता है, वैसे ही साधु क्या वृक्षों के फल और कन्द-मूल आदि तोड़कर ग्रहण करे? ज्ञानी कहते हैं—श्रमण फल-फूल, कन्द-मूल कैसे ग्रहण करेगा? ये जीव हैं और वह सम्पूर्ण अहिंसा का व्रत ले चुका है। वृक्षों के फल आदि को ग्रहण करना वृक्ष-संतान की चोरी है। शिष्य पूछता है—"तब क्या श्रमण आटा-दाल आदि मांग कर आहार पकाए?" ज्ञानी कहते हैं—'अग्नि जीव है। पचन-पाचन आदि क्रियाओं-आरम्भों में अग्नि, जल आदि जीवों का हनन होगा। अहिंसक श्रमण ऐसा नहीं कर सकता।' शिष्य पूछता है—तब श्रमण उदरपूर्ति कैसे करे? ज्ञानी कहते हैं—वह दानभक्त—दत्तभक्त की गवेषणा करे। चोरी से बचने के लिए वह दाता द्वारा दिया हुआ ले। बिना दी हुई चीज कहीं से न ले और दत्त ले—अर्थात् दाता के घर स्व-प्रयोजन के लिए बना प्रासुक—निर्जीव ग्रहण-योग्य जो आहार-पानी हो वह ले। ऐसा करने से वह अहिंसा व्रत की अक्षुण्ण रक्षा कर सकेगा। शिष्य ने पूछा—'भ्रमर बिना दिया हुआ कुसुम-रस पीते हैं और श्रमण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दत्त ही ले सकता है, तब श्रमण को भ्रमर की उपमा क्यों दी गई है?' आचार्य कहते हैं—'उपमा एकदेशीय होती है। इस उपमा में अनियतवर्तिता आदि धर्मों से श्रमण की भ्रमर के साथ तुलना होती है, किन्तु सभी धर्मों से नहीं।' भ्रमर अदत्त रस भले ही पीता हो, किन्तु श्रमण अदत्त लेने की इच्छा भी नहीं करते।

4.5.10 एषणा में रत

साधु को आहारादि की खोज, प्राप्ति और भोजन के विषय में उपयोग—सावधानी रखनी होती है, उसे एषणा-समिति कहते हैं। एषणा तीन प्रकार की होती है: 1. गोचरचर्या के लिए निकलने पर साधु आहार के कल्प्या-कल्प्य के निर्णय के लिए जिन नियमों का पालन करता है, अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे गो+एषणा = गवेषणा कहते हैं। 2. आहार आदि को ग्रहण करते समय साधु जिन-जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं। 3. मिले हुए आहार का भोजन करते समय साधु जिन नियमों का पालन अथवा दोषों का निवारण करता है, उन्हें परिभोगैषणा कहते हैं।

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मई।
अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा।।

हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो। क्योंकि श्रमण यथाकृत (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों से रस।

4.5.11 यथाकृत

गृहस्थों के घर आहार, जल आदि उनके स्वयं के उपयोग के लिए उत्पन्न होते रहते हैं। अग्नि तथा अन्य शस्त्र आदि से परिणत अनेक प्रासुक निर्जीव वस्तुएं उनके घर रहती हैं। इन्हें यथाकृत कहा जाता है। इनमें से जो पदार्थ सेव्य हैं, उन्हें श्रमण लेते हैं।

महुकारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो।। त्ति बेमि।।

जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित है—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिंड में रत हैं और जो दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

4.5.12 अनिश्रित है

मधुकर किसी एक फूल पर आश्रित नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न फूलों से रस पीता है। कभी किसी पर जाता है और कभी किसी पर। उसकी वृत्ति अनियत होती है। श्रमण भी इसी तरह अनिश्रित हो। वह किसी एक पर निर्भर न हो। वह अप्रतिबद्ध हो।

4.5.13 नाना पिंड में रत है

इसका अर्थ है साधु—

1. अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।
2. कहां, किससे, किस प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो ले, इस तरह के अनेक अभिग्रहपूर्वक अथवा भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करता हुआ ले।
3. विविध प्रकार का नीरस आहार ले।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो भिक्षु इस तरह किसी एक मनुष्य या घर पर आश्रित नहीं होता तथा आहार की गवेषणा में नाना प्रकार के वृत्ति संक्षेप से काम लेता है वह हिंसा से सम्पूर्णत: बच जाता है और सच्चे अर्थ में साधुत्व को सिद्ध करता है।

4.5.14 दान्त है

शीलांकाचार्य ने 'दान्त' शब्द का अर्थ किया है—इन्द्रियों को दमन करने वाला। चूर्णिकार भी यही अर्थ करते हैं। सूत्र के अनुसार 'दान्त' शब्द का अर्थ है—संयम और तप से आत्मा को दमन करने वाला। जो दूसरों के द्वारा वध और बंधन से दमित किया जाता है, वह द्रव्य-दान्त होता है, भाव-दान्त नहीं। भाव-दान्त वह साधु है, जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

4.5.15 एषणा समिति

पांच समितियों में तीसरी समिति का नाम है एषणा। एषणा का शाब्दिक अर्थ है—अभिलाषा। प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ है—खोज करना। आचार्य हरिभद्र ने एषणा को परिभाषित किया है—

"एषणा समितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नव कोटि परिशुद्धं ग्राह्यम्"

गोचर चर्या के समय मुनि सावधानी से नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है इसे एषणा समिति कहते हैं।

4.5.16 नव कोटि

हनन 1. स्वयं हिंसा न करना।
2. दूसरों से हिंसा न करवाना।
3. हिंसा का अनुमोदन न करना।

पाचन 1. स्वयं न पकाना।
2. दूसरों से न पकवाना।
3. पचन-पाचन का अनुमोदन न करना।

क्रयण 1. स्वयं न खरीदना।
2. दूसरों से न खरीदवाना।
3. खरीदने का अनुमोदन न करना।

इन नौ कोटियों से परिशुद्ध उद्गम उत्पादन के दोषों से रहित शुद्ध आहार मुनि के लिए ग्राह्य है।

दसवैकालिक निर्युक्ति में एषणा की परिभाषा है—

एत्थ य समण सुविहिया परकडपरनिट्ठियं विगयधूमं
आहारं एसंति जोगाणं साहणट्ठाए।।

संयमयोगों की साधना के लिए श्रमण दूसरों के लिए निष्पन्न धूम आदि दोषों से मुक्त आहार की एषणा करें।

4.5.17 एषणा के तीन प्रकार

1. गवेषणा—उद्गम और उत्पादन के दोषों से रहित आहार की खोज करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. ग्रहणैषणा—शंका आदि 10 दोषों से रहित आहार को ग्रहण करना।

3. परिभोगैषणा—इंगाल धूम आदि दोषों से मुक्त होकर आहार करना।

उद्गम—आहार की उत्पत्ति के समय लगने वाले दोष। इनके 16 प्रकार हैं।

उत्पादन—आहार ग्रहण करते समय मुनि के द्वारा लगने वाले दोष। इसके भी 16 प्रकार हैं।

4.6 सारांश

दशवैकालिक मूल आगम सूत्र है। रचना की दृष्टि से वास्तव में यह सूत्र है। इसका अधिकांश भाग पद्यात्मक है और कुछ भाग गद्यात्मक है। विषय वर्गीकरण की दृष्टि से भी यह एक अत्यधिक प्रशस्त रचना है।

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. दशवैकालिक का सारगर्भित परिचय लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दशवैकालिक की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करें।
2. चूलिका का संक्षिप्त परिचय दें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दशवैकालिक का निर्यूहण किसने किया?
2. दशवैकालिक का निर्यूहण किसके लिए किया गया?
3. साधु शब्द का अर्थ है ..... के योग से अपवर्ग—मोक्ष की साधना करने वाला।
4. समण का अर्थ है सब जीवों को ..... की दृष्टि से देखने वाला समता-देवी।
5. जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है, उसे ..... कहते हैं।
6. यह .....ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।
7. मुक्ति प्रदान करने के कारण ..... उत्कृष्ट मंगल-अनुत्तर मंगल है।
8. आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला ..... कहलाता है।
9. दशवैकालिक सूत्र के ..... अध्ययन और ..... चूलिका है।
10. भिक्षु के गुणों का प्रतिपादन इस अध्ययन का ..... है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 : समयसार का परिचयात्मक अध्ययन

संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 समयसार का परिचय

5.2.1 समयसार की विषय–वस्तु

5.3 मूल पाठ

5.3.1 मंगलाचरण

5.3.2 समय अर्थात् आत्मा

5.3.3 आत्मा के एकत्व की सिद्धि

5.3.4 शुद्धात्मा का स्वरूप

5.3.5 व्यवहार नय के कथन की सार्थकता

5.4 शुद्धनय एवं सम्यक्त्व का स्वरूप

5.4.1 सम्यक्त्व का स्वरूप

5.4.2 शुद्धनय का स्वरूप

5.4.3 आत्मा की अप्रतिबद्धता

5.4.4 अप्रतिबुद्ध जीव की पहचान

5.4.5 अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न

5.5 नय स्वरूप एवं भेद

5.5.1 तीर्थंकर की स्तुति

5.5.2 जितेन्द्रिय का स्वरूप

5.5.3 जितेन्द्रिय की निर्दोष स्तुति

5.5.4 आत्मा में अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग)

5.5.5 भेदज्ञान की प्रक्रिया

5.5.6 आत्म–स्वरूप का संचेतन

5.6 जीव–अजीव अधिकार

5.6.1 जीव–अजीव की एकरूपता

5.6.2 अध्यवसानादि भावों में जीवत्व की सिद्धि (व्यवहारनय की सार्थकता)

5.6.3 परमार्थस्वरूप जीव का लक्षण

5.6.4 वर्णादि भावों को जीव के कहने का कारण

5.6.5 निश्चय–व्यवहार नय के कथन की सार्थकता

5.6.6 वर्णादि को जीव का कहना–व्यवहार

5.7 सारांश

5.8 प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.0 प्रस्तावना

यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बरजिन-आचार्य परम्परा में शिरोमणि हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह ग्रन्थाधिराज समयसार सम्पूर्ण जिन-वाङ्मय का शिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे ''**इदमेकंजगच्चक्षुरक्षय**—यह जगत् का अद्वितीय अक्षय चक्षु है'' कहा है, तथा इसकी महिमा ''**न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति**—समयसार से महान् इस जगत् में कुछ भी नहीं है'' कहकर गाई है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं इसकी अन्तिम गाथा में इसके अध्ययन का फल बताते हुए कहते हैं—

''जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तम सोक्खं।।415।।''

जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर, उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है, वह आत्मा उत्तम सुख अर्थात् अतीन्द्रिय-अनन्त-आनन्द को प्राप्त करता है।

आचार्य जयसेन के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने संक्षेपरुचि वाले शिष्यों के लिए पंचास्तिकाय, मध्यरुचि वाले शिष्यों के लिए प्रवचनसार और विस्ताररुचि वाले शिष्यों के लिए इस ग्रंथाधिराज समयसार की रचना की है। इस बात का उल्लेख उक्त ग्रंथों पर उनके द्वारा लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं के आरंभ में कर दिया गया है।

5.1 उद्देश्य

दिगम्बर जैन परम्परा के शिरोमणि आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित 'समयसार' में वर्णित जीवादि नवतत्त्वों के माध्यम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप एवं निजवैभव को बताकर, संसारी आत्मा संसार में कर्मबद्ध होने पर भी स्वभाव से वह सर्वज्ञ परमात्मा के समान शुद्ध एवं निर्दोष है। व्यवहारनय से वह कर्मबद्ध है परन्तु निश्चयनय से वह सदा अरस, अरूपी, अस्पर्शी, कर्ममुक्त, निर्दोष एवं शुद्ध ही है। ऐसे आत्मा के स्वरूप का वर्णन करना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

5.2 समयसार का परिचय

इस ग्रंथाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

आचार्यदेव पूर्वरंग में ही कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा का दिग्दर्शन करूँगा, जो न प्रमत्त है, न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; मात्र अभेद-अखण्ड एक ज्ञायकभाव रूप है, परमशुद्ध है। परमध्यान का ध्येय, एकमात्र श्रद्धेय वह आत्मा न तो कर्मों से बद्ध ही है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह ध्रुवतत्व पर से पूर्णत: असंयुक्त, अपने में ही सम्पूर्णत: नियत, अपने से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।

तात्पर्य यह है कि पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करने वाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एकमात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है; इसकी आराधना-उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

इस आत्मा के अतिरिक्त सभी देहादि परपदार्थों, रागादि विकारी भावों एवं गुणभेदादि के विकल्पों में अपनापन ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यद्यपि देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारी भावों को जिनागम में व्यवहार से आत्मा कहा गया है; पर वह व्यवहार प्रयोजनविशेषपुरत: ही सत्यार्थ है।

जिस प्रकार अनार्य को समझाने के लिए अनार्यभाषा का उपयोग उपयोगी ही है, पर अनार्य हो जाना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता; उसी प्रकार परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार का उपयोग उपयुक्त ही है, तथापि व्यवहार-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विमुग्ध हो जाना ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार के विषयभूत देहादि एवं रागादि को वास्तव में आत्मा जान लेना—मान लेना, अपना जान लेना—मान लेना कदापि उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

5.2.1 समयसार की विषय-वस्तु

आत्मा तो देहादि में पाये जाने वाले रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी स्वभाव वाला चेतन तत्त्व है, शब्दादि से पार अवक्तव्य तत्त्व है, इसे बाह्य चिन्हों से पहिचानना संभव नहीं है। भले ही उसे व्यवहार से वर्णादिमय अर्थात् गोरा-काला कहा जाता हो, पर कहने मात्रा से वह वर्णादिमय नहीं हो जाता। कहा भी है—

''धृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः।।''

जिस प्रकार 'घी का घड़ा'—इस प्रकार का वचनव्यवहार होने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता, उसी प्रकार 'वर्णादि वाला जीव' ऐसा वचनव्यवहार होने मात्र से जीव वर्णादि वाला नहीं हो जाता।

सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर—इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न और अपने से अभिन्न निज आत्मा की पहिचान कराना इस अधिकार का मूल प्रयोजन है।

जीवाजीवाधिकार के अध्ययन से स्व और पर की भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी जब तक यह आत्मा स्वयं को पर का कर्त्ता-भोक्ता मानता रहता है, तब तक वास्तविक भेद-विज्ञान उदित नहीं होता। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद कर्त्ता-कर्म अधिकार लिखना आवश्यक समझा। पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा आत्मा न तो स्वतंत्र ही हो सकता है और न उसमें स्वावलम्बन का भाव ही जागृत हो सकता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्यों का कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार किया जाता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इस बात को कर्त्ता-कर्म अधिकार में बड़ी ही स्पष्टता से समझाया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो साफ-साफ कहते हैं—

''कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणादि सो हवदि णाणी।''

जो आत्मा क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नो कर्मों का कर्त्ता नहीं होता, उन्हें मात्र जानता ही है, वही वास्तविक ज्ञानी है।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष के भाव आस्रवभाव हैं। इस कर्त्ता-कर्म-अधिकार का आरंभ ही आत्मा और आस्रवों के बीच भेदविज्ञान से होता है। जब आत्मा भिन्न है और आस्रव भिन्न हैं तो फिर आस्रवभावों का कर्त्ता-भोक्ता आत्मा कैसे हो सकता है? जिनागम में जहाँ भी आत्मा को पर का या विकार का कर्त्ता-भोक्ता कहा गया है, उसे प्रयोजन विशेष से किया गया व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में वस्तुस्थिति तो यह है—

''आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।''

आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे? आत्मा परभावों का कर्त्ता है—ऐसा मानना-कहना व्यवहार-विमुग्धों का मोह ही है, अज्ञान ही है।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं रागादिभावकर्मों को पुण्य-पाप के रूप में भी विभाजित किया जाता है। इस प्रकार शुभभाव एवं शुभकर्मों को पुण्य एवं अशुभभाव एवं अशुभकर्मों को पाप कहा जाता है।यद्यपि शुभाशुभरूप पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा को बंधन में डालने वाले हैं; तथापि अज्ञानीजन पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानते हैं। अज्ञानजन्य इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप अधिकार का प्रणयन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अज्ञानीजनों को संबोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील हैं और अशुभकर्म कुशील हैं, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है?

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसी प्रकार जैसे अशुभ (पाप) कर्म जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों ही कर्म समान ही हैं।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि इसलिए पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

आस्रव का निरोध संवर है। अत: मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध होने पर संवर की उत्पत्ति होती है। संवर से संसार का अभाव और मोक्षमार्ग का आरंभ होता है, अत: संवर साक्षात् धर्मस्वरूप ही है।

सर्वदर्शी भगवान ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप अध्यवसायों को आस्रव का कारण कहा है। मिथ्यात्वादि कारणों के अभाव में ज्ञानियों के नियम से आस्रवों का निरोध होता है और आस्रवभाव के बिना कर्म का निरोध होता है। इसी प्रकार कर्म के अभाव में नोकर्म का एवं नोकर्म के अभाव में संसार का ही निरोध हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवर अनंतदुखरूप संसार का अभाव करने वाला एवं अनंत सुखस्वरूप मोक्ष का कारण है। संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के आस्रव के अभावरूप संवर पूर्वक निज आत्मा का उग्र आश्रय होता है, उसके बल से आत्मा में उत्पन्न शुद्धि की वृद्धिपूर्वक जो कर्म खिरते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा।

हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि जीव को होने वाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टाएँ या कर्मरज आदि नहीं।

अब मोक्षाधिकार में कहते हैं कि जिस प्रकार बंधनों में जकड़ा हुआ पुरुष बंधन का विचार करते रहने से बंधन से मुक्त नहीं होता, अपितु बंधनों को छेदकर बंधनों से मुक्त होता है, उसी प्रकार कर्मबन्धन का विचार करते रहने मात्र से कोई आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता, अपितु वह कर्मबन्धन को छेदकर मुक्ति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबंधनों से मुक्त होते हैं।

जिस प्रकार लोक में अपराधी व्यक्ति निरन्तर सशंक रहता है और निरपराधी व्यक्ति को पूर्ण निशंकता रहती है, उसी प्रकार आत्मा की आराधना करने वाली निरपराधी आत्मा को कर्मबंधन की शंका नहीं होती। यही मोक्षाधिकार का सार है।

अब सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में कहते हैं कि—जिस प्रकार आँख परपदार्थों को मात्रा देखती ही है, उन्हें करती या भोगती नहीं, उसी प्रकार ज्ञान भी पुण्य-पापरूप अनेक कर्मों को, उनके फल को, उनके बंध को, निर्जरा व मोक्ष को जानता ही है, करता नहीं।

इस प्रकार इस ग्रंथाधिराज समयसार में नवतत्त्वों के माध्यम से मूलप्रयोजनभूत उस शुद्धात्मवस्तु का प्ररूपण है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

5.3 मूल पाठ

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं।

5.3.1 मंगलाचरण

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।।1।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गाथार्थ—ध्रुव अचल और अनुपम—इन तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त हुए सर्व सिद्धों को नमस्कार करके अहो श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित यह समयसार नामक प्राभृत कहूँगा।

टीका— ग्रंथ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को भाव-द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का भाववचन और द्रव्यवचन से परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं—वे सिद्ध भगवान्, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति-मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसलिए ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। चारों गतियां परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। 'ध्रुव' विशेषण से पंचमगति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकाल से परभावों के निमित्त से होने वाले पर में भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलता को प्राप्त है। इस विशेषण से, चारों गतियों में पर निमित्त से जो भ्रमण होता है, उसका (पंचगति में) व्यवच्छेद हो गया। और वह जगत् में जो सम्मत उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनके विलक्षण—अद्भुत महिमा वाली है, इसलिए उसे किसी की उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषण से चारों गतियों में जो परस्पर कथंचित् समानता पाई जाती है, उसका (पंचम गति में) निराकरण हो गया। और उस गति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं; मोक्षगति इस वर्ग में नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग कही है। ऐसी पंचम गति को सिद्ध भगवान् प्राप्त हुए हैं। उन्हें अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके, समय का (सर्व पदार्थों का अथवा जीव पदार्थ का) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत्-प्रवचन का अवयव है उसका अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह का नाश करने के लिए परिभाषण हुआ है। वह अर्हत् प्रवचन का अवयव अनादिनिधन परमागम शब्द ब्रह्म से प्रकाशित होने से सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले तथा स्वयं अनुभव करने वाले श्रुत केवली गणधर देवों के द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त है। यह अन्यवादियों के आगम की भांति छद्मस्थ (अल्प ज्ञानियों) को कल्पनामात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

5.3.2 समय अर्थात् आत्मा

प्रथम गाथा में समय का प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है? इसलिए पहले उस समय को ही कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।2।।

गाथार्थ—हे भव्य! जो जीव दर्शन, ज्ञान चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से (वास्तव में) स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।

टीका—'समय' शब्द का अर्थ इस प्रकार है—'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एकपना' है, और 'अय् गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिए एक साथ ही (युगपद्) जानना और परिणमन करना—यह दोनों क्रियाएँ एकत्वपूर्वक करे वह समय है। यह जीव-पदार्थ सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है और जीव चैतन्यस्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानज्योतिस्वरूप है और वह जीव, अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एकधर्मीपना है, उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है, ऐसा है। और वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है, ऐसा है। और वह, अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्त रूप को प्रकाशने वाली एकरूपता प्राप्त की है, ऐसा है। इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नहीं, इस प्रकार एकाकार को ही मानने वाले का तथा अपने को नहीं जानता किन्तु पर को जानता है, इस प्रकार अनेकाकार को ही मानने वाले का व्यवच्छेद हो गया। और वह, अन्य द्रव्यों के जो विशिष्ट गुण-अवगाहन-गति-स्थिति-वर्तना-हेतुत्व और रूपित्व हैं, उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्यरूपता स्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पांच द्रव्यों से भिन्न है। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है।

जब यह (जीव), सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में लीन होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्व रूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ वह 'स्वसमय' है, इस प्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जब वह, अनादि अविद्या रूपी केले के मूल की गांठ की भांति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से, दर्शनज्ञान स्वभाव में नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल कर्म के (कार्माणस्कन्धा रूप) प्रदेशों में स्थित होने से युगपद् पर को एकत्वपूर्वक जानता और पररूप से एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ 'परसमय' है, इस प्रकार प्रतीति की जाती है। इस प्रकार जीव नामक पदार्थ की स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है।

अब समय की द्विविधता में आचार्य बाधा बतलाते हैं।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।3।।

गाथार्थ—एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सब जगह सुन्दर है इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद-विरोध करने वाली होती है।

टीका—यहां 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है, सो समय है। इसलिये धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने-जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से उसमें सर्वसंकर आदि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं—स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती इसलिये वे टंकोत्कीर्ण की भांति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं—टिकाये रखते हैं। इस प्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने से जीव नामक समय को बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है; तो फिर बंध जिसका मूल है ऐसा जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होना, वह जिसका मूल है, ऐसा परसमयपना, उससे उत्पन्न होने वाला (परसमय-स्वसमयरूप) द्विविधपना उसको (जीव नाम के समय को) कहां से हो? इसलिये समय के एकत्व का होना ही सिद्ध होता है।

अब, उस एकत्व की असुलभता बताते हैं।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।

गाथार्थ—सर्व लोक को कामभोगसंबंधी बन्धन की कथा तो सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है, और अनुभव में भी आ गई है, और अनुभव में भी आ गई है, इसलिये सुलभ है; किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व होना कभी न तो सुना है, न परिचय में आया है; और न अनुभव में आया है, इसलिये एकमात्र वही सुलभ नहीं है।

टीका—इस समस्त जीव लोक को, कामभोग संबंधी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद कराने वाली है (आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करने वाली है) तथापि पहले अनन्त बार सुनने में आई है, अनन्त बार परिचय में आई है और अनन्त बार अनुभव में भी आई है। वह जीवलोक, संसार रूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण को प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एकछत्र राज्य से वश करने वाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास बैल की भांति भार वहन कराता है, जोर से प्रगट हुए तृष्णारूपी रोग के दाह से अंतरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजल की भांति विषयग्राम को (इन्द्रियविषयों के समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरों से कहकर उसी प्रकार अंगीकार करवाता है।) इसलिये कामभोग की कथा तो सबके लिए सुलभ है। किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखाई देने वाला यह मात्र भिन्न आत्मा का एकत्व ही है, जो कि सदा प्रगट रूप से अन्तरंग में प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (कषायसमूह) के साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिये अत्यन्त तिरोभाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को प्राप्त हुआ है (ढक रहा है) वह, अपने में अनात्मज्ञता होने से (स्वयं आत्मा को न जानने से) और अन्य आत्मा को जानने वालों की संगति-सेवा न करने से, न तो पहले कभी सुना है, न परिचय में आया है और न कभी अनुभव में आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

5.3.3 आत्मा के एकत्व की सिद्धि

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।5।।

गाथार्थ—उस एकत्वविभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

टीका—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निजवैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। मेरे आत्मा का वह निज वैभव इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है, और 'स्यात्' पद की मुद्रा वाला जो शब्द-ब्रह्म-अर्हन्त का परमागम है, उसकी उपासना से उसका जन्म हुआ है। ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकार से किसी अपेक्षा से कहना। परमागम को शब्दब्रह्म कहने का कारण यह है कि—अर्हन्त के परमागम में सामान्य धर्मों के वचनगोचर समस्त धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है; इस प्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिए उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष—अन्यवादियों के द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निज वैभव का जन्म हुआ है और निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परम-गुरु—सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त—उनके प्रसाद रूप से दिया गया जो शुद्धात्म तत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे निज वैभव का जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ—स्वाद में आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदन से निज वैभव का जन्म हुआ है। यों जिस जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का वैभव है, उस समस्त वैभव से दिखाता हूँ। मैं जो यह दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करने में सावधान मत होना। शास्त्रसमुद्र के बहुत से प्रकरण हैं, इसलिए यहां स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है, इसलिए अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

5.3.4 शुद्धात्मा का स्वरूप

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिए? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।6।।

गाथार्थ—जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है इस प्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ। वह तो वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका—जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से), अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्यउद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बन्धपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीरनीर की भांति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाए तो तुरन्त कषायचक्र के उदय की (कषाय समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्त्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करने वाले समस्त अनेक रूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भाव रूप नहीं होता) इसलिये वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न रूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूप प्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भांति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है—स्वयं जानने वाला है इसलिए स्वयं कर्त्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए।)

अब प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र को आत्मा का धर्म कहा गया है, किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेद रूप भावों से आत्मा को अशुद्धता आती है? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।7।।

गाथार्थ—ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान—यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

टीका—इस ज्ञायक आत्मा में बन्ध पर्याय के निमित्त से अशुद्धता तो दूर किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मों वाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतलाने वाले कितने ही धर्मों के द्वारा, उपदेश करते हुए आचार्यों का यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तथापि नाम से भेद करके—व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है ऐसे कुछ—मिले हुए आस्वाद वाले, अभेद, एक स्वभावी (तत्त्व)—का अनुभव करने वाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

5.3.5 व्यवहारनय के कथन की सार्थकता

अब यहां पुनः यह प्रश्न उठा है कि—यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिये; व्यवहार किसलिये कहा जाता है? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।।8।।

गाथार्थ—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जन को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिए कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।

टीका—जैसे किसी म्लेच्छ से यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्द के वाच्यवाचक सम्बन्ध ा को न जानने से कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मण की ओर मेंढे की भांति आंखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मण की और म्लेच्छ की भाषा का दोनों का अर्थ जानने वाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा बोलकर उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ यह है कि ''तेरा अविनाशी कल्याण हो'', तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले अत्यन्त आनंदमय अश्रुओं से जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्द के अर्थ को समझ जाता है; इसी प्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्द के कहने पर 'आत्मा' शब्द के अर्थ का ज्ञान न होने से कुछ भी न समझकर मेंढे की भांति आंखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी की भांति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्द को कहने वाला स्वयं ही व्यवहार मार्ग में रहता हुआ आत्मा शब्द का यह अर्थ बतलाता है कि—''दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है'', तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले अत्यन्त आनन्द से जिसके हृदय में सुन्दर बोधतरंगें (ज्ञान तरंगें) उछलने लगती हैं, ऐसा वह व्यवहारीजन उस ''आत्मा'' शब्द के अर्थ को अच्छी तरह समझ लेता है। इस प्रकार जगत् तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से, और व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादित (कहने वाला) है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए—इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है? इसके उद्धर-स्वरूप गाथासूत्रा कहते हैं—

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयय्प्पदीवयरा।।9।।
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।।10।।जुम्मं।।

गाथार्थ—जो जीव निश्चय से (वास्तव में) श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है उसे लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं, जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

टीका—प्रथम, ''जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं'' वह तो परमार्थ हैं; और ''जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं'' यह व्यवहार है। यहां दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—उपरोक्त सर्व ज्ञान आत्मा है या अनात्मा? यदि अनात्मा का पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादिक पांच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है)। इसलिये अन्य पक्ष का अभाव होने से 'ज्ञान आत्मा ही है' यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहने वाला जो व्यवहार है, उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता। और ''जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं'' इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से, ''जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं'' ऐसा व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादकत्व से अपने को दृढ़तापर्वूक स्थापित करता है।

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह परमार्थ को कहने वाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों अंगीकार न किया जाये? इसके उत्तररूप में गाथासूत्र कहते हैं—

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।11।।

गाथार्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि (भवति) है।

टीका—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ हैं, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत, अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्त से बतलाते हैं—जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मल भाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है, ऐसे जल का अनुभव करने वाले पुरुष—जल और कीचड़ का विवेक न करने वाले (दोनों के भेद को न समझने वाले)—बहुत से तो उस जल को मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथ से डाले हुए कतकफल (निर्मली) के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कादव के विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपने से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसी प्रकार प्रबल कर्मों के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक (भेद) न करने वाले, व्यवहार से विमोहित हृदय वाले तो, उसे (आत्मा को), जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखने वाले) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से उत्पन्न आत्मकर्म के विवेक से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्व के कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं। यहां, शुद्धनय कतकफल के स्थान पर हैं, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखने वालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

अब ''यह व्यवहारनय भी किसी-किसी को किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नही है; इसलिए उसका उपदेश है'' यह कहते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।12।।

गाथार्थ—जो शुद्धनय तक पहुंचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरम भाव में, अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञानचारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीका—जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान (वस्तु के) उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध स्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिए, शुद्ध द्रव्य को कहने वाला होने से जिसने अचलित अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण-वर्ण) समान होने से, जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान जो (वस्तु का) अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्य को कहने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता (ज्ञात होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है। क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है; ऐसा व्यवहार धर्म है और पार होना व्यवहारधर्म का फल है; अथवा अपने स्वरूप को प्राप्त करना तीर्थफल है।)

5.4 शुद्धनय एवं सम्यक्त्व का स्वरूप

5.4.1 सम्यक्त्व का स्वरूप

इस प्रकार ही शुद्धनय से जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथा में कहते हैं—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।13।।

गाथार्थ—भूतार्थ नय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व है।

टीका—यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही है (यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहा जाता है। ऐसे नवतत्त्व—जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष हैं—उनमें एकत्व प्रगट करने वाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—वह प्राप्त होती है। (शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है।) वहां विकारी होने योग्य और विकार करने वाला—दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करने वाला—दोनों आस्रव हैं, संवर रूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करने वाला (संवारक)—दोनों संवर हैं, निर्जरा होने के योग्य और निर्जरा करने वाला—दोनों निर्जरा हैं, बंधन के योग्य और बन्धन करने वाला—दोनों बन्ध हैं और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करने वाला—दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दो में से एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो—जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीव द्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं; असत्यार्थ हैं; (वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं), इसलिये इन नव तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायक-भाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं, ऐसे केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष—ये विकारहेतु केवल अजीव हैं। ऐसे यह नव तत्त्व, जीव द्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसे एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इसलिये इन तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार यह, एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है, सो सम्यक्दर्शन ही है। इस प्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है—बाधा रहित है।

5.4.2 शुद्धनय का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।14।।

गाथार्थ—जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित अन्यत्व रहित चलाचलता रहित विशेष रहित अन्य के संयोग से रहित—ऐसे पांच भाव रूप से देखता है, उसे, हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।

टीका—निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है; इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं।) यहां शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है—बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं- जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होने रूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार अनादि काल से बंधे हुए आत्मा का, पुद्गल कर्मों से बंधने—स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है तथा जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अत्यन्त भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होने वाले ऐसे) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अत्यन्त अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर (पर्यायों के अन्य-अन्य रूप से) अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्याय भेदों से किंचित् मात्र भेदरूप न होने वाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्र स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्याय भेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुण रूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषण भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप-तप्ततारूप-अवस्था से अनुभव करने पर (जल का) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णता के साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसी प्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है, ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

अब, इस अर्थ रूप गाथा कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।15।।

गाथार्थ—जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है, जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टीका—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पांच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। परन्तु अब वहां, सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञान मात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है तथापि जो अज्ञानी है, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं, जैसे—अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप—विशेष रूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थ से देखा जाये तो, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (क्षारसरूप) लवण है। इस प्रकार—अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकार रूप) ज्ञान व अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता, और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी, पर द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।16।।

गाथार्थ—साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।

टीका—यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, इस प्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि 'साधु पुरुष को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।' किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही है, क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं—किन्तु आत्मा की ही पर्याय हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से (वे) देवदत्त ही हैं—अन्य वस्तु नहीं, इसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही हैं—अन्य वस्तु नहीं। इसलिये यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।17।।
एवं हि जीवाराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।18।।

गाथार्थ—जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीति से सेवा करता है इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए और तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये।

टीका—निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए—अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्ध स्वरूप उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसी प्रकार से साध्य की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं)।

5.4.3 आत्मा की अप्रतिबुद्धता

अब यहां पुनः पूछते हैं कि—यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।19।।

गाथार्थ—जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म—नोकर्म हैं' ऐसी बुद्धि है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

टीका—जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुये पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है' इस प्रकार, और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है, इसी प्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुएँ—सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा के तिरस्कार करने वाले हैं—उनमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरंग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरंग आत्म-तिरस्कारी (आत्मा के तिरस्कार करने वाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है; और जब कभी, जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करने-वाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है, इसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जानने वाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं। इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल भेदविज्ञान है, ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

5.4.4 अप्रतिबुद्ध जीव की पहचान

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।20।।
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि।।21।।
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।22।।

गाथार्थ—जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं—उन्हें यह समझता है कि मैं यह हूँ, यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, यह मेरा पहले था, इसका मैं भी पहले था, यह मेरा भविष्य में होगा, मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा, ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ वैसा झूठा विकल्प नही करता वह मूढ नही, ज्ञानी है।

टीका—(दृष्टान्त से समझाते हैं) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि ''जो अग्नि है, सो ईंधन और ईंधन है सो अग्नि है; अग्नि का ईंधन है; ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा; ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी'';—ऐसा ईंधन में ही अग्नि का विकल्प करता है। वह झूठा है, उसमें अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है, इसी प्रकार कोई आत्मा परद्रव्य में असत्यार्थ आत्म-विकल्प करे कि 'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझ स्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्य में होगा, मैं इसका भविष्य में होऊँगा''—ऐसे झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचान जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और, ''अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है—अग्नि है, वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्नि का ईंधन नहीं, ईंधन की अग्नि नहीं—अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है; अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी—अग्नि की अग्नि पहले थी और ईंधन का ईंधन पहले था; अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा''—इस प्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो सो प्रतिबुद्ध का लक्षण है, इसी प्रकार ''मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है—मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्य का मैं नहीं,—मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है; यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, यह परद्रव्य का मैं पहले नहीं था—मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा, इसका मैं भविष्य में नहीं होऊँगा—मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्य में होगा।''—ऐसा जो स्वयद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है, वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

5.4.5 अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।23।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वोभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।24।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।25।।

गाथार्थ—जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा जीव कहता है कि यह शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है। आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उयोगलक्षणवाला जीव है वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है जिससे कि तू कहता है कि यह पद्गलद्रव्य मेरा है? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और जीवत्व को प्राप्त करे तो तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता)

टीका—एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभाव भावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्ण वाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है, अत्यन्त तिरोभूत (ढंके हुए) अपने स्वभाव भावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है ऐसा है, और महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं स्वत: ही विमोहित है—ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्वपर का भेद न करके, उन अस्वभाव भावों को ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ, पुद्गल द्रव्य को 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिक पाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेकवर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निज श्वेत-निर्मल भाव दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है—दिखाई नहीं देता इसलिए पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि—रे दुरात्मन्! आत्मघात करने वाले! जैसे परम अविवेकपूर्वक खाने वाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृण सहित खा जाते हैं, उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़। जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञज्ञान से स्फुट (प्रगट किये गये जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'?) क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक के पानी' इस प्रकार के अनुभव की भांति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.5 नय स्वरूप एवं भेद

5.5.1 तीर्थंकर की स्तुति

अब अप्रतिबुद्ध जीव प्रश्न करता है कि—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।26।।

गाथार्थ—अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सभी मिथ्या है इसलिये हम समझते हैं कि जो आत्मा है, वह देह ही है।

टीका—जो आत्मा है, वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभाग को नहीं जानता। जो नयविभाग इस प्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते हैं—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।27।।

गाथार्थ—व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

टीका—जैसे इस लोक में सोने और चांदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है। उसी प्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से देखा जाये तो, जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने और चांदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसलिए अनेकत्व ही है, इसी प्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि है इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहार-नय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

इसी बात को पुनः इस गाथा में कहते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।28।।

गाथार्थ—जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके साधु ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की।

टीका—जैसे, परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, फिर भी चांदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है। यह व्यवहार मात्र से ही कहा जाता है; इसी प्रकार, परमार्थ से शुक्ल-रक्तता तीर्थंकर-केवली पुरुष का स्वभाव न होने पर भी, शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं। उसके स्तवन से तीर्थंकर-केवली पुरुष का 'शुक्ल-रक्त तीर्थंकर केवली पुरुष' के रूप में स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है। किन्तु निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता।

ऊपर की बात को गाथा में कहते हैं—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।29।।

गाथार्थ—वह निश्चय में योग्य नहीं है क्योंकि शरीर के गुण केवली के नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टीका—जैसे चांदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है इसलिये निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसी प्रकार शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर केवलीपुरुष में अभाव है इसलिये निश्चय से शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता है, तीर्थंकर-केवली पुरुष के गुणों का स्तवन करने से ही तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन होता है। अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नहीं है? उसके उत्तररूप दृष्टान्त सहित गाथा कहते हैं—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।30।।

गाथार्थ—जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं किया जाता, इसी प्रकार शरीर के गुण का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

टीका—इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी उससे राजा का वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है।

5.5.2 जितेन्द्रिय का स्वरूप

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू।।31।।

गाथार्थ—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

टीका—(जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को—तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापार भाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खंड-खंड रूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहकलक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आने वाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उन रूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप—ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायक-स्वरूप स्वयं आत्मा का—दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एकसा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेयज्ञायक—संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहां जानना।)

अब, भाव्यभावक—संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.5.3 जितेन्द्रिय की निर्दोष स्तुति

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।32।।

गाथार्थ—जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के जानने वाला जितमोह कहते हैं।

टीका—मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदय रूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य, उसको भेदज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से इस प्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक—संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होने वाले सर्व अन्य भावों से परमार्थत: भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूप से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनाशी, अपने से ही सिद्ध और परमार्थ रूप ऐसा ज्ञानस्वभाव है

इस प्रकार भाव्यभावक भाव के संकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यान रूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन—इन पांच के सूत्रों को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इस प्रकार सोलह सूत्रों को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

अब, भाव्यभावक भाव के अभाव से निश्चयस्तुति बतलाते हैं—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।33।।

गाथार्थ—जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो तब निश्चय के जानने वाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते हैं।

टीका—इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभाव भाव की भावना का भलीभांति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो—इस प्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभाव रूप भाव्यभाव का अभाव होता है, और इस प्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व होने से टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। यह तीसरी निश्चय स्तुति है।

यहां भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इस प्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

5.5.4 आत्मा में अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग)

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।34।।

गाथार्थ—जिससे अपने 'अतिरिक्त सर्व पदार्थों को' पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियम से जानना। अपने ज्ञान में त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

टीका—यह भगवान् ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होने वाले अन्य समस्त परभावों को, उनके अपने स्वभाव भाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर, त्याग देता है; इसलिए जो पहले जानता है वही बाद में त्याग करता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, अन्य तो कोई त्याग करने वाला नहीं है—इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा अनुभव करना चाहिए। अब यहां यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तर में दृष्टान्त-दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी।।35।।

गाथार्थ—जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर परवस्तु का त्याग करता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'यह परभाव है' ऐसा जानकर उनको छोड़ देता है।

टीका—जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (यह वस्त्र दूसरे का है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे', तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र के) सर्व चिह्नों से भलीभांति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसी प्रकार—ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्री गुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है (अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं)', तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-पर के) चिह्नों से भलीभांति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

5.5.5 भेदज्ञान की प्रक्रिया

अब, 'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव—मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं।

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।36।।

गाथार्थ—जो यह जाने कि 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है एक उपयोग ही मैं हूँ, ऐसे जानने को सिद्धान्त के अथवा स्वपर स्वरूप के जानने वाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं।

टीका—निश्चय से (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होने वाले पुद्गल द्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव भाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है। और यहां स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभाव भाव के द्वारा, भगवान् आत्मा ही जानता है कि—परमार्थ से मैं एक हूँ इसलिए, यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाहका (एकक्षेत्रावगाहका) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़, श्रीखंड की भांति, एकमेक हो रहे हैं तथापि, श्रीखंड की भांति, स्पष्ट अनुभव में आने वाले स्वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलाने से श्रीखंड बनता है उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगट रूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाने हैं; इसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक है वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है।) इस प्रकार भावकभाव जो मोह का उदय उससे भेदज्ञान हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया बेंति।।37।।

गाथार्थ—यह जाने कि, यह धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं लगते, एक उपयोग ही मैं हूँ ऐसा जानने को सिद्धान्त के अथवा स्व पर के स्वरूप रूप समय के जानने वाले धर्म द्रव्य के प्रति निर्ममत्व जानते हैं, कहते हैं।

टीका—अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है, ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों—ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते)। और यहां स्वयमेव (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिए ज्ञेयज्ञायक भावमात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता)। इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।

5.5.6 आत्मस्वरूप का संचेतन

अब, इस प्रकार दर्शनज्ञान चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है, यह कहते हैं आचार्य इस कथन को समेटते हैं—

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।38।।

गाथार्थ—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

टीका—जो, अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे इस न्याय से, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि—मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं, उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता इसलिए मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ इसलिए परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इस प्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इस प्रकार प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोइ भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझ रूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर पुनः अंकुरित न हो इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6 जीव–अजीव अधिकार

5.6.1 जीव–अजीव की एकरूपता

अप्पाणमयाणं ता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।39।।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।40।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।41।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।।42।।

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।43।।

गाथार्थ—आत्मा को न जानते हुए पर को आत्मा कहने वाले कोई मूढ़, मोही, अज्ञानी तो अध्यवसान को और कोई कर्म को जीव कहते हैं। अन्य कोई अध्यवसानों में तीव्रमंद अनुभागगत को जीव मानते हैं और दूसरे कोई नो कर्म को जीव मानते हैं, अन्य कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं, जो तीव्रमंदता रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है, वह जीव है। इस प्रकार; कर्म के अनुभाग को जीव इच्छते हैं (मानते हैं)। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुओं को ही जीव मानते हैं और अन्य कोई कर्म के संयोग से ही जीव मानते हैं। इस प्रकार के तथा अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि–मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं। उन्हें निश्चयवादियों ने (सत्यार्थवादियों ने) परमार्थवादी (सत्यार्थ वक्ता) नहीं कहा है।

टीका—इस जगत् में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जानने वाले बहुत से अज्ञानी जन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग–द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राय युक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है, क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता।।1।। कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है, ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उस रूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।।2।। कोई कहते हैं कि तीव्र–मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरंत (जिसका अन्त दूर है ऐसा), रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।।3।। कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।।4।। कोई यह कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्यपाप रूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।।5।। कोई कहते हैं कि साता–असाता–रूप से व्याप्त समस्त तीव्रमन्दत्वगुणों से भेदरूप होने वाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख–दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।।6।। कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भांति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता।।7।। कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूत क्रिया में) समर्थ ऐसा जो कर्म का संयोग वह ही जीव है, क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता। (आठ लकड़ियां मिलकर पलंग बना तब वह अर्थक्रिया में समर्थ हुआ; इसी प्रकार यहां भी जानना)।।8।। इस प्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे–ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि (विविध प्रकार से) पर को आत्मा कहते हैं; परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं, सो कहते हैं—

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।44।।

गाथार्थ—यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि भाव हैं वे सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं इस प्रकार केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उन्हें जीव ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

टीका—यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखने वाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवों के द्वारा, पुद्गल द्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादिक को जीव कहते हैं वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है—स्वयमेव उत्पन्न हुए रागद्वेष के द्वारा मलिन अध्यवसान है वे जीव नहीं हैं, क्योंकि, कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भांति; अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेद-ज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।।1।। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभाव रूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलम्भमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।2।। तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होने पर, दुरंत राग-रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संतति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलम्भमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।3।। नई पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं हैं, क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।4।। समस्त जगत् को पुण्यपापरूप से व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य पृथक् चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलम्भमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।5।। साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रमंदतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होने वाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।6।। श्रीखण्ड की भांति उभयात्मक रूप से मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभाव रूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।7।। अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से (पलंग से) भिन्न पलंग पर सोने वाले पुरुष की भांति, कर्म-संयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।8।। (इसी प्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाये तो वहां भी यही युक्ति जानना।)

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावों को जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा; तो यह भाव भी कथंचित् चैतन्य के साथ ही सम्बन्ध रखने वाले प्रतिभासित होते हैं, (वे चैतन्य के अतिरिक्त जड़ के तो दिखाई नहीं देते), तथापि उन्हें पुद्गल के स्वभाव क्यों कहा? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्व पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फल तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।45।।

गाथार्थ—आठों प्रकार का कर्म सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं जो पक्व होकर उदय में आने वाले कर्म का फल प्रसिद्ध दुःख है ऐसा कहा है।

टीका—अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करने वाला जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है, वह सभी पुद्गलमय है, ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फल रूप से जो कहा जाता है, वह (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलता लक्षण-सुख नामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है, इसलिए दुःख है। उस दुःख में ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिये, यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6.2 अध्यवसानादि भावों में जीवत्व की सिद्धि (व्यवहारनय की सार्थकता)

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीव रूप क्यों कहा गया है? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।46।।

गाथार्थ—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने जो उपदेश दिया है सो व्यवहारनय दिखाता है।

टीका—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छों की म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने—कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थ के द्वारा जीव रागद्वेष मोह से भिन्न बताया जाने पर भी रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है, उसे छुड़ाना—इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा। (इस प्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाए तो बन्ध मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।)

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीव रूप क्यों कहा गया है? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।47।।

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।48।।

गाथार्थ—जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहाँ यह राजा निकला, इस प्रकार जो यह सेना के समुदाय को कहा जाता है सो वह व्यवहार से कहा जाता है उस सेना में (वास्तव में) राजा तो एक ही निकला है इसी प्रकार अध्यवसानादि अन्य भावों को '(यह) जीव है' इस प्रकार परमागम में कहा है सो व्यवहार किया है यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें जीव तो एक ही है।

टीका—जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है सो यह व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है, क्योंकि एक राजा का पांच योजन में फैलना अशक्य है; परमार्थ से तो राजा एक ही है (सेना राजा नहीं है); उसी प्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम में (राग के स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है, ऐसा कहना वह, व्यवहारीजनों का अध्यवसानादिक भावों में जीव कहने का व्यवहार है, क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थ से तो जीव एक ही है (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं)।

5.6.3 परमार्थस्वरूप जीव का लक्षण

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है? उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।49।।

गाथार्थ—हे भव्य! तू जीव को रसरहित रूपरहित गन्धरहित अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा चेतना जिसका गुण है, ऐसा शब्दरहित किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला और, जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा जान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टीका—जीव निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न है इसलिये उसमें रसगुण विद्यमान नही है अत: वह अरस है।।1।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है इसलिये अरस है।।2।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता अत: अरस है।।3।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है।।4।। समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदनापरिणाम को पाकर रस नहीं चखता इसलिये अरस है।। 5।। (उसे समस्त ज्ञोयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञोयज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता इसलिये अरस है।।6।। इस प्रकार छइ तरह के रस के निषेध से वह अरस है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अरूप है।।1।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है इसलिये अरूप है।।2।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है।।3।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है।।4।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदना परिणाम को प्राप्त होकर रूप नही देखता इसलिये अरूप है।।5।। (उसे समस्त ज्ञोयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रूपरूप से नहीं परिणमता इसलिये अरूप है।।6।। इस तरह छह प्रकार के रूप के निषेध से वह अरूप है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें गंधगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अगंध है।।1।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी गंधगुण नहीं है इसलिये अगंध है।।2।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता इसलिये अगंध है।।3।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता अत: अगंध है।।4।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणाम उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गंधवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर गंध नही सूंघता अत: अगंध है।।5।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गंध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं गंध रूप नहीं परिणमता अत: अगंध है।।6।। इस तरह छह प्रकार से गंध के निषेध से वह अगंध है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गल द्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है अत: अशब्द है।।1।। पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है अत: अशब्द है।।2।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।।3।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।।4।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदना परिणाम को प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।।5।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञोयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप नहीं परिणमता अत: अशब्द है।।6।। इस तरह छह प्रकार से शब्द के निषेध से वह अशब्द है।

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषण को समझाते हैं—) पुद्गलद्रव्यरचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थान वाला नही कहा जा सकता इसलिए जीव अनिर्दिष्ट संस्थान है।।1।। अपने नियत स्वभाव से अनियत संस्थान वाले अनन्त शरीर में रहता है इसलिये अनिर्दिष्ट संस्थान है।।2।। संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्ट-संस्थान है।।3।। भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है। ऐसा होने से स्वयं अत्यन्त रूप से संस्थान रहित है, इसलिये अनिर्दिष्ट संस्थान है।।4।। इस प्रकार चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय हैं और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है।।1।। कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है।।2।। चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियां निमग्न (अन्तर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है।।3।। क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है।।4।। व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रित रूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है।।5।। स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीन रूप से प्रकाशमान है, इसलिये अव्यक्त है।।6।। इस प्रकार छह हेतुओं से अव्यक्तता सिद्ध की है।

इस प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचर मात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अपने अनुभव में आने वाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतनागुण वाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्य प्रकार से मानने रूप झगड़ों को) नाश करने वाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानो अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो इस प्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूप-सौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूपों में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इस प्रकार) सर्व काल में किंचित् मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेश मात्र भी नहीं चलित अन्य द्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है।

ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है, ऐसा यह भगवान इस लोक में एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है। ऐसे इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।50।।

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णेकम्मं चावि से णत्थि।।51।।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागणाठाणि।।52।।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।53।।

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।54।।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा।।55।।

गाथार्थ—जीव के वर्ण नहीं, गंध भी नहीं, रस भी नहीं और स्पर्श भी नहीं, रूप भी नहीं, शरीर भी नहीं, संस्थान भी नहीं, संहनन भी नहीं, जीव के राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं, मोह भी विद्यमान नहीं, प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, कर्म भी नहीं और नोकर्म भी उसके नहीं है जीव के, वर्ग नहीं वर्गणा नहीं, कोई स्पर्धक भी नहीं, अध्यात्मस्थान भी नहीं और अनुभागस्थान भी नहीं, कोई मार्गणा स्थान भी नहीं है। जीव के स्थितिबंधस्थान भी नहीं अथवा संक्लेशस्थान भी नहीं, विशुद्धिस्थान भी नहीं अथवा संयमिलब्धिस्थान भी नहीं हैं और जीव के जीवस्थान भी नहीं अथवा गुणस्थान भी नहीं हैं क्योंकि यह सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

टीका—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।1।। जो सुगन्ध और दुर्गंध है वह सर्व ही जीव की नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।।2।। जो कड़ुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है वह सर्व ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।3।। जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।4।। जो स्पर्शादि सामान्य-परिणाममात्र रूप है, वह जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।5।। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।6।। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।7।। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कोलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।8।। जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल-परिणाममय है इसलिये (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।9।। जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।10।। जो यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।11।। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।12।। जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।13।। जो छह पर्याप्ति योग्य और तीन शरीर-योग्य वस्तु (पुद्गलस्कंध) रूप नोकर्म है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।14।। जो कर्म के रस की शक्तियों का (अर्थात् अविभाग प्रतिच्छेदों का) समूह रूप वर्ग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।15।। जो वर्गों का समूह रूप वर्गणा है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।16।। जो मन्द-तीव्र रस वाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गज्ञा के समूह रूप) स्पर्धक हैं वह सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।17।। स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न रूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।18।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो अनुभाग स्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।19।। काय, वचन और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।20।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्ध-स्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।21।। अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।22।। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।23।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक मर्यादा तक कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्ध स्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।24।। कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है, ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।25।। कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।26।। चारित्र मोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे जो संयम लब्धि स्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।27।। पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादरसूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।28।। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण—उपशमक तथा क्षपक,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनिवृत्तिबादर-सांपराय-उपशमक तथा क्षपक; सूक्ष्म सांपराय-उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।29।। (इस प्रकार ये समस्त ही पुद्गल द्रव्य के परिणाममय भाव हैं; वे सब, जीव के नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।)

5.6.4 वर्णादि भावों को जीव के कहने का कारण

ग्रंथों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं'? उसका उत्तर गाथा रूप में कहते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।56।।

गाथार्थ—यह वर्ण से लेकर गुण-स्थानपर्यंत जो भाव कहे गये वे व्यवहार नय से तो जीव के हैं (इसलिये सूत्र में कहे गये हैं) किन्तु निश्चयनय के मत में उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

टीका—यहां, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगा हुआ है, ऐसे वस्त्र के औपाधिक भाव (लाल रंग) की भांति, पुद्गल के संयोगवश अनादि काल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का आलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है; और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित् मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है। इसलिये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चय नय से जीव के नहीं हैं, ऐसा (भगवान् का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथा के रूप से कहते हैं—

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।57।।

गाथार्थ—इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है ऐसा जानना और वे उस जीव के नही हैं, क्योंकि जीव, उनसे उपयोग गुण से अधिक है (वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका—जैसे—जलमिश्रित दूध का, जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व—गुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से अधिकपने से प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य स्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होने से, निश्चय से जल दूध का नही है; इस प्रकार—वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का, पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चय से वर्णादिक पुद्गल परिणाम आत्मा के नहीं हैं।

5.6.5 निश्चय-व्यवहार नय के कथन की सार्थकता

अब यहां प्रश्न होता है कि इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।58।।

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।59।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।60।।

गाथार्थ—जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर यह मार्ग लुटता है, इस प्रकार व्यवहारीजन कहते हैं; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो कोई मार्ग तो नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है इसी प्रकार जीव में कर्मों का और नोकर्मों का वर्ण देखकर जीव का यह वर्ण है, इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से कहा है, इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श रूप देह, संस्थान आदि जो सब हैं वे सब व्यवहार से निश्चय के देखने वाले कहते हैं।

टीका—जैसे व्यवहारी जन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके, 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चय से देखा जाये तो, जो आकाश के अमुक भाग स्वरूप है, वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता; इसी प्रकार भगवान अरहन्तदेव, जीव में बन्ध पर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके, 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—यह सब ही (भाव) व्यवहार से अरहन्त भगवान जीव के कहते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त्त स्वभाव है और जो उपयोग गुण के द्वारा अन्य से अधिक है, ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादिक भावों के और जीव के तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध का अभाव है। अब यहां प्रश्न होता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।61।।

गाथार्थ—जो वर्णादिक हैं वे संसार में स्थित जीवों के उस संसार में होते हैं और संसार से मुक्त हुए जीवों के निश्चय से वर्णादिक कोई भी (भाव) नहीं हैं (इसलिये तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हैं)।

टीका—जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिस-स्वरूप से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस-स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है।) इसलिये सभी अवस्थाओं में जो वर्णादि स्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता ऐसे पुद्गल का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है और यद्यपि संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादि स्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादि स्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता तथापि मोक्ष अवस्था में जो सर्वथा वर्णादि स्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादि स्वरूपता से व्याप्त नही होता ऐसे जीव का वर्णादि भावों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नहीं है।

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है, जो उसमें यह दोष आता है, ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।62।।

गाथार्थ—वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य मानने वाले को कहते हैं कि—हे मिथ्या अभिप्राय वाले! यदि तुम ऐसे मानोगे कि यह वर्णादिक सर्व भाव जीव ही हैं तो तुम्हारे मत में जीव और अजीव का कोई भेद नहीं रहता।

टीका—जैसे वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गल द्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं—विस्तारते हैं, इसी प्रकार वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव, और तिरोभाव को प्राप्त होती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं—ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके मत में, अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है इसलिये जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसंग आता है, और ऐसा होने से, पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

अब, 'मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य है' इस अभिप्राय में भी यही दोष आता है सो कहते हैं—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।63।।

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।64।।

गाथार्थ—अथवा यदि तुम्हारा मत यह हो कि संसार में स्थित जीवों के ही वर्णादिक (तादात्म्य स्वरूप से) हैं तो इस कारण से संसार में स्थित जीव रूपित्व को प्राप्त हुये ऐसा होने से वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से हे मूढ़बुद्धि! पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया और (मात्र संसार अवस्था में ही नहीं किन्तु) निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ।

टीका—फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि—संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है; और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसा लक्षण है। इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्य रूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है। रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर मोक्ष—अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को न प्राप्त होने से अनादि-अनन्त होता है। ऐसा होने से, उसके मत में भी (संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य मानने वाले के मत में भी), पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैं—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णायकम्मस्स।।65।।

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।66।।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त जीव, यह नाम कर्म की प्रकृतियां हैं, इन प्रकृतियों, जो कि पुद्गलमय रूप से प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा करणस्वरूप होकर रचित जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं?

टीका—निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है (होता है) वह वही है—यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है, इसी प्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है तथा अनुमान से भी जानी जा सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य हैं इसलिये कर्मप्रकृतियां पुद्गलमय हैं ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसलिये वर्णादिक जीव नहीं हैं यह निश्चय नय का सिद्धान्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6.6 वर्णादि को जीव कहना—व्यवहार

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है उसे जीव कहना सो सब व्यवहार मात्र है—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।67।।

गाथार्थ—जो पर्याप्त, अपर्याप्त सूक्ष्म और बादर आदि जितनी देह की जीव-संज्ञा कही हैं वे सब सूत्र में व्यवहार से कही हैं।

टीका—बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त—इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञा रूप से कहा है, वह, पर की प्रसिद्धि के कारण, 'घी के घड़े' की भांति व्यवहार है—कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं—

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो, उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घी मय नहीं'' इस प्रकार (समझाने वाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए (शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ''जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं'' इसप्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादि मानपने का व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।)

5.7 सारांश

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादि भाव जीव नहीं हैं यह सिद्ध हुआ उसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं)—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।68।।

गाथार्थ—जो यह गुणस्थान हैं वे मोहकर्म के उदय से होते हैं ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) वर्णन किया गया है वे जीव कैसे हो सकते हैं कि जो सदा अचेतन कहे गये हैं?

टीका—ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, कारण जैसा ही कार्य होता है, ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर) जौ पूर्वक होने वाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं। इसी न्याय से, वे पुद्गल ही हैं—जीव नहीं। और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है तथा चैतन्य स्वभाव से व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही हैं—जीव नहीं ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

5.8 अभ्यास प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'समय' शब्द से क्या तात्पर्य है? समझाइये।
2. 'स्वसमय-परसमय' का भेद स्पष्ट कीजिये।
3. 'शुद्धात्मा' के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
4. व्यवहारनय की उपयोगिता बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. श्रुतकेवली का स्वरूप क्या है? लिखिए।
6. सम्यग्दृष्टि किस नय को प्रधानता देता है, उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
7. भूतार्थ-अभूतार्थ से क्या तात्पर्य है?
8. शुद्धनय की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप बताइये।
9. अप्रतिबुद्ध की क्या पहचान है? ग्रंथानुसार स्पष्ट करें।
10. तीर्थंकर की स्तुति किस नय से करना उपयुक्त है? सतर्क स्पष्ट करें।
11. जितेन्द्रिय अथवा जितमोह का क्या स्वरूप है? लिखिए।
12. मोह-निर्ममत्व एवं धर्म-निर्ममत्व किसे कहते हैं? दोनों में अन्तर स्पष्ट करें।
13. जीव के अध्यवसानादि भाव किस नय से संगत हैं? सोदाहरण बताइये।
14. परमार्थ दृष्टि से जीव का स्वरूप लिखिए।
15. ''निश्चय नय से जीव के वर्णादि का निषेध'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यवहारनय एवं निश्चयनय का सामंजस्य साधना में किस प्रकार संभव है, ग्रंथानुसार वर्णन करें।
2. निश्चयनय से आत्मा के स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. व्यवहारनय से आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
4. जीव के स्वरूप के विषय में अन्य वादियों के विचारों की समीक्षा कीजिए।
5. वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य मानने पर कौन-कौन से दोष उद्भावित होते हैं? समीक्षात्मक वर्णन प्रस्तुत करें।
6. समयसार का परिचय देते हुए उसकी विषय-वस्तु पर विस्तृत प्रकाश डालें।
7. 'अहमेक्कोखलुसुद्धो'
   उपर्युक्त पद की व्याख्या करते हुए आत्मा के निज वैभव को बताइये।

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ

- समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, प्रकाशक—पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।

संकलनकर्त्ता—योगेश कुमार जैन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun